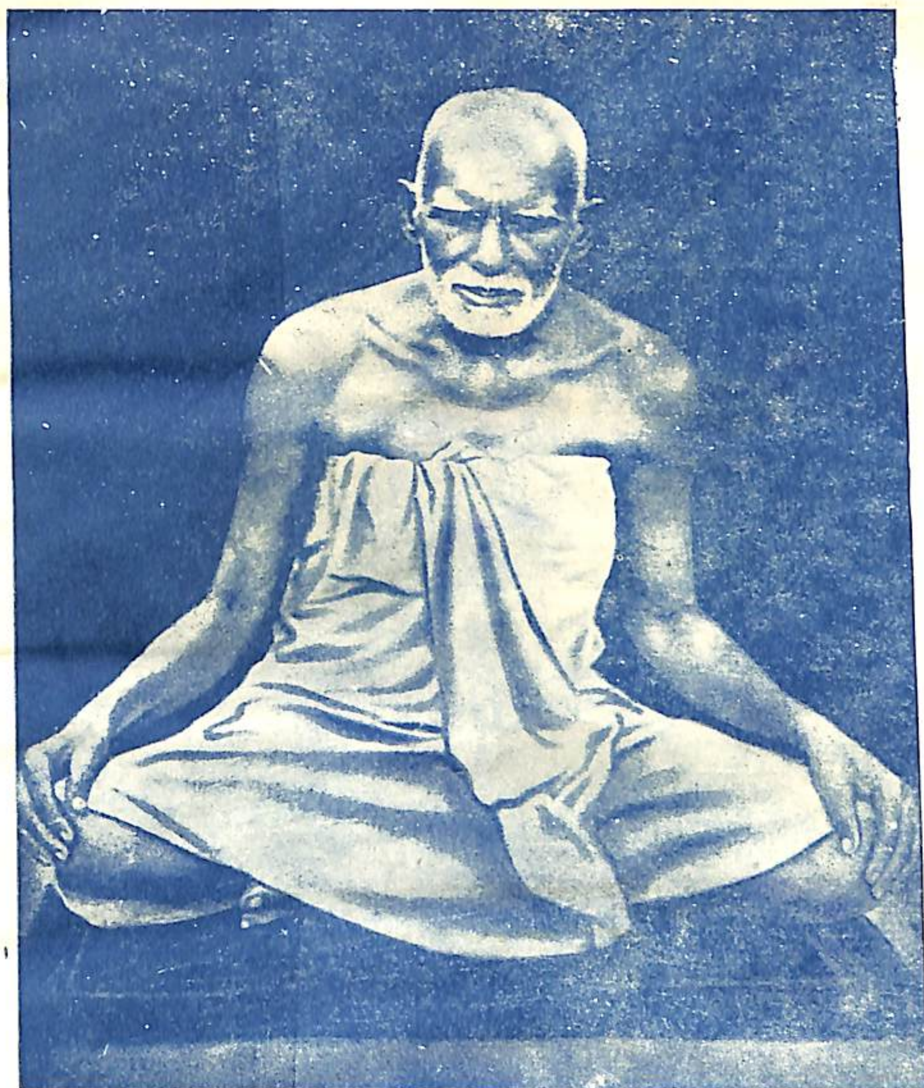
सर्वदानंद-विश्व-ग्रन्थमाला

Sarvadanand Universal Series

स्मारक



स्वर्गत स्वामी सर्वदानंद जी

संपादक—

विश्वबन्धु शास्त्री, ऍम. ए., ऍम. ओ. ऍल., ओ. द.'अ.

ग्रन्थ १

Volume I

साहित्यिक परामर्श-समिति—



प्रकाशक,
विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान
मुद्रण व प्रकाशन मंडल,
साधु आश्रम, होश्यारपुर

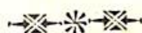
सर्वदानंद-विश्व-ग्रन्थमाला—१

S. Universal Series—1



ब्रह्म-विद्या

(सब विद्याओं की परम प्रतिष्ठा)



लेखक



स्वामी कृष्णानंद सरस्वती, बी. ए., बी. टी.

विश्वेश्वरानंद मुद्रण व प्रकाशन मंडल, होश्यारपुर ।

संस्करण १;　　सं. २००७ (1950);　　छः रुपये (Rs. 6-0-0)



मुद्रक व प्रकाशक—
देवदत्त शास्त्री, वि. वा., वि. भा.,
अध्यक्ष, वि. वै. शो. सं. मुद्रण व प्रकाशन मंडल,
साधु-आश्रम, होश्यारपुर ।





आर्थिक सहायता

महामान्य शाहपुराधीश, श्री उम्मेदसिंह जी विश्वेश्वरानंद संस्थान के सदस्य व सहायक हैं। आप के हृदय में भारतीय संस्कृति व साहित्य के प्रति भक्ति का भाव भरा है। संस्थान को आप से विशेष आर्थिक सहायता मिली है, जिस से यह विश्व-भद्र प्रकाशन-यज्ञ पूर्ण हुआ है। इस के द्वारा आप की पुण्य-कीर्ति सदा बढ़ती रहे।



शाहपुराधीश, श्री उम्मेदसिंह जी

विश्वेश्वरानन्द मुद्रण व प्रकाशन मण्डल, होशियारपुर

संपादकीय

१. माला-नायक का परिचय—

स्वर्गीय श्री स्वामी *सर्वदानंद* जी महाराज, जिनका पहला घर का नाम श्री चंदुलाल था, का जन्म पंजाब के होश्यारपुर नगर के दक्षिण में कोई पांच कोस पर बसे हुए, *बड़ी बसी* नाम के उपनगर में सं. १९१६ में हुआ था। आपके पूर्वजों में अनेक उच्च कोटि के वैद्य और योग्य विद्वान् हो चुके थे। आपके दादा श्री सवाईराम *काश्मीर* के थे। परन्तु वह बाल्य-अवस्था में ही *बड़ी बसी* के इस कुल में आ कर इसी के हो गए थे। आपकी आरम्भिक शिक्षा अपने यहां से बारह कोस पर *हरियाना* उपनगर के वर्नैकुलर मिडल स्कूल में हुई थी। आप में छोटी अवस्था से ही धार्मिक रुचि तथा साधु-सन्तों के सत्संग में प्रीति पाई जाती थी। इसी लिए जब गृहस्थ हो जाने के कुछ समय पीछे आपकी गृहिणी प्रसूता होकर बीत गई, तब फिर आप अधिक चिर तक घर पर नहीं रहे और विरक्त अवस्था में विचरने लग गए। सं. १९५३ के लगभग आपको भारतीय नव-युग के प्रथम प्रवर्तक, श्री स्वामी *दयानन्द* जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ, *सत्यार्थ-प्रकाश* के पाठ का सुअवसर मिला। इससे आप में लोक-सेवा का तीव्र भाव जाग उठा। तभी से आपने स्थिर-मति होकर, सद्विचार और निष्काम कर्म के सुन्दर, समन्वित मार्ग को धारण किया और सं. १९९९ में निर्वाण-पद की प्राप्ति तक, अर्थात् ४६ वर्ष बराबर उसे निबाहा। आप पवित्रता व सरलता की मूर्ति, राग-द्वेष से विमुक्त, दरिद्र-नारायण के उपासक और खरी-खरी अनुभव की बातें सुनाने वाले सदा-हँस परम-हंस थे। आप सदा सभी के बनकर रहे और कभी किसी दल-बंदी में नहीं पड़े। आप जहां अच्छा कार्य होता देखते थे, वहीं अपनी प्रीति-निर्झरी प्रवाहित कर देते थे।

२. 'स्मारक' का इतिहास—

श्री स्वामी जी महाराज *विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान* के आदिम *ट्रस्टियों* तथा *कार्यकारी सदस्यों* में से थे और आपने आजीवन इसे अपने आशीर्वाद का पात्र बनाए रखा। आपका देहान्त हो जाने पर *संस्थान* ने यह निश्चय किया कि एक स्थिर *साहित्य-विभाग* के रूप में आपका *स्मारक* स्थापित किया जावे। उक्त विभाग सरल, स्थायी, सार्वजनिक साहित्य प्रकाशित करे और उसके द्वारा, आप के जीवन के ऊँचे व्यापक आदर्शों को स्मरण कराता हुआ, जनता-जनार्दन की सेवा में लगा रहे। इस पवित्र कार्य के लिए जनता ने साठ हजार रुपये से ऊपर प्रदान करते हुए अपनी श्रद्धा प्रकट की। परन्तु यह कार्य यहां तक पहुँचा ही था, कि हमारा प्रदेश पाकिस्तानी आग की लपेट में आ गया, सारी भारत-मातृक जनता के साथ ही *संस्थान* भी

लाहौर को छोड़ने के लिए विवश हो गया। उसी गड़बड़ में इसे पांच लाख रुपये की भारी हानि भी सहनी पड़ी। तभी से यह अपने पाँव, नये सिरे से, जमाने में लगा हुआ है। पुनः प्रतिष्ठा नव-विधान से भी कहीं कड़ी होती है। इसी लिए यह अभी तक अपनी स्थिति को पूरी तरह संभाल नहीं पाया। परन्तु समीपवर्ती हरिद्वार कुम्भ के महापर्व ने सिर पर आकर, मानो ऐसी चेतावनी दी है कि और कार्य तो भले ही कुछ देर से भी हो जावे, परन्तु यह *स्मारक* का चिरसंकलिपत कार्य इस शुभ अवसर पर अवश्य आरम्भ हो जाना चाहिए। इस *माला* का जैसे-कैसे किया गया यह प्रारम्भ उसी चेतावनी का फल है। इस प्रारम्भ में, निश्चय ही, अनेक दोष रह रहे हैं, पर इसमें हमारी वर्तमान भीड़ा का ही विशेष अपराध है। अवश्य, समय पाकर, यह कार्य हमारी हार्दिक श्रद्धा के अनुरूप हो सकेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

३. माला का क्षेत्र—

विश्व भर का विश्व-विध विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला और अनुभव ही इस *माला* का विशालतम क्षेत्र होगा। पर, फिर भी, क्षमता की सीमा को दृष्टि में रखत हुए, हमारे प्रकाशनों की मुख्य भाषा हिन्दी रहेगी, और इनका मुख्य आधार भारतीय संस्कृति और साहित्य होगा। इनमें अपने पूर्वजों की दाय-रूप सामग्री की व्याख्याओं के साथ ही साथ नई रचनाओं को भी पर्याप्त प्रवेश मिलेगा। इसी प्रकार, इनमें देश, विदेश की उत्तम रचनाओं के उत्तम अनुवादों आदि का भी विशेष स्थान रहेगा।

४. परामर्श-समिति—

इस 'माला' के क्षेत्र की विशालता और विविधता को देखते हुए ही इसके सम्पादन कार्य में आवश्यक परामर्श की प्राप्ति द्वारा इस विश्व-हितकारी कार्य को सफल बनाने के भाव से 'परामर्श समिति' की योजना की गई है। देश के भिन्न-भिन्न भागों के प्रसिद्ध सिद्धहस्त साहित्य-सेवियों ने इस 'समिति' की 'सदस्यता' स्वीकार की है—यह बात, अवश्य, इस कार्य के गौरव का प्रमाण, और, साथ ही इसके भावी विकास की अग्रिम सूचना समझनी चाहिए।

५. उपस्थित ग्रन्थ—

स्वर्गीय योगिराज स्वामी *सियाराम* जी ऍम्. ए. आध्यात्मिक मार्ग के सिद्ध-यात्री हुए हैं। हमें उनके सत्सङ्ग का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और इस बारे में हम उनके आजीवन ऋणी रहेंगे। उन की ही आध्यात्मिक संपदा के प्रमुख दायाद व प्रवर्धक, हमारे सुहृद्, श्री स्वामी कृष्णानन्द जी इस ग्रंथ के लेखक हैं। आप कोई तीस वर्ष पहले दयानन्द हाई स्कूल, *चकवाल* (जेहलम) के मुख्याध्यापक बने थे। परंतु, शीघ्र ही, आपने आध्यात्मिक लटक की तीव्रतावश उस पद को छोड़ दिया। तभी से आप

ज्ञान, ध्यान व साधन में ही निरंतर लगे हुए हैं। अतः यह अतीव उचित घटना घटी है कि इस संत-स्मारक 'माला' का प्रारम्भ आपके चिर-प्रतिष्ठित अभ्यास व परिपक्व अनुभव के फलस्वरूप इस ग्रंथ से होता है।

६. आभार-प्रकाशन—

श्री *देवदत्त* शास्त्री व श्री *ब्रह्मदत्त* वेदतीर्थ ने संपादन-कार्य में, विशेषतः, सूचियों के निर्माण द्वारा हमारी बड़ी सहायता की है। सामान्य पदार्थ-सूची एक हिन्दी प्रकाशन के लिए नई, परन्तु पाठकों की दृष्टि से अत्यन्त उपयोग की वस्तु है। उक्त विद्वानों ने तथा श्री *रामानंद* शास्त्री, श्री *पीताम्बर* दत्त शास्त्री व श्री *शिवप्रसाद* शास्त्री ने प्रूफ शुद्ध करने में पर्याप्त परिश्रम किया है। श्री *रेवतराम शर्मा* और छापा व जिल्द-बंदी विभाग के अन्य कर्मिष्ठों ने पुस्तक को शुद्ध व सुन्दर रूप में समय पर तैयार कर देने में विशेष प्रयत्न किया है। इस सराहनीय सहयोग के लिए हम इन सब का धन्यवाद करते हैं।

साधु-आश्रम, होश्यारपुर।
संवत्-प्रतिपदा, २००७

विश्वबंधु

ब्रह्म–विद्या

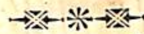
सर्वदानन्द विश्व-ग्रन्थमाला—१



श्री स्वामी सियाराम जी

विश्वेश्वरानन्द मुद्रण व प्रकाशन मण्डल, होशियारपुर

समर्पण



प्रातः स्मरणीय

पूज्यपाद परमहंस योगिराज श्री स्वामी **सियाराम जी**
महाराज के पवित्र चरणों में सादर समर्पण
करता हूँ, जिन के श्री चरणों में बैठ कर
मुझे आध्यात्मिक रहस्यों को
हृदयङ्गम करने का
सौभाग्य प्राप्त
हुआ है।

कृष्णानन्द

भूमिका

वर्तमान समय में तमोगुण का साम्राज्य है। परमात्मा, जीवात्मा, पुनर्जन्म, तथा कर्मादि, जिनका ज्ञान सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा नहीं हो सकता और जिनके ज्ञान का आधार वेदादि सत्-शास्त्र तथा ऋषि, मुनि, सन्तों के अनुभव हैं, में अश्रद्धा दिन प्रतिदिन बढ़ रही है। ऋषि मुनियों की पुण्यभूमि भारत में भी इस विषय में आस्तिकता शिथिल होती जाती है।

शास्त्रोक्त कर्म—यज्ञ, दान, तप, सर्वसाधारण धर्म—सत्य, अहिंसा आदि तथा निःश्रेयस के साधन—भक्ति आदि की सर्व सामान्य जन खुली अवहेलना करने लग गये हैं। यदि प्राचीन शास्त्रोक्त मनुष्य-जीवन के उद्देश्य तथा उसकी प्राप्ति के साधनों की चर्चा अथवा अनुष्ठान भी कुछ मात्रा में होता है, तो बहुधा यह केवल दिखावा मात्र है। इन से भी लौकिक प्रत्यक्ष हित—धन, मान आदि—की प्राप्ति पर ही दृष्टि रहती है। शास्त्रोक्त फल में श्रद्धा से प्रेरित होकर यज्ञ, पूजा, पठन, पाठन में शुद्ध प्रवृत्ति बहुत कम देखने में आती है। इतना होने पर भी इस पुण्य भूमि में अभी तक बचा खुचा शुद्ध सच्चा धर्म-भाव भी योग्यतानुसार पाया जाता है। कई संस्कारी, महाभाग्यशाली, सज्जन शुद्ध तथा दृढ़ भावना से परम लक्ष्य की सिद्धि द्वारा निज मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए भरसक प्रयत्न करते हैं। परन्तु कलियुग के प्रभाव से प्राचीन ऋषि मुनियों की शिक्षा अथवा साधन प्रणाली का लोप हो गया है। अतः प्रचलित प्रणालियां अधूरी, अपूर्ण तथा बहुधा एकांगी हो गयी हैं। किसी एक अंग का भी शास्त्रानुमोदित, शुद्ध, निर्मल तथा पूर्ण स्वरूप शेष नहीं रह गया। अतः सच्चे जिज्ञासु भी प्रायः अधूरे साधनों में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं और सफल मनोरथ नहीं होते। अथवा शास्त्रोक्त, तथ्य उद्देश्य को हृदयङ्गम न करके, यूं ही अपने आप को कृतकृत्य मान कर साधना को त्याग देते हैं और परम लक्ष्य से वञ्चित रह जाते हैं।

ऐसी विफलता का होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि किसी भी लौकिक अथवा पारलौकिक लक्ष्य की सिद्धि सर्वांगपूर्ण साधन द्वारा ही हो सकती है, अन्यथा कदापि नहीं। ऐसी स्थिति में तो साध्य और साधन का नामकरण तथा उनके सम्बन्ध का निर्देश ही नहीं हो सकता। कोई व्यवहार तथा द्रव्य किसी साध्य का साधन, उपाय या कारण तभी कहला सकता है, जबकि उस साधन के पूर्ण अनुष्ठान से साध्य की सिद्धि अवश्य हो जाए और निर्दिष्ट साधन के विना साध्य की सिद्धि कदापि न हो। साध्य और साधन में अविनाभाव सम्बंध रहता है। साधन के किसी एक अंग के अभाव अथवा अपूर्णता में विफलता अनिवार्य हो जाती है। यदि हलवा बनाना हो तो उसकी सिद्धि के लिए घृत, जल, आटा तथा शक्कर इन सब पदार्थों की आवश्यकता होती है। घृत मूल्यवान् वस्तु है, परन्तु घृत मनों के परिमाण में विद्यमान होने पर भी यदि किसी कारणवश जल का अभाव हो, तो हलवा तीन काल में भी नहीं बन सकता। केवल इन वस्तुओं का होना ही आवश्यक नहीं, प्रत्युत इन सब का उचित मात्रा में उपयोग भी आवश्यक है। यदि जल आदि कोई भी पदार्थ उचित मात्रा में न हो, तो भी हलवा नहीं बन सकता। बनाने की विधि आदि को भी पूर्णतया उपयोग में लाना होता है। कहीं भी न्यूनता हुई कि साध्य में पूर्णतया विफलता नहीं, तो अधूरापन तो निश्चित ही रह जाता है। औषध के बनाने और सेवन में तो

साधन, विधि, अनुपान आदि की पूर्णता का ध्यान रखना और भी आवश्यक प्रत्युत अनिवार्य होता है। किसी प्रयोग में पड़ने वाली भिन्न भिन्न ओषधियां एक दूसरे के दोष को दूर करतीं अथवा गुण को पूरा करने वाली होती हैं, इसलिए यदि उस प्रयोग में किसी एक ओषधि को न डाला जावे तो अमृत विष में परिवर्तित हो सकता है और रोगी मृत्यु का ग्रास बन सकता है। धातुओं के प्रयोग में तो यह भेद अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। आजकल आयुर्वैदिक ओषधियों के प्रभाव के न्यून होने में यही मुख्य कारण है कि ओषधियां शुद्ध तथा पुष्ट नहीं होतीं और न ही उन्हें विधि के अनुसार तैयार किया जाता है।

सच्चे जिज्ञासुओं की अध्यात्म-साधना के निष्फल होने का मुख्य कारण भी यही है कि प्राचीन परम्परा लोप हो चुकी है। आध्यात्मिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए भी अनेक साधनों की आवश्यकता होती है। साधक की स्थिति के भेद से भी साधन में भेद हो जाता है। किसी एक साधन के शुद्ध स्वरूप तथा फल के ज्ञान तथा तदनुसार अनुष्ठान करने की आवश्यकता होती है। भिन्न २ साधनों के परस्पर प्रभाव तथा उनकी उचित मर्यादा को भी ध्यान में रखना होता है, अन्यथा साधक, साधनों की अनभिज्ञता के कारण, उन्नति के स्थान में अवनति के कूप में गिर जाता है। यही कारण है कि कई साधनों का शास्त्र से अत्यन्त विपरीत फल देखने में आता है।

हठयोग का मुख्य लक्ष्य भी अन्य योगों के समान ही निःश्रेयस—मोक्ष—परमपद—की प्राप्ति है, परन्तु प्राण तथा षट्-चक्र भेदन की इसमें विशेषता है, क्योंकि इनका अन्नमय कोष पर शासन होता है। अतः प्राण के नियमन और षट्-चक्र के भेदन से असाध्य रोगों से भी मनुष्य मुक्त हो जाता है। आजकल हठयोग के मुख्य लक्ष्य को नहीं समझा जाता और आसन, प्राणायाम आदि केवल शारीरिक व्यायाम के रूप में किए कराए जाते हैं। इसके शारीरिक लाभ के कारण यह भ्रान्ति भी आजकल फैली हुई है कि हठयोग का एक मात्र उपयोग शारीरिक स्वास्थ्य के सम्पादन में ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हठयोग वीर्य-संरक्षण, वीर्य-दोषों (स्वप्नदोष आदि) की निवृत्ति तथा वीर्य को ओज में परिणत करने का अचूक साधन है। प्राचीन ऋषि मुनियों के पास इन्द्रिय-विजय रूपी प्रत्याहार को सिद्ध करने तथा ऊर्ध्वरेतस् बनने के लिए यह एक अमोघ साधन था। परन्तु एक विश्वसनीय महात्मा अपने परिचय के आधार पर एक ग्रन्थ में लिखते हैं कि जितने हठ योगी उनसे मिले हैं, वे अन्य कई रोगों के साथ साथ वीर्य-दोष रूपी रोग से भी पीड़ित थे। यह स्थिति कितनी भयानक तथा शोचनीय है। जिस साधन से मनुष्य वीर्य-दोष से मुक्त ही नहीं, प्रत्युत वीर्य के संरक्षण तथा इसकी ऊर्ध्वगति द्वारा वीर्य को ओज में परिवर्तित कर सकता है, और मन तथा बुद्धि को दिव्य बनाकर दिव्य पद को प्राप्त कर सकता है, वही साधन वीर्य-दोषों की उत्पत्ति का द्वार बन जाए। प्राचीन परम्पराओं के लोप हो जाने का ही यह सब कटु फल है कि ऋषि मुनियों से सेवित अमृत साधनाएं मृत्यु का रूप धारण कर रही हैं। इन्हीं कारणों से कई लोग हठयोग साधना को इस युग के लिए उपयुक्त नहीं समझते, किन्तु एक दृष्टि से तथ्य यह है कि आज के रजस् तथा तमोगुण प्रधान युग में शास्त्र प्रतिपादित हठयोग ही सर्वोत्तम साधन है, परन्तु परम्परागत शिक्षा के अभाव के कारण हम इसे अपना नहीं सकते।

कई लोग इस युग के लिए भक्ति आदि अन्य साधनों का विधान करते हैं। परन्तु

परम्परा के लोप हो जाने से तथा वर्तमान नास्तिकता के कारण प्रत्येक साधन की उपयुक्त मर्यादा, शास्त्र तथा ऋषि-मुनियों द्वारा अनुमोदित विधियों का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता है। अतः साधक इनका उल्लंघन कर जाते हैं और उन्नति के स्थान में अवनति के गढ़े में गिर पड़ते हैं। भक्ति जैसा सरल साधन भी इसके स्वरूप-भेद, अधिकार तथा अन्य सहकारी साधनों की अवहेलना आदि के कारण प्रायः बहुत कम सफल हो पाता है। कई सज्जन ईश्वरकृपा तथा प्रारब्ध का दुरुपयोग करके भक्ति आदि साधन रूपी पुरुषार्थ में प्रमाद करते हैं और कहते हैं कि ईश्वर की कृपा होगी, तभी यह साधन हो सकेगा। कई साधक भक्ति के अत्यन्त उपयोगी सहकारी वैराग्य आदि साधनों से उपेक्षा करते हुए नाम-जप करते रहते हैं। कई सामान्य व्यवहार में भी सत्य आदि की आवश्यकता को अनुभव नहीं करते। कई साधक वैराग्य को इतना महत्त्व दे देते हैं कि ईश्वर-भक्ति का साधन रूप से उपयोग भी उन्हें ठीक नहीं जंचता, यद्यपि सर्वसाधारण जिज्ञासु के लिए ईश्वर-भक्ति से प्राप्त होने वाली ईश्वर-कृपा तथा प्रसाद के बिना सांसारिक वासनाओं का विजय कर सकना असंभवप्राय ही है।

संसार के शोक, मोह की निवृत्ति तथा परमपद की प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म, विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शास्त्र तथा गुरु में अनन्य श्रद्धा, समाधान, मुमुक्षा, शास्त्र-श्रवण, मनन, निदिध्यासन, उपासना आदि अनेक साधनों का अपने अधिकार के अनुसार उचित मात्रा में अनुष्ठान करना अत्यन्त आवश्यक है। किसी एक ही साधन द्वारा तो क्या, किसी एक साधन की उपेक्षा कर देने के कारण भी अनन्तकाल तक साधारणतया सिद्धि नहीं हो सकती। परम्परा के लुप्त हो जाने के कारण किसी एक साधन को अपनाया तो जाता है, परन्तु अन्य सबकी अवहेलना तथा उपेक्षा की जाती है। इतना ही नहीं, उनका खण्डन भी किया जाता है। कई महानुभाव शास्त्र तथा गुरु में विश्वास तथा ईश्वर-उपासना को ही संसार के पतन, जनसमुदाय के बंधन, शोक, मोह और परस्पर संघर्ष का कारण समझते हैं। और कई गुरु धारण कर लेने मात्र से ही अपने आपको कृत-कृत्य मान लेते हैं। गुरु और शास्त्र के आदेश को समझने तथा अनुष्ठान करने के लिए अपनी बुद्धि को यत्किञ्चित् कष्ट देना भी ठीक नहीं समझते। गुरु, भक्ति तथा समर्पण के यथार्थ स्वरूप को न समझकर स्वयं नितान्त पुरुषार्थ से हीन हो जाते हैं। कहीं पर तो श्रद्धा का सर्वथा अभाव है और कहीं प्रमाद तथा विचार शून्यता का नाम ही श्रद्धा रखा जाता है। कहीं श्रद्धा को अर्धांगरोग हो गया है-- अर्थात् गुरु में श्रद्धा की जाती है और शास्त्र से उपेक्षा, अथवा शास्त्र में श्रद्धा कर गुरु से नितान्त उपेक्षा की जाती है। कहीं निष्काम कर्म, भक्ति तथा योग को ही बंधन का कारण समझा जाता है और अधिकार आदि का कुछ ध्यान किए बिना, जो मिला, उसके कान में 'सोऽहं' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' का मंत्र फूंक दिया जाता है। इसी मंत्र के कोरे तथा शुष्क जाप आदि से इस दुस्तर माया से पार हो जाने की आशा की जाती है। और कहीं निष्काम कर्म के अतिरिक्त अन्य सब साधनों को अज्ञानमूलक समझा जाता है। कहने का सार यही है कि उपर्युक्त भिन्न भिन्न सर्व साधनों का अधिकारोचित, उचित मात्रा में उपयोग नहीं किया जाता, अपि तु किसी एक को अपना कर शेष सब की अवहेलना की जाती है।

यह सब इसलिए हो रहा है कि परम्परा लुप्त हो चुकी है। इन सब साधनों का उचित उपयोग तथा उपदेश मिलना प्रायः असंभव ही है। इन भिन्न २ साधनों के शुद्ध स्वरूप,

भेद, कारण, फल, अथवा प्रत्येक की न्यूनता तथा पूर्णता, गुण, दोष अथवा इनके अधिकारी के यथार्थ ज्ञान का अभाव है, इसलिए ये सब साधना के उपयोगी अंग एक-दूसरे से पृथक् पड़े हुए हैं। हठयोग, कर्मयोग, राजयोग, कुण्डलिनीयोग, ज्ञानयोग आदि भिन्न-भिन्न योगों के विषय में भ्रान्ति हो रही है। इनके स्वरूप आदि के यथार्थ ज्ञान का अभाव हुआ है, अतः इन में भी कोई क्रियात्मक समन्वय नहीं है। इन में से किसी एक का अवलम्बन करके अन्य सब की अवहेलना तथा खण्डन किया जाता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ये भिन्न-भिन्न योग एक दूसरे से नितान्त पृथक् नहीं हैं। इन सब का ध्येय एक है। इनके साधन आदि का भी गौण तथा मुख्य रूप से भेद है, नितान्त भेद नहीं। इसलिए इन सब योगों का अधिकारानुसार उचित मात्रा में उपयोग नहीं किया जाता। एक ही योग का संकुचित, अपूर्ण, मलिन, एकांगी रूप से आयुभर सेवन होता है, जिससे दुराग्रह, अशान्ति, राग-द्वेष, एक-दूसरे से घृणा—आक्षेप—की वृद्धि होती है। साधक अपने लक्ष्य की ओर कुछ उन्नति नहीं कर पाता। सच्चे जिज्ञासु भी भिन्न-भिन्न साधनों तथा योगों के रहस्य को नहीं समझते, अतः आयुभर यत्न करने पर भी सफलमनोरथ नहीं होते। वे अपना हित कुछ सिद्ध नहीं कर पाते और संसार में नास्तिकता की वृद्धि का कारण बनते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र की इस शोचनीय दशा से प्रेरित होकर ही इस ग्रंथ का निर्माण किया गया है। इन सब साधनों में से प्रत्येक का विस्तार से निरूपण नहीं किया गया। उस उस साधन की जानकारी के लिए तद्विषयक स्वतंत्र ग्रंथों का अवलोकन ज़रूरी होगा। यहां पर संक्षेप से इन भिन्न-भिन्न साधना तथा योगों अर्थात् अहिंसा, सत्य, शौच, अपरिग्रह, दानादि सामान्य धर्म, निष्काम कर्म, विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शास्त्र तथा गुरु में श्रद्धा, समाधान, मुमुक्षा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, हठयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग आदि भिन्न योगों के शुद्ध स्वरूप, भेद, फल, गुण, दोष, आपस में कारण-कार्य-भाव, इनकी उचित मर्यादा आदि का संक्षेप से निरूपण किया गया है। इन के मनन से साधक अपनी साधना की न्यूनता को जांच कर उसे पूर्ण करता हुआ परम लक्ष्य को प्राप्त करने के योग्य हो सकता है। विशेष रूप से इस बात को जताने का यत्न किया गया है कि निष्कामकर्म, वैराग्य, निदिध्यासन, योग, श्रवण, मनन आदि किसी एक साधन की अवहेलना—उपेक्षा—करने से क्या त्रुटि उत्पन्न हो जाती है, और यदि एक ही साधन निष्काम कर्म आदि पर साधना को सीमित कर दिया जाए और अन्य वैराग्य आदि साधनों की अवहेलना की जाए तो साधना में क्या अपूर्णता रह जाती है। साधनों के इस रहस्य को ग्रहण करके साधक अपनी भूल को सुधार सकता है और सब साधनों का उचित उपयोग कर सकता है।

वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों में अनन्य श्रद्धा ही आध्यात्मिक साध्य की सिद्धि का मूल है। इस कलिकाल में अध्यात्म के मूल पर कुल्हाड़ा चल जाना स्वाभाविक ही है। इस एक दोष के आ जाने से सम्पूर्ण साधनों पर कुल्हाड़ा स्वतः ही चल जाता है और सम्पूर्ण दोषसमूह की वृद्धि अप्रतिहत तथा स्वच्छन्द रूप से हो जाती है। आजकल नास्तिकता की वृद्धि का मूल कारण ही यही है कि शास्त्र में उचित शुद्ध श्रद्धा का नितान्त अभाव सा हो रहा है। जैसे पहिले आरम्भ में ही कहा गया है कि ईश्वर, जीव, परलोक, कर्म, धर्म के ज्ञानादि का मूल तो शास्त्र ही है। एक शास्त्र को त्याग देने से ईश्वर, जीव, परलोक, कर्म आदि सब स्वतः

ही छूट हो जाते हैं। इस नास्तिकता-प्रधान युग में शास्त्र का उचित महत्त्व तथा गौरव नहीं रहा। मानवीय स्वतंत्र बुद्धि को अधिक महत्त्व दिया जाता है, यहां तक कि आध्यात्मिक क्षेत्र के कई नेता भी शास्त्र की अवहेलना करते हैं, अथवा अपनी संकुचित, अनेक दोषों से दूषित बुद्धि के आधार पर शास्त्र को तौलते हैं। यदि शास्त्र की कोई बात उन्हें नहीं जंचती, तो दीर्घकाल तक धैर्यपूर्वक मनन किये विना तथा अनुष्ठान प्रयोग करके उसके परिणाम को, परीक्षित किये विना ही, झूठा कह देते हैं, अथवा मनमाने अर्थ करने लग जाते हैं। शास्त्र में अश्रद्धा तथा शास्त्र दुरुपयोग आजकल के आध्यात्मिक पतन का मुख्य कारण है। इसलिए इस मौलिक त्रुटि को सुधारने के लिए प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय में मानव जीवन के उद्देश्य का निरूपण करके द्वितीय अध्याय में शास्त्र के महत्त्व, स्वरूप तथा कार्य का निरूपण किया गया है और आध्यात्मिक विषय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के उचित उपयोग तथा स्थान का वर्णन भी इसी अध्याय में किया गया है। यह विषय सामान्यतया कठिन है। आजकल की शास्त्र में अश्रद्धा के कारणों को समक्ष रख कर इस विषय का निरूपण किया गया है, जिससे इस विवेचन का स्वरूप प्राचीन प्रथा के समान क्लिष्ट न होने पर भी वर्तमान कालीन आक्षेपों के प्रत्युत्तर रूप में होने के कारण पर्याप्त कठिन हो गया है। यह विषय आजकल की आध्यात्मिक समस्या की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि साधारण श्रद्धा होने पर भी यह हमारी श्रद्धा निर्बल अथवा मनमानी होती है और ऋषि मुनियों के विचारानुसार परिमार्जित तथा पुष्ट नहीं होती। इसलिए इस अध्याय के कठिन होने पर भी इसका धैर्य से मनन करना उपयोगी होगा। इसके पुनः पुनः मनन करने से इसका रहस्य हृदयङ्गम हो सकता है। अथवा यदि अधिक कठिन प्रतीत हो, तो सर्व साधारण पहिले शेष ग्रंथ का मनन करके उसके पश्चात् इस अध्याय का मनन करें।

जैसे प्रथम वर्णन हो चुका है कि प्रत्येक साधन के स्वरूप, फल-भेद, कार्य-कारण का भिन्न भिन्न अध्यायों में वर्णन किया गया है। यह वर्णन विवेचनात्मक दृष्टि से किया गया है और भिन्न भिन्न साधनों तथा उनके भेदों की तुलना भी उसमें करना आवश्यक हो गया है, अतः प्रत्येक अध्याय के विषय में कुछ क्लिष्टता का होना स्वाभाविक है। आध्यात्मिक लक्ष्य की सिद्धि आजकल के रजस् तथा तमोगुण प्रधानयुग में गाजर मूली के भाव नहीं हो सकती, और न कभी ऐसा हुआ ही है। अतः धैर्यपूर्वक प्रत्येक भाग, अध्याय और पंक्ति को मनन करके रहस्य को ग्रहण करने का यत्न करना चाहिए। यह जिज्ञासु के काम की वस्तु है, दिल बहलावे का खेल नहीं है; हां! सच्चे जिज्ञासु के लिए तो यह उपयुक्त दिल बहलावा ही है। अतः मैं आशा करता हूं कि सब सच्चे जिज्ञासु किसी संकुचित दृष्टि-जन्य संकोच तथा भय के विना इस ग्रन्थ का उपयोग करते हुए उपयुक्त लाभ उठा सकेंगे।

अन्त में भगवान् से, जो सब साधन तथा सिद्धियों के मूल हैं, यह प्रार्थना है कि वे हम सब को सुबुद्धि दें, जिस से हम अध्यात्म शास्त्र के तथ्य रहस्य को हृदयङ्गम कर सकें और संपूर्ण साधनों के शुद्ध, मर्यादित, उचित मात्रा के अनुष्ठान द्वारा मनुष्य जीवन के परम ध्येय की प्राप्ति में कृतकार्य हों। ओम् शम्।

प्रेमाश्रम, बनीखेत
(हिमाचल प्रदेश)
२०-९-४९

कृष्णानन्द

विषय-सूची

तीसरा अध्याय :—गुरु

द्वितीय खण्ड—पहला अध्याय :—शास्त्रशिक्षा-अधिकार

दूसरा अध्याय :—साधन चतुष्टय (विवक वैराग्य)

तीसरा अध्याय :—शम-दम

सातवां अध्याय :—समाधान

आठवां अध्याय :—मुमुक्षा

तृतीय खण्ड—पहला अध्याय :— कर्म का रहस्य

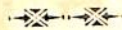
दूसरा अध्यायः—वैराग्य

तीसरा अध्याय—योग-भक्ति-निदिध्यासन

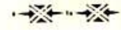


—:०:—

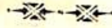
प्रमाणलेखक-सूची



प्रमाणग्रन्थ-सूची



प्रमाण-प्रतीक-सूची



कुण्डली



१. परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । श्वे० उप० ६,८,

२. कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिर्मुक्तिरूपा हि योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ योगशिखोपनिषद् ६,५५.

३. शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ कठ ६, १६.

अर्थ—(१) कल्याणस्वरूप परब्रह्म की स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रियास्वरूप अनेक प्रकार की शक्ति का वेद उपनिषद् आदि सच्छास्त्रों में निर्देश आता है ।

(२) कन्द के ऊपर कुण्डली शक्ति, जो साधारणतया सोई रहती है, वह भिन्न-भिन्न योग-साधनों द्वारा प्रबुद्ध होने पर योग-साधनावलम्बियों को निश्चित ही मुक्ति-प्रदान करने वाली है । परन्तु जो मूढ जन ईश्वर तथा गुरु-प्रसाद से लब्ध इस शक्ति के उद्बोधन की विधि को नहीं जानते, उन अभागों के लिये यह कुण्डली प्रसुप्त रहने के कारण बन्ध का हेतु है । जो नर इस शक्ति के उद्बोधन की विधि जानता है, वही यथार्थ में योग-रहस्य का ज्ञाता है ।

(३) हृदय से १०१ नाडियां निकलती हैं । उन में से एक (सुषुम्णा) मूर्धा (शिर) की ओर जाती है । उसके द्वारा (ब्रह्मरन्ध्र से) जो प्राण त्याग देता है, वह अमृत-पद को प्राप्त होता है । परन्तु जो किसी अन्य मार्ग से उत्क्रमण करता है, वह इस जन्म-मरणरूप संसार में भटकता रहता है ।

ब्रह्मविद्या पृष्ठ २१७



प्रथम खण्ड के प्रत्येक अध्याय में आने वाले आधार वाक्य

पहला अध्याय—आधार वाक्य

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

(अर्थ)—सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा मनुष्य परमानन्दरूप मुख्य श्रेय को प्राप्त करता है ।

दूसरा अध्याय—आधार वाक्य

नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् ।

(अर्थ)—वेद उपनिषद् के श्रवण बिना कोरे तर्क से ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ।

तीसरा अध्याय—आधार वाक्य

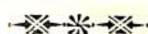
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

(अर्थ)—परमानन्दरूप ब्रह्म के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये (नाशवान् कर्मफल से विरक्त) जिज्ञासु हाथों में समिधा लेकर (अनन्य श्रद्धा से) श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण ग्रहण करे ।



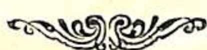
प्रथम खण्ड

आधार वाक्य



ओ३म् ब्रह्मविदाप्नोति परम् । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । तै० उ० २,१,१.

(अर्थ)—सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा
मनुष्य परमानन्द रूप मुख्य
ध्येय को प्राप्त होता है।



* ओ३म् *

ब्रह्म-विद्या

प्रथम खण्ड

पहिला अध्याय

मानव जीवन का उद्देश्य

१. प्राणी मात्र की सामान्य इच्छा

प्राणी मात्र की स्वाभाविक यह इच्छा है कि (१) आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—इन त्रिविध दुःखों में से कोई भी उसका स्पर्श न करे। अथ त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। (सांख्य १,१) तीन प्रकार के दुःखों की निःशेष निवृत्ति मनुष्य का परमलक्ष्य है। (२) उसे महान् से महान् परम अक्षयानन्द की प्राप्ति हो। (३) उसकी यह अनुपम सुख रूप स्थिति, उपलब्धि अथवा अनुभूति नित्य, निरन्तर एक रस बनी रहे।

२. सांसारिक पदार्थों द्वारा इस इच्छापूर्ति की दुराशा

प्रत्येक मनुष्य इसी इच्छा की पूर्ति के लिए रात दिन भटकता है। परन्तु उसे सफलता नहीं होती। क्योंकि (१) प्राकृतजन चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के स्पर्श रूप रसादि नश्वर विषय भोगों को ही प्रायः परमसुख का एक मात्र साधन समझता है। परन्तु परम हितैषिणी भगवती श्रुति की घोषणा है कि "नास्त्यकृतः कृतेन" (मुण्डकोपनिषद् १,२,१२)। "न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्" (कठोपनिषद् २,१०)। उत्पत्तिशील तथा नाशवान् पदार्थों (भोगों) से स्थिर, नित्य, शाश्वत, परमानन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। (२) भोग तो नश्वर हैं। इस पर भी यदि किसी प्रकार नित्य नये भोगों की प्राप्ति संभव हो जाए, तो उनको भोगने के साधन चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्तियां क्षीण हो जाती हैं तथा वे शनैः २ भोग भोग सकने में नितराम् असमर्थ हो जाती हैं। "श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः" (कठोप० १,२६)। हे प्राणियों के प्राण हर्ता यमराज (मृत्यु देवता) जिन आपातरमणीय तथा चित्ताकर्षक विषय भोगों का आप मुझे प्रलोभन दे रहे हैं, ये अत्यन्त चञ्चल, क्षणभङ्गुर तथा अस्थिर हैं। एक दिन भी स्थिर रहने वाले नहीं हैं। और फिर ये भोग इन्द्रियों की शक्ति और तेज को क्षीण कर देते हैं। विषयी मनुष्य की इन्द्रियां शीघ्र ही बल रहित तथा निस्तेज हो जाती हैं। विषयासक्त मूढ़ पुरुष यह नहीं समझता कि विषय रूपी तस्कर, चतुर और ज्ञानाभिमानी मनुष्य के देखते २, उसे बहका कर, फुसला कर, उसके शरीर तथा

इन्द्रियों की शक्तिरूप धन को लूट ले जाते हैं और यह इनकी लूट खसूट में ही कृतकार्यता समझता है। (३) मृत्यु की कोई औषधि नहीं है। इन्द्रियों का आयतन यह शरीर भी कब तक सहयोग कर सकता है। जगत् में यह सिद्धान्त निर्विवाद है कि मृत्यु अनिवार्य है, जो धन, जन, सुख, सम्पत्ति आदि सर्वस्व को हर लेता है, इस लिए अति भयप्रद है।

ये तीन ऊपर लिखी गयी स्पष्ट तथा सर्व विदित त्रुटियां विषय सुख में विद्यमान रहती हैं। अतः इन बाह्य विषयों के आधार पर सुख की खोज में कभी भी कोई मनुष्य सफल न हुआ और न हो सकता है।

३. आशा पूर्ति की झलक

(१) इस एक रस, नित्य सुख की अभिलाषा की पूर्ति तो अनादि, अखण्ड, पूर्ण तत्व की प्राप्ति से ही हो सकती है। इस प्रकार के आनन्द के अस्तित्व में यह आशा, इच्छा, अभिलाषा ही एक रहस्यमय प्रमाण है। और यह इच्छा जब तीव्र जिज्ञासा का रूप धारण कर लेती है, तो वही इस विलक्षण अनुपम तथा परम रस की झलक में असाधारण तथा असंदिग्ध कारण बन जाती है।

(२) ऐसा भूमा (व्यापक), अखण्ड तत्त्व ही अद्वितीय आनन्द स्वरूप हो सकता है। वही आनन्द की चरम सीमा या पराकाष्ठा है। इस सर्वव्यापी भूमानन्द से अधिक अन्य कोई सुख नहीं हो सकता।

(३) इस परम आनन्द ज्योति रूप ज्वाला की सन्निधि में त्रिविध दुःख रूपी घास फूंस कैसे रह सकता है। वह इसे जला कर भस्मसात् कर देती है। और फिर पीछे वही अखण्ड, अद्वितीय आनन्द रूपी तत्त्व शेष रह जाता है।

(४) परन्तु ऐसा अखण्ड, अद्वितीय आनन्द किसी मरणधर्मा (विनाशी) के लिए परमानन्द का कारण कैसे हो सकता है। जब भोक्ता प्राणी का अन्त होगा, तो इस आनन्द से भी उसका वियोग अनिवार्य हो जाएगा। अतः भोक्ता का भी अजर, अमर तथा नित्य होना आवश्यक है। "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।" (कठो० २,१८) यह आत्मा अजन्मा, नित्य, स्थिर तथा पुराण है, शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता।

(५) भोक्ता तथा भोग्य (सुख या आनन्द) को यदि भिन्न मान भी लें; तोभी भोग काल में भोक्ता सुखी, आनन्दमय, आनन्द रूप हुए बिना अपने भोग्य (सुख-आनन्द) का उपभोग नहीं कर सकता। जब भोक्ता सुखी होता है तो उस दशा में उसका तथा आनन्द (सुख) का तादात्म्य अर्थात् साम्यता हो जाती है, ऐक्य हो जाता है। दोनों परस्पर ऐसे मिल जाते हैं कि उस काल में भेद का निरीक्षण अशक्य हो जाता है।

४. उपसंहार

इस प्रकार परमानन्द की मानवीय आकांक्षा के विश्लेषण से हम इस सिद्धान्त पर पहुंचते हैं कि मनुष्य की यह आकांक्षा आगमापायी सांसारिक पदार्थों से पूर्ण नहीं

हो सकती। इसकी पूर्ति भूमानन्द से ही हो सकती है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दोग्य ३,१४)। आनन्द के भूमा, नित्य होने पर भोक्ता का भी स्वरूप से अजर, अमर होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में भोक्ता परमरसपानार्थ रसरूप ही हो जायगा। अथवा यह समझिए कि ऐसा अखण्ड, अद्वितीय, अनन्त आनन्द ही भोक्ता तथा भोग्य को अपनी अनन्तता में लीन कर लेगा।

पहिला अध्याय समाप्त

दूसरा अध्याय

प्रमाण विमर्श

मनुष्य की प्रधान तथा एक मात्र यही इच्छा होती है कि उसे सर्वोत्कृष्ट आनन्द की प्राप्ति हो और वह सुख निरन्तर बना रहे। ऐसी इच्छा की पूर्ति की आशा नित्य, अद्वितीय, आनन्द रूप तत्त्व की प्राप्ति द्वारा ही हो सकती है। किसी भी विचारवान् को इस निर्णीततथ्य में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

१. प्रमाण की आवश्यकता

परन्तु किसी आकांक्षा की पूर्ति की आशामात्र के आधार पर किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। "लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः न तु प्रतिज्ञामात्रेण" इत्यादि न्याय के अनुसार किसी प्रतिज्ञात वस्तु की सिद्धि के लिये पहिले तो उसका लक्षण करना होगा, फिर प्रमाणों द्वारा उसकी पुष्टि करनी होगी। यदि किसी वस्तु की केवल प्रतिज्ञा से ही सिद्धि हो सकती हो, तब ऐसी कौन सी कपोलकल्पना है जिसे यथार्थ सिद्ध न किया जा सके। इसलिए मानवीय परमानन्द प्राप्ति की आकांक्षा पूर्ति की संभावना और उसकी सिद्धि के लिए प्रमाणों की आवश्यकता है, जैसे सुवर्ण की परीक्षा के लिये कसौटी की आवश्यकता होती है।

२. प्रमाण संख्या

प्रमाण संख्या के विषय में सब दर्शनकारों का एक सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है। विशेष उपयोगिता के विचार से हम यहां पर केवल प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणों का ही उल्लेख करेंगे।

३. शब्द (श्रुति) प्रमाण विवेचन

उपर्युक्त भूमा-आनन्द स्वरूप तत्व के विषय में श्रुतियों के अनेक प्रमाण मिलते हैं। उन में से कतिपय हम उद्धृत करते हैं :—

(१) **"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति"** छान्दोग्य० (७,२३,१)। "जो भूमा महान् है, वह निरतिशय तत्त्व ही सुख स्वरूप है। उसके अतिरिक्त जो सांसारिक पदार्थ हैं, वे अल्प हैं, इसलिए सुख स्वरूप नहीं हो सकते। वे सब पदार्थ परिच्छिन्न हैं इसलिए उनके सुख भी अल्प (सातिशय) हैं। न्यूनता, अल्पता तथा सातिशयता ही कालान्तर में तृष्णा का हेतु बनती है। तृष्णा ही दुःख का बीज है। दुःख के बीज रूप ज्वरादि से संसार में कभी सुख होता नहीं दीखता। यही कारण है कि तृष्णा के बीजभूत, देश, काल तथा वस्तु से परिच्छिन्न अल्प पदार्थों से वास्तविक सुख नहीं हो सकता। परन्तु देश काल तथा वस्तु परिच्छेद से रहित उस अनन्त, महान् तथा परम तत्त्व भूमा की प्राप्ति हो जाने पर फिर उसमें तृष्णादि दुःख का बीज ही संभव नहीं रहता। इसलिए भूमा ही सतत सुख का कारण निश्चित होता है। इस प्रकार के भूमा तत्व की ही जिज्ञासा करनी चाहिए।"

(२) "ओ३म् ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

योे वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह। ब्रह्मणा विपश्चितेति।" तैत्तिरीयोप० (२,१,१)। ब्रह्मज्ञानी सच्चिदानन्द स्वरूप निरतिशय परम ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। जो मुमुक्षु बुद्धिरूप गुहा (जिसमें भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ संरक्षित हैं) के अव्याकृत (माया) रूपी आकाश में स्थित इस प्रकार के ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। वह परम भाग्यवान् औपाधिक जनि मृति संसृति चक्र से मुक्त हो जाता है। सर्वज्ञ ब्रह्मस्वरूप (शुद्ध चैतन्य) से एकीभाव को प्राप्त हुआ २ वह सर्व कामनाओं का उपभोग करता है; अर्थात् सर्व काम्य पदार्थ शब्द स्पर्शादि को चैतन्य रूप से व्याप्त करता है। ऐसी स्थिति में वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध-स्वरूप परम चैतन्य से अतिरिक्त कुछ भी अनुभव नहीं करता। वह चिन्मात्र ही हो जाता है।"

(३) "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नाम रूपे विहाय।
तथा विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥"

मुण्डकोप० (३,२,८,६)।

"जैसे बहती हुई गंगादि नदियां समुद्र को प्राप्त होकर, अपने नाम और आकार को त्याग कर उसमें लीन हो जाती हैं। और इस प्रकार तद्रूप हो जाने के पश्चात् यह विवेक नहीं हो सकता कि यह अमुक नदी का जल है अथवा अमुक का। क्योंकि नाम रूप ही भेद तथा पार्थक्य प्रतीति का कारण होता है। वैसे ही ब्रह्मवित् ज्ञानी अविद्यामृत औपाधिक नाम रूप से छूटा हुआ शुद्ध, चैतन्यमय, प्रकाश स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर उसके साथ एक रूप हो जाता है। जो मुमुक्षु इस पर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। वह तद्रूप परब्रह्म ही हो जाता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता की शिष्य परम्परा में कोई भी ब्रह्मज्ञानहीन मूढ़ या तत्व ज्ञानरहित नहीं रहता। जन्म मरण रूपी संसार चक्र के अनन्त दुःखसागर से वह पार हो जाता है। धर्माधर्म का मलसमूह उसे स्पर्श नहीं कर सकता। हृदयस्थ अहंता ममता रूप माया की ग्रन्थियों से छूट कर, वह सदा के लिए अपने शुद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, निर्विकार, निर्विशेष स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।"

(४) इस विषय में विशेष जिज्ञासा रखने वाले को निम्नाङ्कित श्रुति स्थल देखने चाहिएं। ऋग्वेद १,१६४,४६; ४,४०,५; ४,२३,१; ४,२७,१; ऐतरेयोपनिषद् २,५; ४,७; ३३,१८; बृहदारण्यक उपनिषद् २,५,१६; ३,८,११ इत्यादि।

४. वर्तमान काल में श्रुति में अविश्वास

आजकल की पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से हमारे हृदय तथा मस्तिष्क इतने प्रभावित हो गये हैं कि हम परम प्रमाण, अनादि अनन्त अपौरुषेय तथा अबाध्य स्वतः-प्रमाणभूत श्रुति का भी यत् किञ्चित् सम्मान तथा आदर करने को तैय्यार नहीं हैं। पाश्चात्य शिक्षा पद्धति तथा शिक्षा ने हम पर पर्याप्त तथा अकथनीय प्रभाव डाला है। हम पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा में शिक्षित, उन पाश्चात्यों का अनुकरण करते हुए बुद्धि स्वातन्त्र्य

तथा उच्चशिक्षा के अभिमानी बनते हैं, और कहते हैं कि हम प्राक्तन रस्मोरिवाज, वेशभूषा तथा व्यवहार की लकीर के फ़क़ीर नहीं बनना चाहते। ईश्वरीय ज्ञान वेद तथा महर्षियों के परमपुनीत हितभरे उपदेशों को भी "बाबावाक्यं प्रमाणं" का नाम देकर झट उनका बोझा अपने सिर से उतार कर अपने आप को बुद्धिमान् समझने लगते हैं, और कहते हैं कि हम अन्धे की तरह नेत्र मून्द कर किसी के पीछे चलने को तैयार नहीं। परन्तु हम यह नहीं सोचते कि हमने अपनी इस भयप्रद मानसिक दासता (परतन्त्रता) का नाम ही स्वतन्त्रता रख लिया है। क्योंकि श्रुति को मानने से इनकार करते समय हम प्रायः यही युक्ति तथा तर्क उपस्थित करते हैं कि अर्वाचीन भौतिक विज्ञानवादी पण्डित ऐसी गप्पों को नहीं मानते। ईश्वर, जीव, परलोक, स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म इत्यादि २ बातें केवल मूर्खों को ठगने के लिए ही बुद्धिमान् मनुष्यों ने घड़ी हैं। इनमें सत्यता का नामोनिशान नहीं है। इस युक्ति क्रम में हमें भौतिक विज्ञानवादी पण्डितों के प्रति अपनी मानसिक दासता का अनुभव नहीं होता।

५. श्रुति में अविश्वास का कारण

प्राचीन काल में भी उपर्युक्त विचार के अनुयायी चार्वाक आदि थे, परन्तु आजकल की हमारी ईश्वर तथा वेदविषयक नास्तिकता का कारण वे नहीं हैं। हमारी दीर्घकालीन राजनैतिक पराधीनता से उत्पन्न मानसिक दासता ही इसमें हेतु है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी इस राजनैतिक दासता का हेतु अवश्य हमारी ही किसी प्रकार की भूलें तथा त्रुटियां थीं। पाश्चात्य देशों की राजनैतिक स्वतंत्रता तथा स्वर्गसदृश भोगैश्वर्य प्राप्ति में किसी प्रकार का कुछ गुण मान लेने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि पाश्चात्य देशों की प्रत्येक बात हमारे लिए माननीय तथा अनुकरणीय है। उनके आध्यात्मिक-विचार, वेश भूषा, रस्मोरिवाज, खान-पान तथा पारस्परिक व्यवहार आदि हमारे लिए सर्वथा प्रमाण नहीं हो सकते। क्योंकि उन देशों की केवल ऐहिक भोगवाद में ही आस्था है।

जिस मानसिक स्वतंत्रता का हमें इतना अभिमान है, वह अति शोचनीय परतंत्रता है। हम ईश्वर तथा परलोक आदि में विश्वास तथा प्राक्तन वर्णाश्रम व्यवस्था आदि को ही देश के पतन का कारण समझने लगे हैं। इस में सन्देह नहीं कि भिन्न २ मतों के अन्धविश्वास (कट्टरपन) ने अखण्ड भारत को खण्ड २ में विभक्त कर रखा है। और जन्म मात्र से वर्ण मानने के दुराग्रह ने वैयक्तिक तथा सामूहिक योग्यता, उन्नति और विकास का मार्ग बंद कर दिया है। यही कारण है कि हम ऐसा समझने लगे हैं कि रूस आदि पाश्चात्य देशों का अनुकरण करते हुए, हमें ईश्वर, मन्दिर, वेद, स्मृति तथा प्राचीन दर्शनों की शिक्षा तथा महत्त्व को शीघ्रतम सर्वथा उन्मूलन कर देना चाहिए। युरोप हमारे लिए ब्रह्मलोक बन गया है। वहां के आधुनिक संस्कृति के निर्माणकर्त्ता, विज्ञान वेत्ता, ईश्वर तथा प्राचीन ऋषि मुनियों की अपेक्षा अधिक हमारे मस्तिष्कों पर शासन कर रहे हैं।

६. शब्द प्रमाण की आवश्यकता तथा व्यापकता

गृह, परिवार, जातीयता आदि का आधार

इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्यक्ष प्रमाण साधारणतया बहुत प्रबल प्रमाण है। परन्तु शब्द प्रमाण का कार्य-क्षेत्र अति विस्तृत है। जिसके अभाव में जीवन अत्यन्त

सारहीन, सौन्दर्यरहित तथा दुःखमय हो जाता है। मनुष्य को अपने माता पिता का ज्ञान केवल शब्द प्रमाण से ही हो पाता है, इस में प्रत्यक्ष प्रमाण की गति नहीं है। इस ज्ञान पर संपूर्ण वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवहार अवलम्बित है। यदि इस ज्ञान को सन्दिग्ध मान लिया जाए तो घर, घर नहीं रहेगा। प्राणियों को स्वाभाविक रूप से बांधने वाले तन्तु का विच्छेद हो जाएगा और उस पर अवलम्बित देश, जाति आदि के अन्य व्यवहार अस्त व्यस्त हो जायेंगे। क्योंकि किसी व्यक्ति के देश जाति का निर्णय करने के लिए भी उसके माता पिता का ज्ञान होना आवश्यक होता है। रूस के समान केवल देश तथा जाति की आधार शिला पर निर्मित संस्कृति उतनी बलवती तथा संघटित नहीं हो सकती।

७. मनुष्यत्व का आधार

यह हम निर्धारित कर चुके हैं कि शब्द के बिना समाज की कोई व्यवस्था नहीं बन सकती है। यदि शब्द का अभाव होता तो इस भूमण्डल पर मनुष्य भी न दीखता। शब्द प्रयोग के बिना किसी प्रकार की शिक्षा, उन्नति, विकास, भौतिक तथा आध्यात्मिक विज्ञान का सूत्र पात ही न हुआ होता। मनुष्य तथा पशु में कोई अन्तर न रहता। भले ही इसका अन्य प्राणियों से आकार भेद दिखाई देता रहता। मनुष्यों का परस्पर व्यवहार वाणी पर ही निर्भर है। यदि दो मौनी एक स्थान पर एकत्रित हो जायें तो उनके परस्पर व्यवहार की मात्रा कितनी न्यून हो जाती है, इसकी कल्पना की जा सकती है। संकेतमात्र से वे कहाँ तक अपने मनोभावों को एक दूसरे पर व्यक्त कर सकते हैं।

८. सम्पूर्ण मानवीय कार्यक्षेत्र में शब्द की आवश्यकता

समाचारपत्र आजकल के जीवन का अनिवार्य अंग है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक, किसी भी कार्यक्षेत्र में मनुष्य अपने ध्येय को हानि पहुंचाए विना समाचार पत्र अध्ययन से उदासीन नहीं रह सकता। मानव जाति इस समय परस्पर इस प्रकार संघटित हो चुकी है कि एक भाग की हलचल दूसरे भाग पर अवश्य प्रभाव डालती है। समाचार पत्र, रेडियो आदि जो कि इस युग की महती शक्ति हैं, शब्द प्रमाण के असाधारण प्रभुत्व का एक साधारण उदाहरण हैं।

बड़े से बड़े बुद्धिमान् शिक्षित मनुष्य को शारीरिक रोगों की चिकित्सा के समय चिकित्सक के निर्देशानुसार नेत्र मून्द कर व्यवहार करना पड़ता है। साधारण मनुष्य विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों या अन्तिम विशेष परिणामों को सिद्ध नहीं कर सकता। परन्तु उनको यथार्थ मानता हुआ यथावसर उनका प्रयोग करता है।

९. वर्तमान काल के उच्च कोटि के पाश्चात्य विद्वानों द्वारा शब्दप्रमाण का उपयोग

एक एक विषय के प्रसिद्ध प्रौढ़ विद्वान् अन्य संबंधित विषयों के सिद्धान्तों को सिद्ध नहीं कर सकते परन्तु उनका उपयोग अपने कार्यक्षेत्र में किया ही करते हैं। जैसे गणित के अनेक बीज (गुर Formula फार्मूला) रसायन तथा भौतिकी शास्त्रों (Chemistry and Physics) में प्रयुक्त होते हैं। कारीगर (Mechanic) अपने २ कामों के आधारभूत सिद्धान्तों के रहस्य को न समझते हुए भी उनका उपयोग करता है। डार्विन के विकासवाद (Evolution Theory) को कितने व्यक्ति सिद्ध कर सकते हैं?

तथा उच्चशिक्षा के अभिमानी बनते हैं, और कहते हैं कि हम प्राक्तन रस्मोरिवाज, वेशभूषा तथा व्यवहार की लकीर के फ़क़ीर नहीं बनना चाहते। ईश्वरीय ज्ञान वेद तथा महर्षियों के परमपुनीत हितभरे उपदेशों को भी "बाबावाक्यं प्रमाणं" का नाम देकर झट उनका बोझा अपने सिर से उतार कर अपने आप को बुद्धिमान् समझने लगते हैं, और कहते हैं कि हम अन्धे की तरह नेत्र मून्द कर किसी के पीछे चलने को तैयार नहीं। परन्तु हम यह नहीं सोचते कि हमने अपनी इस भयप्रद मानसिक दासता (परतन्त्रता) का नाम ही स्वतन्त्रता रख लिया है। क्योंकि श्रुति को मानने से इनकार करते समय हम प्रायः यही युक्ति तथा तर्क उपस्थित करते हैं कि अर्वाचीन भौतिक विज्ञानवादी पण्डित ऐसी गप्पों को नहीं मानते। ईश्वर, जीव, परलोक, स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म इत्यादि २ बातें केवल मूर्खों को ठगने के लिए ही बुद्धिमान् मनुष्यों ने घड़ी हैं। इनमें सत्यता का नामो-निशान नहीं है। इस युक्ति क्रम में हमें भौतिक विज्ञानवादी पण्डितों के प्रति अपनी मानसिक दासता का अनुभव नहीं होता।

५. श्रुति में अविश्वास का कारण

प्राचीन काल में भी उपर्युक्त विचार के अनुयायी चार्वाक आदि थे, परन्तु आजकल की हमारी ईश्वर तथा वेदविषयक नास्तिकता का कारण वे नहीं हैं। हमारी दीर्घकालीन राजनैतिक पराधीनता से उत्पन्न मानसिक दासता ही इसमें हेतु है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी इस राजनैतिक दासता का हेतु अवश्य हमारी ही किसी प्रकार की भूलें तथा त्रुटियां थीं। पाश्चात्य देशों की राजनैतिक स्वतंत्रता तथा स्वर्गसदृश भोगैश्वर्य प्राप्ति में किसी प्रकार का कुछ गुण मान लेने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि पाश्चात्य देशों की प्रत्येक बात हमारे लिए माननीय तथा अनुकरणीय है। उनके आध्यात्मिक-विचार, वेश भूषा, रस्मो-रिवाज, खान-पान तथा पारस्परिक व्यवहार आदि हमारे लिए सर्वथा प्रमाण नहीं हो सकते। क्योंकि उन देशों की केवल ऐहिक भोगवाद में ही आस्था है।

जिस मानसिक स्वतंत्रता का हमें इतना अभिमान है, वह अति शोचनीय परतंत्रता है। हम ईश्वर तथा परलोक आदि में विश्वास तथा प्राक्तन वर्णाश्रम व्यवस्था आदि को ही देश के पतन का कारण समझने लगे हैं। इस में सन्देह नहीं कि भिन्न २ मतों के अन्धविश्वास (कट्टरपन) ने अखण्ड भारत को खण्ड २ में विभक्त कर रखा है। और जन्म मात्र से वर्ण मानने के दुराग्रह ने वैयक्तिक तथा सामूहिक योग्यता, उन्नति और विकास का मार्ग बंद कर दिया है। यही कारण है कि हम ऐसा समझने लगे हैं कि रूस आदि पाश्चात्य देशों का अनुकरण करते हुए, हमें ईश्वर, मन्दिर, वेद, स्मृति तथा प्राचीन दर्शनों की शिक्षा तथा महत्त्व को शीघ्रतम सर्वथा उन्मूलन कर देना चाहिए। युरोप हमारे लिए ब्रह्मलोक बन गया है। वहां के आधुनिक संस्कृति के निर्माणकर्त्ता, विज्ञान वेत्ता, ईश्वर तथा प्राचीन ऋषि मुनियों की अपेक्षा अधिक हमारे मस्तिष्कों पर शासन कर रहे हैं।

६. शब्द प्रमाण की आवश्यकता तथा व्यापकता
गृह, परिवार, जातीयता आदि का आधार

इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्यक्ष प्रमाण साधारणतया बहुत प्रबल प्रमाण है। परन्तु शब्द प्रमाण का कार्य-क्षेत्र अति विस्तृत है। जिसके अभाव में जीवन अत्यन्त

सारहीन, सौन्दर्यरहित तथा दुःखमय हो जाता है। मनुष्य को अपने माता पिता का ज्ञान केवल शब्द प्रमाण से ही हो पाता है, इस में प्रत्यक्ष प्रमाण की गति नहीं है। इस ज्ञान पर संपूर्ण वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवहार अवलम्बित है। यदि इस ज्ञान को सन्दिग्ध मान लिया जाए तो घर, घर नहीं रहेगा। प्राणियों को स्वाभाविक रूप से बांधने वाले तन्तु का विच्छेद हो जाएगा और उस पर अवलम्बित देश, जाति आदि के अन्य व्यवहार अस्त व्यस्त हो जायेंगे। क्योंकि किसी व्यक्ति के देश जाति का निर्णय करने के लिए भी उसके माता पिता का ज्ञान होना आवश्यक होता है। रूस के समान केवल देश तथा जाति की आधार शिला पर निर्मित संस्कृति उतनी बलवती तथा संघटित नहीं हो सकती।

७. मनुष्यत्व का आधार

यह हम निर्धारित कर चुके हैं कि शब्द के बिना समाज की कोई व्यवस्था नहीं बन सकती है। यदि शब्द का अभाव होता तो इस भूमण्डल पर मनुष्य भी न दीखता। शब्द प्रयोग के बिना किसी प्रकार की शिक्षा, उन्नति, विकास, भौतिक तथा आध्यात्मिक विज्ञान का सूत्र पात ही न हुआ होता। मनुष्य तथा पशु में कोई अन्तर न रहता। भले ही इसका अन्य प्राणियों से आकार भेद दिखाई देता रहता। मनुष्यों का परस्पर व्यवहार वाणी पर ही निर्भर है। यदि दो मौनी एक स्थान पर एकत्रित हो जायें तो उनके परस्पर व्यवहार की मात्रा कितनी न्यून हो जाती है, इसकी कल्पना की जा सकती है। संकेतमात्र से वे कहाँ तक अपने मनोभावों को एक दूसरे पर व्यक्त कर सकते हैं।

८. सम्पूर्ण मानवीय कार्यक्षेत्र में शब्द की आवश्यकता

समाचारपत्र आजकल के जीवन का अनिवार्य अंग है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक, किसी भी कार्यक्षेत्र में मनुष्य अपने ध्येय को हानि पहुंचाए बिना समाचार पत्र अध्ययन से उदासीन नहीं रह सकता। मानव जाति इस समय परस्पर इस प्रकार संघटित हो चुकी है कि एक भाग की हलचल दूसरे भाग पर अवश्य प्रभाव डालती है। समाचार पत्र, रेडियो आदि जो कि इस युग की महती शक्ति हैं, शब्द प्रमाण के असाधारण प्रभुत्व का एक साधारण उदाहरण हैं।

बड़े से बड़े बुद्धिमान् शिक्षित मनुष्य को शारीरिक रोगों की चिकित्सा के समय चिकित्सक के निर्देशानुसार नेत्र मून्द कर व्यवहार करना पड़ता है। साधारण मनुष्य विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों या अन्तिम विशेष परिणामों को सिद्ध नहीं कर सकता। परन्तु उनको यथार्थ मानता हुआ यथावसर उनका प्रयोग करता है।

९. वर्तमान काल के उच्च कोटि के पाश्चात्य विद्वानों द्वारा शब्दप्रमाण का उपयोग

एक एक विषय के प्रसिद्ध प्रौढ़ विद्वान् अन्य संबंधित विषयों के सिद्धान्तों को सिद्ध नहीं कर सकते परन्तु उनका उपयोग अपने कार्यक्षेत्र में किया ही करते हैं। जैसे गणित के अनेक बीज (गुर Formula फार्मूला) रसायन तथा भौतिकी शास्त्रों (Chemistry and Physics) में प्रयुक्त होते हैं। कारीगर (Mechanic) अपने २ कामों के आधारभूत सिद्धान्तों के रहस्य को न समझते हुए भी उनका उपयोग करता है। डार्विन के विकासवाद (Evolution Theory) को कितने व्यक्ति सिद्ध कर सकते हैं?

परन्तु बहुत से फिर भी उसको तथ्य मानते हुए अपने विचार की पुष्टि में प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं।

कुछ वर्षों से Four Dimensional Theory (चतुर्परिमाण सिद्धान्त) का आविष्कार हुआ है। जिस में लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊंचाई के अतिरिक्त एक अन्य Dimension (परिमाण) भी माना जाता है। उसको भली भांति समझने वाले गणितज्ञ संसार में बहुत थोड़े हैं; सुप्रसिद्ध विद्यालयों के गणित की उच्च शिक्षा के विशेष विख्यात तथा प्रवीण अध्यापकों की बुद्धि भी इस गम्भीर रहस्य को ग्रहण नहीं कर सकी। परन्तु इस सिद्धान्त के जानकारों की बुद्धि पर विश्वास करते हुए मानते ही हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि आप्त पुरुषों के वचन में श्रद्धा तथा विश्वास किये बिना हमारा एक क्षण के लिए भी निर्वाह नहीं हो सकता। क्योंकि पुरुष का स्वरूप श्रद्धामय है:—

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ गीता १७,३.

सब प्राणियों की स्व स्व बुद्धि अनुरूपा ही श्रद्धा होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। जैसी जिसकी श्रद्धा है वही उसका स्वरूप है। हे अर्जुन! सब प्राणियों की श्रद्धा, विशिष्ट संस्कार युक्त अन्तःकरण के अनुरूप (समान) ही होती है। यह संसारी जीव श्रद्धा-प्रधान ही होता है। जैसी जिसकी श्रद्धा है अर्थात् जैसे पदार्थों, कार्यों, उद्देश्यों तथा पुरुषों में उसकी श्रद्धा होती है, उस पुरुष को ऐसा ही समझो। अंग्रेजी में भी एक लोकोक्ति है :—Man is known by the Company he keeps. मनुष्य अपने संग से पहिचाना जाता है। श्रद्धा शून्य कोई पुरुष नहीं हो सकता, भेद केवल इसमें होता है कि सब का प्रमाणभूत पुरुष एक नहीं होता।

१०. भौतिक विज्ञान वादियों का आक्षेप

इस पर भौतिक विज्ञान वादियों का कहना है कि भौतिक विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का आधार प्रयोगसिद्ध प्रत्यक्ष है। यद्यपि इन प्रयोगों को प्रत्येक पुरुष स्वयं सिद्ध नहीं करता है। क्योंकि प्रायः इसकी सिद्धि के बाह्यसाधन हर एक को प्राप्त नहीं होते। एवं हर एक का मस्तिष्क भी इतनी योग्यता नहीं रखता कि वह स्वयं इन सिद्धान्तों के गूढ़ रहस्य को ग्रहण कर सके। तथापि भौतिक विज्ञानवाद में प्रवीण मनुष्यों ने प्रत्यक्ष प्रयोगों द्वारा इन सिद्धान्तों को निर्धारित किया है। यदि किसी की इच्छा तथा योग्यता हो तो वे उपयुक्त प्रयोगों द्वारा अपने सिद्धान्तों को उसे भली भांति हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं।

आक्षेप का समाधान—श्रुति, उपनिषद् आदि प्रमाण भी सर्व साधारण जनता के लिए शब्द प्रमाणान्तर्गत हैं। जैसे वैज्ञानिक सिद्धान्त रूपी शब्द प्रमाण की आधार शिला प्रसिद्ध वैज्ञानिकों का प्रत्यक्ष है, वैसे ही श्रुति भी ईश्वरीय प्रत्यक्ष ज्ञान है।

११. वेद और श्रुति शब्द की व्युत्पत्ति तथा निरुक्ति

वेद शब्द विद् ज्ञाने, सत्तायां, विचारणे चेतनाख्याननिवासेषु तथा विद्लृ लाभे इत्यादि पांच धातुओं से व्युत्पन्न होता है। अर्थात् जिससे या जिस द्वारा सर्व मनुष्य सम्पूर्ण सत्यविद्या को जानते हैं, जो मानवीय जीवन का आधार है, जिस के द्वारा परम

लाभ होता है, विवेकपुरस्सर जिसके द्वारा आत्मानात्मविवेचन किया जाता है, जो भगवान् के ज्ञान का सुप्रसिद्ध भण्डार, सत्यमार्ग का दर्शक तथा सर्वविध मानवीय व्यवहार का द्योतक आदि स्रोत है, उसे वेद कहते हैं। ऐसे ही श्रुति शब्द भी 'श्रु' श्रवणे धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न होता है। श्रूयते सर्वैरनया स्व स्वानुरूपाः शिक्षादयः इति श्रुतिः। अर्थात् जिसका निर्माण कर्त्ता कोई मनुष्य नहीं है। आदि सृष्टि से लेकर आज तक ब्रह्मादि महर्षि तथा अन्य सब व्यक्ति जिसके द्वारा स्वस्वानुरूप शिक्षा तथा आदेश आदि सुनते हैं। जो सब मनुष्यों के हित को सुनाती है या जिस द्वारा सुना जाता है, उसे श्रुति कहते हैं। यह भगवान् का ज्ञान ही हो सकता है।

१२. श्रुति निरुक्ति तात्पर्य

ईश्वरीय प्रत्यक्ष ज्ञान का नाम वेद है। आभ्यन्तर दिव्य श्रोत्रसम्पन्न ऋषि मुनियों ने अपने स्वच्छ, स्थिर और सूक्ष्म अन्तःकरण रूपी आकाश में इस परम पुनीत ईश्वरीय वाणी रूप वेद को श्रवण किया है, इसलिए इसको श्रुति कहते हैं। उन्होंने इसका श्रवण उसी प्रकार किया है जिस प्रकार हम अपनी बाह्य श्रवणेन्द्रिय से साधारण शब्द तथा शिक्षा का श्रवण करते हैं। दिव्यश्रोत्र तथा आकाश वाणी पर साधारण जनता तथा कुतर्कियों का आक्षेप सर्वथा ऐसे निराधार है, जिस प्रकार श्रवण शक्ति रहित बधिर का साधारण शब्द तथा श्रोत्र पर आक्षेप व्यर्थ होता है। दिव्यश्रोत्र तथा आकाश वाणी पर अविश्वास तथा अश्रद्धा करना अपनी मूढ़ता, अनभिज्ञता तथा अहंकृति का द्योतक है। मानवीय शक्ति की मर्यादा या अवधि का साधारण जन की सामर्थ्य अनुभूति तथा विभूति द्वारा निर्णय करना मानवीय ऐश्वर्य, बल, बुद्धि आदि की हीनता तथा शोचनीय अवस्था को ही प्रमाणित करना है। क्योंकि मानवीय उन्नत बल, बुद्धि तथा अन्य विकास आदि का अनुमान तो जगत् की सुप्रसिद्ध विशेष २ व्यक्तियों के निर्मल, उच्च तथा आदर्शभूत जीवनों द्वारा ही किया जा सकता है। जिस प्रकार शारिरिक बल, शौर्य तथा वीरता में भीम, अर्जुन, रुस्तम, राममूर्ति आदि से, उज्ज्वल, सूक्ष्म तथा स्थिर बुद्धि सम्पन्नता में सुक्रात, न्यूटन, काण्ट तथा शङ्कर आदि से और दया, धर्म, त्याग, योग, अहिंसा, राजनीति आदि में आदर्शभूत राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, गांधी आदि से अनुमान करना उचित होगा। ये श्रेष्ठ, व्युत्पन्न व्यक्ति ही हमारे लिए आदर्श हो सकते हैं। हम अपनी बुद्धि, शक्ति तथा अनुभव के आधार पर उनके शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास तथा उन्नत स्थिति को यत्किञ्चित् भी नहीं समझ सकते। इनके उज्ज्वल दिव्य मुख देखने के लिए, उनके परम पावन चरण कमलों में बैठने के लिए और उनके पदचिह्नों पर चलने के लिए हमारे पास श्रद्धा का ही केवल एक सहारा है। इस श्रद्धा रूपी अलौकिक चक्षु से ही हम उनकी दिव्य झलक निहार सकते हैं। तथा शक्ति, बुद्धि, धर्म, न्याय, मर्यादा और जिज्ञासाहीन अपने जीवनों को उन्नति के शिखर पर पहुंचाने की आशा कर सकते हैं। सर्व साधारण जन की सामान्य स्थिति तो इतनी दुःखमयी, नरक रूपा है कि ऐसी दशा में जीवित रहने से मृत्यु ही अच्छी प्रतीत होने लगती है। इन महान् तथा आदर्श पुरुषों का आदर्श ही जीवन में ज्योति तथा प्रकाश-स्तम्भ का काम देता है तथा आशा का सञ्चार कर सकता है।

१३. वेद निरुक्ति (तात्पर्य)

ऐसे ही दिव्य चक्षु सम्पन्न ऋषियों ने वेद मंत्रों को प्रत्यक्ष देखा। तत्वज्ञ तथा साक्षात्कार सम्पन्न ही ऋषि कहलाते हैं। जिस प्रकार हम इन भौतिक चर्म चक्षुओं से पुस्तक रूपी वेद को देखते तथा पढ़ते हैं, उसी प्रकार उन परम पूज्य महर्षियों ने परलोक तथा पुनर्जन्म आदि को अपने दिव्य नेत्रों से प्रत्यक्ष देखा। इसलिए इस ज्ञान का नाम वेद (प्रत्यक्ष) ज्ञान पड़ा। उन महापुरुषों के ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान को समझने के लिए आचार्य कुल में रह कर अध्ययन तथा साधन करने के पश्चात् योग्यता उत्पन्न होती है। परन्तु ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान वेद नित्य सिद्ध है। वही उपर्युक्त शिक्षा की परम्परा का मूल है। प्रातःस्मरणीय, योग के आचार्य महर्षि पतञ्जलि नियमानुभूत योग शास्त्र में कहते हैं :— "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।" (योग १,२६)—"ईश्वर प्रति सर्ग के आरम्भ में उत्पन्न होने वाले ब्रह्मादि का भी गुरु है (ज्ञान चक्षु प्रद पिता है)। क्योंकि ब्रह्मादि देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद से परिच्छिन्न तथा मर्यादित हैं। और षड्भाव विकार युक्त होने के कारण सादि तथा सान्त हैं। परन्तु ईश्वर देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद से अनवच्छिन्न, अमर्यादित, अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ तथा निरतिशय ज्ञानघन है। क्योंकि जन्म लेने वाला पुरुष शिक्षित उत्पन्न नहीं होता, उसे किसी न किसी शिक्षक की आवश्यकता होती है। सर्गारम्भ में उत्पन्न होने वाले ब्रह्मादि का कोई न कोई शिक्षा प्रदान करने वाला गुरु होना चाहिए। अतः नित्य शुद्ध बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, निर्विकार, स्वतःसिद्ध दयानिधि, ईश्वर को ही सब का गुरु मानना पड़ता है। क्योंकि उसके अतिरिक्त उसके समान या उससे अधिक अन्य कोई भी नहीं है। श्रुति हाथ उठा कर यह घोषणा कर रही है कि :—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेताश्वतर उप० ६,१८) "जो सर्ववित् ईश्वर सर्ग के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न करके उसके लिए वेद प्रदान करता है। मुमुक्षु को उसी की शरण लेनी चाहिए।"

१४. वेद की अपौरुषेयता

सब सत्य विद्याओं का मूल वेद, ईश्वर का नित्य स्वतःसिद्ध स्वाभाविक ज्ञान है। वे इसे मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ ब्रह्मादि को प्रदान करते हैं। इनको किसी उत्पत्ति विनाश शील कवि या विद्वान् ने अपने चक्षु आदि इन्द्रियों या मनो बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान के प्रचारार्थ निर्माण नहीं किया। परम दयालु, करुणा सागर, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, देश-कालानवच्छिन्न ईश्वर के इस स्वतः सिद्ध स्वाभाविक ज्ञान में वेद, उपनिषद्, शास्त्र, स्मृति, इतिहास पुराणादि के शतशः प्रमाण हैं। जैसे "शास्त्र योनित्वात्" ब्रह्म सूत्र (१,१,३) वेद का कारण ईश्वर है। "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" वैशेषिक (१,१,३) धर्म का कर्तव्य रूप से ईश्वर द्वारा प्रतिपादित होने से वेद की प्रामाण्यता है। न्याय २,१,६७; यजुर्वेद ४०,८. इत्यादि।

"God's mind is the rational order of the Universe." Plato (बुद्धि पूर्वक तथा यौक्तिक संसार का रचना क्रम ही ईश्वरीय ज्ञान का द्योतक है। अतएव सर्वत्र व्यापी तथा निरन्तर नियत क्रम आदि ईश्वरीय ज्ञान की ही संसार पर एक मात्र छाप है।) "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" वैशेषिक (६,१,१.)। एवं "वेद के वाक्यों की

रचना भी अलौकिक ज्ञान पूर्वक ही है।" वह ज्ञान भगवान् से अतिरिक्त अन्य किसी का नहीं हो सकता। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि वेद किसी पुरुष की कृति नहीं प्रत्युत भगवान् का ज्ञान है, तभी यह अपौरुषेय कहलाता है।

१५. श्रुति और ईश्वर विषयक अन्योऽन्याश्रयदोषारोपण तथा उसका परिहार

इस में यह आक्षेप हो सकता है कि सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म की सिद्धि के लिए श्रुति या वेद को उपस्थित करना और वेद के परम प्रमाणार्थ ईश्वरीय वचन या ज्ञान रूप होने का हेतु देना अन्योऽन्याश्रय दोष युक्त हेतु है। इसी को अंग्रेज़ी में Arguing in a circle कहते हैं। परन्तु विवेक पुरस्सर स्वल्प विवेचन से ही यह प्रतीत होता है कि यहां पर इस आक्षेप का अवसर ही नहीं और न अन्य ही कोई आक्षेप इसमें हो सकता है। जैसे रूपमात्र के बोधार्थ केवल चक्षु ही प्रमाण हैं, और रूपप्रतीति ही चक्षु इन्द्रिय के अस्तित्व का बोधक है। यदि जगत् में रूप का अभाव होता तो चक्षु इन्द्रिय के अस्तित्व का बोध भी असंभव हो जाता। यही दशा सब इन्द्रियों तथा उनके शब्द स्पर्श आदि विषयों की है। ये परस्पर ही एक दूसरे के सद्भाव को प्रमाणित करते हैं। साधारणतया जगत् में यही प्रचलित तथा प्रसिद्ध है कि चक्षु इन्द्रिय द्वारा रूप का बोध होता है। ऐसा कोई नहीं कहता कि रूप द्वारा चक्षु का बोध होता है। परन्तु फिर भी चक्षु आदि इन्द्रियों के सद्भाव की प्रमाणता तो रूपादि उनके विषयों से ही संभव है।

यदि हम शब्द रहित निर्जन स्थल में हों तो श्रवणेन्द्रिय युक्त होने पर भी श्रवण इन्द्रिय की श्रवण शक्ति रूप सम्पत्ति का हमें कुछ बोध न होगा। क्योंकि शब्द ही उसके बोध का एक मात्र हेतु है।

इसी प्रकार जगत् में यही विख्यात है कि चुम्बक लोहे को खींचता है। परन्तु यह भी तथ्य है कि लोहा भी चुम्बक को खींचता है। यह उनका आकर्षण पारस्परिक है। आकर्षण का अधिक बल या नियामकता गुरुत्व (भारीपन) में है। उन दोनों में जो भारी होगा, वह दूसरे को अपनी ओर खींच लेगा। लोहा हो अथवा चुम्बक दोनों में आकर्षण शक्ति विद्यमान है। लोहे के अभाव में चुम्बक का निर्णय असंभव है। ऐसी परिस्थिति में चुम्बक के बोध में लोहा ही एक मात्र कारण तथा हेतु ठहरता है।

ऐसे ही ईश्वर तथा वेद के विषय में उपर्युक्त दोष भी निर्मूल है। अनन्त संसार की विचित्र रचना तथा वेद का ज्ञान उस सर्व शक्तिमान्, सर्वज्ञ ईश्वर के अस्तित्व के बोधक हैं, तथा ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किये बिना वेद का अस्तित्व तथा प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। ईश्वर, ईश्वरीय ज्ञान वेद तथा ईश्वरीय शक्ति को पृथक् २ नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार अग्नि तथा उसकी दाहक शक्ति को। एक के अभाव (ध्वंस) से दोनों का अभाव हो जाता है। दाह शून्य अग्नि कोई सच्चा पदार्थ नहीं हो सकता। वह तो नाम मात्र ख-पुष्प के समान ही होगा। इसी प्रकार बृहत् वेद ज्ञान तथा अनन्त सामर्थ्य रहित ईश्वर भी नाम मात्र का ही ईश्वर होगा। अनन्त ज्ञान वेद तथा सामर्थ्य (शक्ति) की अपने आधार ईश्वर के बिना (अग्नि के बिना दाह की तरह) कल्पना भी नहीं की जा सकती। जैसे हमारा ज्ञान हमें छोड़ कर कहीं स्वतंत्र रूप से आकाश में नहीं लटक सकता। इसीलिए ऊपर उद्धृत ब्रह्म सूत्र "शास्त्रयोनित्वात्" वेदान्त (१,१,३) के प्रायः दो प्रकार के अर्थ किये जाते हैं। (१) ब्रह्म बृहत् वेद का कारण होने से सर्वज्ञ है तथा

(२) ईश्वर (ब्रह्म) के ज्ञान में परम प्रमाण (योनि=कारण) वेद है।

१६. श्रुति का परम प्रामाण्य

परमात्मज्ञान अन्य सब प्रमाणों का आधार है—हमारा गुरु हमारे ज्ञान का स्रोत है, जहां पर यह गुरु परम्परा समाप्त होती है। जो केवल गुरु ही है, किसी का शिष्य नहीं है, जिसका स्वरूप निरपेक्ष सत्तावान् तथा सूर्य समान स्वतः प्रकाश तथा स्वतः सिद्ध है (Self-existant, Self-luminous, Self-evident) है। जिस प्रकार सूर्य नभोमण्डल तथा भूमण्डल के प्रकाश तथा गर्मी का एक मात्र हेतु है; उसी प्रकार भगवद् ज्ञान ज्योति रूप वेद प्राणी मात्र के ज्ञान का आधार तथा मूल स्रोत है। अतएव वेद की परम प्रमाणता भी स्वतः सिद्ध है। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" कठोपनिषद् वल्ली (५,१५.)। "उस स्वतः प्रकाशमय परमेश्वर के ज्ञानमय प्रकाश से अन्य सब सूर्य चन्द्र आदि प्रकाशित होते हैं। उस भगवती ज्ञान ज्योति से सब स्थावर जंगम जगत् सत्तावाला तथा प्रकाशित हो रहा है।" भगवान् की ज्ञान ज्योति का नाम ही वेद है। उस स्वतः सिद्ध ज्ञान के विना जगत् के सर्वविध पदार्थ तथा प्रमाण चक्षु आदि अपनी सत्ता तथा प्रमाणत्व को ही सिद्ध नहीं कर पाते। ईश्वरीय ज्ञान ही प्रमाणों का प्रमाण है।

यह हमारा कितना अज्ञान तथा भ्रम है कि हम अल्पज्ञ, मूढ़ तथा नाशवान् प्राणियों की चञ्चल, मलिन तथा स्थूल बुद्धि, विषय लोलुप मन तथा बहिर्मुख चक्षु आदि इन्द्रियों को स्वतः सिद्ध, स्वतः प्रकाश और असंदिग्ध प्रमाण मानते हैं। और इनके आधार पर, नित्य शुद्ध, बुद्ध, सदा मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतः प्रकाश, स्वतः सिद्ध, स्वतंत्र, सच्चिदानन्दैकरसस्वरूप, ईश्वर की सिद्धि करना चाहते हैं। क्या यह सूर्य को प्रदीप से प्रकाशित करने के समान मूर्खता नहीं है। इसी विषय में न्याय कुसुमाञ्जलिकार कहते हैं :—

"साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ,
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः,
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः॥ न्याकु० ४,६.

"अनन्त, अचिन्त्य तथा अमोघ ज्ञानशक्ति से महेश्वर को त्रिलोकगत त्रैकालिक पदार्थों का साक्षात्कार रूप अनुभव सदा एक रस तथा अविच्छिन्न बना रहता है। उनका ज्ञान हमारे ज्ञान के सदृश आगमापायी, सादि, सान्त, सापेक्ष्य तथा वृद्धि-ह्रास युक्त नहीं होता। प्रत्युत स्वतः सिद्ध, निरपेक्ष्य, सदा एकरस रहने वाला होता है। परमेश्वर के ज्ञानमय संकल्प में प्रलय के अनन्तर, सर्ग के आरम्भ में, पूर्ववर्ति सर्वविध स्थावर जङ्गम पदार्थों को याथातथ्य उत्पन्न करने की सामर्थ्य रहती है। सर्वविध सृष्टि उसी ईश्वरीय संकल्प से उत्पन्न होती है; उसी में स्थिर रहती है तथा अन्त में उसी में लीन हो जाती है। "जन्माद्यस्य यतः" ब्रह्म सूत्र (१,१,२.) जिस ईश्वर के ज्ञानमय संकल्प मात्र से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होती है उसी की शरण लेनी चाहिए। इसी बात को श्रुति

कहती है :—"'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व" तैतिरीयोपनि० (३,१)।

इसलिए अज्ञानजन्य सर्वविध दोषों से विमुक्त नित्य शुद्ध, स्वतःप्रकाश, सर्वज्ञ, सच्चिदानन्दघनस्वरूप ईश्वर तथा उसका वेदरूप ज्ञान ही हमारे लिए परम प्रमाण है। न कि सर्वविध दोष तथा शङ्काओं का स्थलभूत और अज्ञानजन्य अनेक विभ्रमादि त्रुटियों का आगार अल्पज्ञ मनुष्यों का प्रत्यक्ष, अनुमानादि। तात्पर्य यह है कि हमारे लिए सदा, सर्वज्ञ, सर्वत्र, सर्वावस्था में निरपेक्ष निष्कलङ्क तथा परमप्रमाण शिव (ईश्वर) ही है।"

१७ प्रत्यक्ष, अनुमान तथा श्रुति के तुलनात्मक विचार द्वारा श्रुति की अपूर्वता

यहां पर यह प्रश्न होता है कि श्रुति तथा उपनिषद् आदि में ब्रह्म विषय के अनेक प्रमाण मिलते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों का भी इस विषय में कुछ विवेचन होना चाहिए।

१८. प्रत्यक्ष प्रमाण विवेचन

१९. वैदिक प्रत्यक्ष

आप्त पुरुष का प्रत्यक्ष—ऐसे आप्त पुरुषों के प्रत्यक्ष के विषय में हम पूर्व भी लिख चुके हैं, जिनका अन्तःकरण भगवदर्पण बुद्धि से वर्णाश्रमोचित शास्त्रोक्त कर्म करते २ तथा योग आदि द्वारा शुद्ध हो चुका है। उनके अनुभवयुक्त वचन तो श्रुति का समर्थन करते ही हैं। परन्तु उनके वचनों की सार्थकता तथा प्रमाणत्व की झलक उनके निर्भीक, आनन्दमय मस्ती भरे जीवनों तथा विषय लोलुप अज्ञानियों और नास्तिकों के दुःखमय शोकग्रस्त भयभीत जीवनों के भेद से स्पष्ट प्रगट होती है। ऐसे आप्त पुरुषों का मौनमय संग तथा एक दो वचन कट्टर नास्तिकों के जन्म जन्मान्तरों के संशय तथा अश्रद्धा आदि दोषों की कालिमा को धो डालते हैं। उनका मुख मण्डल सदा आनन्दमय-ज्योति, तेज तथा ओज से देदीप्यमान रहता है। वे आध्यात्मिक आकर्षण शक्ति की साक्षात् मूर्ति होते हैं। प्राणिमात्र उनकी ओर स्वभावतः ही आकृष्ट हो जाता है। उनके वचन मधुर, प्रिय तथा मार्मिक होते हैं। वे अपने स्वतः प्रमाणत्व को सच्चे जिज्ञासुओं के हृदयों में अनायास ही स्थापित कर देते हैं। जिज्ञासु का हृदय उनके दर्शनमात्र से निःशङ्क होकर हर्षोत्फुल्ल हो उठता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर सूर्यमुखी फूल स्वभावतः ही खिल उठते हैं। यदि सूर्य के उदय होने पर भी उल्लू को कुछ नहीं दीखता तो क्या इतने मात्र से सूर्य अन्धकारमय सिद्ध हो जाता है? आत्मवेत्ता पुरुषों के वचनों का प्रभाव तो अकथनीय होता ही है। उनकी मौन मुद्रा भी दर्शकों के हृदयंगत अज्ञानजन्य संशय, भ्रान्ति तथा अश्रद्धारूपी ग्रन्थियों को क्षणमात्र के संपर्क से छेदन भेदन कर देती है, और अपने स्वतः प्रमाणत्व को विना किसी हेतु के उनपर सिद्ध करती है। उनकी यह मौनमयी भाषा साधारण लौकिक भाषा से निराली होती है। इस प्रकार के महापुरुषों का दिव्य जीवन उनके अखण्ड तथा अद्वितीय आनन्द की अनुभूति में प्रमाण है। उनके तेजोमय पवित्र जीवन के सामने शुष्क तर्क इस प्रकार

तुरन्त भस्मसात् हो जाता है जैसे अग्नि के सामने तृण। वे ही सर्वविध प्रमाणों को वास्तविक प्रमाणता प्रदान करते हैं। वे इस शब्द प्रमाण की भी आधारशिला हैं। चौंसठ विद्या विशारद, शब्द ब्रह्म की साक्षात् मूर्ति तथा तर्कनिपुण श्री नारदऋषि सरीखे भी ऐसे तत्त्व वेत्ताओं की शरण में आकर अपनी शोकज्वाला की शान्ति के के लिए, परमबोध रूप परम सुख की अभ्यर्थना करते हैं। "अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः" छान्दोग्य (७,१) "तरति शोकमात्मवित् मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु" (७,१,३) ऐसे महापुरुष ही संसार के अज्ञान, मौलिक कुरीतियों तथा अन्याययुक्त आचरण का विरोध करते हैं। उन्हें चक्रवर्ति सम्राट् का भी तनिक भय नहीं होता। वे सत्य के लिये अपने प्राणों की होली आनन्द से खेल जाते हैं। विष को अमृत के समान पी जाते हैं, कारागारों को स्वर्ग के उन्नत प्रासाद समझते हैं। शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा, सुख-दुःख आदि दारुण द्वन्द्व उन्हें सत्य तथा न्याय के मार्ग से विचलित नहीं कर सकते।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ भर्तृहरि नीतिशतक ७४"

"धीर पुरुषों की नीतिविशारद जन निन्दा करें या स्तुति करें, उनके पास संसार भर की लक्ष्मी आजाए, या आई हुई चली जावे; उन्हें यमराज चाहे आज ही अपना ग्रास बनाले या वे कल्पान्तर पर्यन्त जीवित रहें; परन्तु उन्हें सत्य और न्याय के मार्ग से कोई व्यक्ति, पदार्थ, दृश्य, सौन्दर्य, प्रलोभन तथा भय एक पद भी विचलित नही कर सकता। वे मरण पर्यन्त सत्य मार्ग पर ही आरूढ़ रहते हैं। न्याय तथा सत्यपथ से भ्रष्ट न होने को ही वे परमार्थ का उच्च साधन तथा स्वरूप समझते हैं।

२०. लौकिक प्रत्यक्ष

प्राकृतिक जन प्रत्यक्ष

विधाता ने पांच ज्ञानेन्द्रियों की रचना बहिर्मुख की है। ये अपने अपने रूपादि क्षणभंगुर तथा परिणामी विषयों को ग्रहण करती हैं। सच्चिदानन्दैकरस, अपरिणामी, नित्यतत्त्व तक इनकी गति नहीं है। साधारण, अस्थिर, अस्वच्छ तथा स्थूल बुद्धि भी परतत्त्व ग्रहण के लिए नितराम् असमर्थ है। यह बेचारी तो दया, लज्जा तथा भय आदि मानसिक विकारों को ही कथञ्चित् ग्रहण कर सकती है। वह भूमातत्त्व इन परिच्छन्न साधनों की पहुंच से सर्वथा परे है। वह अखण्ड तत्त्व वाङ्मनसागोचर है। "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो" केनोप० (१,३,८) उस परतत्त्व तक मन, वाक् तथा चक्षु आदि इन्द्रियां नहीं पहुंचती। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" तैत्तिरीय० (२,६) "सामान्य संसारी के मन, बुद्धि तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियां तथा वागादि कर्मेन्द्रियां जिस सच्चिदानन्दैकरस पर ब्रह्म के स्पर्शन, दर्शन, कथन, श्रवण तथा अनुभव में

सर्वथा असमर्थ हैं। साधन सम्पन्न, स्थिर-स्वच्छ-सूक्ष्मबुद्धियुक्त मुमुक्षु उसी परमानन्द भूमातत्त्व के हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा सर्वतो निर्भय, अजर, अमर, पद को प्राप्त करता है।"

चक्षु आदि इन्द्रियां तथा मन भी एक प्रकार का विकार ही हैं। इनका क्षण २ में परिणाम अनुभव गोचर हो रहा है। जैसे परिणामशील बाह्य पदार्थों का आधार तथा मूलकारण कोई अन्य स्थिर, परिवर्तन रहित, निर्विशेष, निर्विकार परतत्त्व है। वैसे ही इन चक्षु आदि बाह्यकरणों तथा मन आदि अन्तःकरण का मूल कारण भी वही कूटस्थ है। इनकी स्थिति तथा नियति आदि का नियामक तथा व्यवस्थापक वही कूटस्थ है। इसलिये यह अन्तर्बाह्यकरण उसे कैसे ग्रहण कर सकते हैं। जैसे एक पुत्र अपने पिता को उत्पन्न करने में असमर्थ होता है; उसी प्रकार ये भी उसके ज्ञान में असमर्थ हैं। "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।" (केन० १,२) "वह ब्रह्म कान का कान, मन का मन, वाणी की वाणी, प्राण का प्राण तथा चक्षु का चक्षु है। तात्पर्य यह है कि जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों को अपने अपने विषय में नियमन करके उनकी उपलब्धि का हेतु तथा सामर्थ्य दाता है वही ब्रह्म है। ये सब करण ग्राम उसके विना स्व-विषय ग्रहण में सर्वथा निस्तेज तथा असमर्थ होते हैं।

"A pair of tongs can catch almost any thing else, but how can it turn back and grasp the fingers which hold it. So the mind or intellect can in no wise be expected to know the great unknowable, which is its very Source." (Rama's in woods of God realisation Vol. V. P. 1,2,1)"चिमटा प्रायः अन्य हरेक वस्तु को पकड़ सकता है। परन्तु वह लौट कर उन उंगलियों को कैसे पकड़ सकता है जो उसको थामे हुए हैं।

२१. अनुमान विवेचन

२२. अनुमान प्रमाण की अद्वितीय, असंग तत्त्व में अगति

अनुमान प्रमाण का आधार साध्य-साधन का व्याप्तिसम्बन्ध है। अर्थात् पूर्व यत्र तत्र साधन (धूम) को साध्य (अग्नि) के सहित ही देखा हो, तो इस अव्यभिचारी संबन्ध के आधार पर किसी अन्य स्थल पर्वत आदि पर साधन-हेतु (धूम) के ज्ञान से साध्य (अग्नि) का ज्ञान अनुमान कहलाता है। परन्तु जिसको कहीं पहिले प्रत्यक्ष किया ही न हो और जो अखण्ड अद्वितीय तत्त्व साधन साध्य संबन्ध का विषय ही न हो। जो सर्व संबंध रहित असंग हो, असंगोऽयंपुरुषः—यह अनादि तत्त्व संग रहित है'। (बृहदारण्यक)। ऐसे तत्त्व के संबंधी का ज्ञान कैसे हो सकता है? जिसके द्वारा उस मूल तत्त्व का अनुमान किया जा सके। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह भूमा, पर ब्रह्म तत्त्व अनुमानगम्य नहीं है।

२३. कार्य से कारण का अनुमान तथा अखण्ड तत्त्व में इसका उपयोग

यदि सामान्य कार्य कारण भाव को लेकर विचार किया जाए, कि जैसे घट-शरावादि विकारों का मूल स्थिर विकार रहित मृत्तिका है। वैसे ही इस सर्व विकारमय जगत् का भी कोई स्थिर, कूटस्थ, निर्विकार तत्त्व ही मूल कारण है। वही ब्रह्म है।

यद्यपि इस प्रकार का अनुमान, कार्य के अपने कारण का निश्चायक होता है। तथापि ऐसे अनुमान से वस्तु का सामान्यज्ञान ही संभव होता है। इससे उसके स्वरूप का विशेष ज्ञान संभव नहीं है।

२४. सामान्यतोदृष्ट अनुमान का विषय

"श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्" योगसूत्र (१,४९) "निर्विचार समाधि से उत्पन्न होने वाली, तथा परम सत्य को ग्रहण करने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय शब्द तथा अनुमान प्रमाणों के विषयों से सर्वथा भिन्न होता है। क्योंकि शब्द तथा अनुमान का विषय तो वस्तु का सामान्य स्वरूप होता है और ऋतम्भरा बुद्धि का विषय उनसे अत्यन्त विलक्षण वस्तु का विशेष स्वरूप होता है। यही कारण है कि अनुमानजन्य ज्ञान पूर्ण ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत अधूरा ज्ञान होता है। एवं संबंध रहित भूमा आत्मतत्त्व के संबंधी के अभाव के कारण अनुमान प्रमाण द्वारा उसका ज्ञान कदापि संभव नहीं है।

२५. अनुमान की वास्तविक सामर्थ्य

वास्तव में परतत्त्व के ज्ञान के संबंध में अनुमान प्रमाण की सामर्थ्य केवल यहीं तक सीमित है कि इसके द्वारा प्रतिपक्षी द्वारा किये गए परतत्त्व विषयक असंभावना दोष के आक्षेप को निवृत्त किया जावे। और यह प्रतिपादित किया जाये कि अखण्ड भूमातत्त्व कोई असंभव तत्त्व नहीं है, प्रत्युत उसकी सत्ता संभव है। उस पर तत्त्व का याथातथ्य स्वरूप क्या है, यह अनुमान का विषय ही नहीं है। इसके लिए अनुमान का प्रयोग करना, इसकी सामर्थ्य से अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित करना है।

२६. श्रुति और अनुमान की परस्पर तुलना

२७. श्रुति और अनुमान का सम्बन्ध

अनुमान जिज्ञासु की यत्किञ्चित् सहायता श्रुति प्रतिपादित तत्त्व में बुद्धि प्रवेशार्थ कर सकता है। स्वयं इसकी सामर्थ्य नहीं कि यह उस श्रौत तत्त्व को यत्किञ्चित् समझ सके। इसलिए इस अनुमान को तद्विषयक स्वतंत्र प्रमाण नहीं कहा जा सकता। श्रुति स्वामिनी है और अनुमान इसका अनुग्राहक रूप सेवक है। जिसका कर्त्तव्य श्रुति प्रतिपादित तथ्य का येन केन प्रकारेण समर्थन, अनुमोदन तथा रक्षा करना है, न कि उसका खण्डन करना। जो लोग अनुमान के बल पर श्रुति प्रतिपादित सिद्धान्तों का खण्डन करते या करना चाहते हैं, उन्हें अनुमान की वाङ्मनसागोचर तत्त्वविषयक सामर्थ्य तथा प्रयोजन को भली भान्ति जानना चाहिए। क्योंकि अनुमान श्रुति के खण्डनार्थ नहीं है; अपितु तत्प्रतिपादित सर्वसिद्धान्तों का पञ्चावयवी वाक्य तथा तर्क द्वारा पूर्णरीत्या मण्डन के लिए है। इसी में इस प्रमाण की सार्थकता है, यह अपने स्वतंत्र बल के आधार पर श्रुति की परीक्षा नहीं कर सकता। निर्भ्रान्त, सत्यज्ञानरूप, सर्वज्ञ, ईश्वरप्रदत्त, तत्त्व का प्रतिपादक वेद (श्रुति) किसी अल्पमति मनुष्य की कुतर्क बुद्धि द्वारा रचित अनुमान से खण्डित नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में स्वतःसिद्ध त्रिकाला-बाध्य परम तथ्य श्रुति का विरोधी होने से अनुमान स्वयं मिथ्या सिद्ध हो जाता है। जैसे किसी मृत प्राणी को देख कर यह तो अनुमान किया जा सकता है कि इसकी मृत्यु आघात

विशेष से, विषपान से, या किसी अन्य कारण से हुई है। परन्तु किसी अनुमान या हेतु द्वारा उस मृत को जीवित सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा करने का यत्न किया जाय तो वह अनुमान या हेतु स्वयमेव खण्डित हो जाता है। क्योंकि अनुमान किसी अन्य प्रबल प्रमाण द्वारा निर्णीत सिद्धान्त का विरोध नहीं कर सकता। वह संभव को असंभव या असंभव को संभव सिद्ध नहीं कर सकता।

२८. स्वतंत्र तर्क की अप्रतिष्ठा

भौतिक विज्ञान में पदार्थों के बाह्य स्वरूप के अतिरिक्त अनुमान के आधार पर जितने सिद्धान्त (Theories) उपस्थित किये जाते हैं, वे केवल संभावना मात्र होते हैं; अत एव समय समय पर परिवर्तित होते रहते हैं। और कभी २ एक ही समय भिन्न २ विद्वानों द्वारा परस्पर विरुद्ध सिद्धान्त भी उपस्थित किये जाते हैं। इसी लिए परम हितैषिणी श्रुति कहती है कि—"नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठ० २,६) "आगम (वेद) प्रतिपाद्य आत्मज्ञान विषयिणी बुद्धि कोरे तर्क की ऊहापोह से प्राप्त नहीं हो सकती।" "तर्काप्रतिष्ठानात्" (ब्रह्मसूत्र २,१,११.) "आगम गम्य अर्थ का केवल श्रुति निरपेक्ष तर्क से खण्डन नहीं हो सकता। क्योंकि निराधार तर्कजन्य मानवीय कल्पना की प्रतिष्ठा शक्य नहीं। क्योंकि बहुत प्रयत्न से किसी एक तार्किक की तर्क से अनुमित अर्थ किसी दूसरे श्रेष्ठ तार्किक द्वारा खण्डित किया जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रायः दो तार्किकों का परस्पर एक विषय में मतभेद होता है। अतः पुरुषों की मति विभिन्न होने के कारण तर्क अत्यन्त अप्रतिष्ठित है। तर्क द्वारा किया गया निर्णय अबाध्य तथा अन्तिम तथ्य नहीं हो सकता। महाभारत भीष्मपर्व में कहा गया है कि—"अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" (५,१२) "परमात्मा, धर्म, तथा अन्य स्वर्गादि विषय मानवीय बुद्धि के नहीं हैं, अत एव अचिन्तनीय हैं। उनको श्रुति निरपेक्ष तर्क से जांचने का कदापि प्रयत्न न करे। "By love He may be begotten, by thonght never" (Rysbrook) भक्ति तथा प्रेम से ही भगवान् के दर्शन तथा उपलब्धि हो सकती है केवल विचार से कदापि नहीं।"

२९. श्रुति की अपूर्वता

लोक में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द आदि अनेक प्रमाणों से एक विषय का निश्चय किया जाता है। इन प्रमाणों का उपयोग निश्चय करने में कहीं तो पृथक् २ तथा कहीं २ समुच्चय रूप से किया जाता है। जैसे कहीं पर अग्नि का बोध प्रत्यक्ष से, कहीं अनुमान से तथा कहीं शब्द से होता है। ऐसे स्थलों में जहां किसी दूसरे प्रमाण से काम चल सकता हो, किसी एक प्रमाण की अनिवार्य आवश्यकता नहीं सिद्ध होती। क्योंकि इसके विना भी तो किसी न किसी प्रकार से दूसरे प्रमाणों से निर्वाह हो ही जाता है। परन्तु जब किसी क्षेत्र में प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से किसी एक के विना कार्य सिद्धि असम्भव हो अथवा उसके विना विषय का बोध ही न हो सके, तब उस प्रमाण की अनिवार्य आवश्यकता तथा अनन्य हेतुता सिद्ध होती है। जैसे रूप का प्रत्यक्ष करने के लिए चक्षु की अनिवार्य आवश्यकता होती है, चक्षु के विना रूप का प्रत्यक्ष असंभव है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध आदि विषयों के प्रत्यक्ष के लिए श्रोत्र, त्वक्,

रसना तथा घ्राणेन्द्रियों की अनिवार्य आवश्यकता है। उस इन्द्रिय के विना उस विषय का बोध नहीं होता। यद्यपि रूपदर्शन से हम रस तथा स्पर्शादि का अनुमान द्वारा कुछ सामान्य बोध प्राप्त करते हैं; परन्तु यह आवश्यक नहीं कि रूपदर्शन मात्र से हमने रस, स्पर्शादि का जो आनुमानिक निश्चय किया है वह सर्वथा ठीक ही हो। घुणाक्षर न्याय से वह कभी ठीक भी हो सकता है और कभी ठीक नहीं भी हो सकता। इसलिए ऐसी परिस्थिति में यहां पर अनुमान की अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि रसज्ञान के लिए रसना तथा स्पर्शज्ञान के लिए त्वक् इन्द्रिय की ही अनिवार्य आवश्यकता तथा अनन्य हेतुता होती है।

जगत् के कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिनका निश्चय प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों द्वारा हो सकता है। ऐसे विषयों के सम्बध में आप्त विद्वानों ने लौकिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा जिन तत्त्वों का अन्वेषण किया तथा बोध प्राप्त किया है, अन्य लोग उन आप्त पुरुषों के वचन को प्रमाण मानकर शब्द प्रमाण द्वारा उन तत्त्वों का बोध प्राप्त कर सकते हैं। और इस प्रसंग में उनके वचनों की शब्द प्रमाण में गणना हो सकती है। परन्तु उनके वचनों के विना भी कोई योग्य व्यक्ति स्वयं केवल प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों द्वारा उस तत्त्व को, चाहे तो जान सकता है। अतः जिन पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों द्वारा होना संभव है, उनके बोध के लिए शब्द प्रमाण की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जैसे कि रूप ज्ञान के लिए चक्षु की अनिवार्य आवश्यकता होती है। चक्षु के विना रूप का ज्ञान कदापि संभव नहीं है और रूपज्ञान के लिए रसना, त्वक् आदि अन्य बाह्य करणों की अपेक्षा भी नहीं है। इसी प्रकार शब्द प्रमाण की भी अनिवार्य आवश्यकता, अनन्य हेतुता वहीं पर होती है जहां कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की सर्वथा गति न हो। जिस विषय का निर्भ्रान्त, असंदिग्ध तथा पूरी तरह ज्ञान, प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से नहीं हो सकता, उसी विषय के बोध के लिए शब्द प्रमाण की अपूर्वता सिद्ध हो सकती है।

हम पहले भी सिद्ध कर चुके हैं कि अखण्ड, अद्वितीय, भूमातत्त्व (ब्रह्म), ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, धर्म, कर्मफल तथा स्वर्गादि विषयों के बोध के लिए प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण सर्वथा कुण्ठित और असमर्थ हैं। इसीलिए इन विषयों में प्राकृतिक धुरन्धर तथा प्रकाण्ड विद्वानों का, जो श्रुति की अपेक्षा नहीं समझते, मतभेद है। अत एव इन विषयों के वास्तविक स्वरूप ज्ञान के लिए एकमात्र निरपेक्ष भगवज्ज्ञानवेद (शब्द) ही परम प्रमाण है। यही शब्द प्रमाण का अपूर्व विषय है। इन विषयों में ही शब्द की अनन्य हेतुता, असाधारण कारणता तथा अनिवार्य आवश्यकता है। इसके विना हमें मानव जीवन के आधारभूत ऊपर वर्णित इन परम रहस्यमय तत्त्वों के बोध से वञ्चित ही रहना पड़ता। इसके लिए हमें विनम्र तथा पूर्ण श्रद्धा विश्वासयुक्त हृदयों से उस परम कारुणिक, प्राणीमात्र के उद्धार करनेवाले, दयानिधि भगवान् का सहस्रवार धन्यवाद करना चाहिए।

३०. हेतु, तर्क, अनुमान का कार्य-क्षेत्र

हम उपर्युक्त तथ्य को दृष्टि में न रखते हुए ही केवल तर्क तथा अनुमान

के बल पर प्रत्येक तथ्य को पूर्णतया समझ लेने की बल पूर्वक प्रतिज्ञा किया करते हैं। परन्तु भौतिक विज्ञान तथा अनुमान (Reason) का कार्य-क्षेत्र केवल इन्द्रियगोचर तत्त्व तथा उनके परस्पर सम्बन्ध पर्यन्त ही सीमित है। परस्पर सम्बन्ध ज्ञान में भी ये अधूरे ही हैं। इस क्षेत्र में भी कई प्रकार की कल्पनाओं से काम चलाना पड़ता है। यह काल्पनिक निश्चय भ्रान्त भी हो सकता है। यदि किसी अंश में निर्भ्रान्त भी हो तो भी वह तद्विषयक सामान्य निरूपण मात्र ही होता है, परन्तु उसे किसी प्रत्यक्षानुभूत तथ्य की श्रेणी में रख दिया जाता है। जैसे चुम्बक को लोहे को खींचते देखकर हम चुम्बक में आकर्षण शक्ति का अनुमान करके उस व्यवहार का नाम शक्ति रख देते हैं। इस आकर्षण व्यवहार के कारण विशेष स्वरूप आदि का कुछ बोध नहीं होता। अनुमान तो केवल कल्पना मात्र ही है। अनुमान शब्द की निरुक्ति ही इसकी सामर्थ्य तथा कार्य क्षेत्र को स्पष्ट रूप से प्रकट कर रही है। (अनु) प्रत्यक्षादि प्रमाण परीक्षा के अनन्तर पुनः उसी को (मान) जिस प्रमाण से परीक्षित किया जाय, उसको अनुमान कहते हैं। (परीक्षितार्थः पुनर्मीयतेऽनेन मानेनेति अनुमानम्, यद्वा अनुमिनोति इत्यनुमानम्, अथवा अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम्) मान-तोल-माप-बोध तदनन्तर पुनः मान-तोल, बोध अर्थात् जिसका पूर्व किसी अन्य साधन, मान, प्रत्यक्षादि प्रमाण से ज्ञान हो चुका हो उसका पुनः तर्क, हेतु, द्वारा मान, बोध करना। इसका स्थान गणित में कांटे के समान है जिसके द्वारा पूर्व प्राप्त किसी उत्तर की अभ्रान्तता निश्चित की जाती है। यह उत्तर खोजने की साक्षात् स्वतन्त्र विधि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष तथा शब्दादि प्रमाणों द्वारा निर्धारित तत्त्व के बोध में कुछ सहायता कर सकता है। अथवा उसी के आधार पर कुछ तत्सम्बन्धित अन्य उपलब्धि में हेतु बन सकता है। इसके अतिरिक्त इसका कार्यक्षेत्र प्रधानतया व्यक्त इन्द्रिय ग्राह्य जगत् है। मूलतत्त्व के विषय में यह कुण्ठित हो जाता है, वहां पर इसकी गति नहीं है।

चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के क्षेत्र में भी इसकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं होती। क्या किसी पदार्थ के रूप का निरपेक्ष अनुमान द्वारा बोध हो सकता है? इसका उत्तर नकारात्मक ही है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि अनुमान व्यक्त जगत् के रूप रस आदि पदार्थों के बोध का भी स्वतंत्र कारण नहीं हो सकता। बाह्य इन्द्रिय गम्य पदार्थों के सम्बन्ध के विषय में संदिग्ध, नित्य-परिणामी, कुछ कल्पना मात्र कर सकता है। मूलतत्त्व ब्रह्म, ईश्वर, जीव, परलोक तथा धर्म आदि के विषय में भी इसकी गति नहीं है। हां! श्रुति का सहारा लेकर श्रुति द्वारा प्रतिपादित तत्त्व की संभावना के निश्चय मात्र का हेतु हो सकता है।

३१. अखण्ड, अद्वितीय तत्त्व विषयक ज्ञानपिपासा की निवृत्ति में अनुमान की असमर्थता

ऊपर के विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि अनुमान, तर्क (Reason) आदि में पर-तत्त्व के बोध कराने की सामर्थ्य नहीं रखते। इसलिए हमारी पर-तत्त्व विषयक ज्ञानपिपासा की निवृत्ति के लिए ये पर्याप्त साधन नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मुख्यतया केवल प्रत्यक्ष पर जीवन निर्वाह करने वाले पशुओं की अपेक्षा मनुष्य

ने इन तर्क अनुमान आदि के सहारे बहुत कुछ उन्नति की है, भौतिक विज्ञान ने अनेक आविष्कार किये हैं। मनोविज्ञान (Psychology) के अन्वेषण में पर्याप्त प्रगति की है। यह सब सराहनीय है। पाशविक इन्द्रियों की ऐहिक भोग सामग्री में भले ही इसका महत्त्व अधिक हो, परन्तु क्या इस भौतिक विज्ञान ने हमारी पारमार्थिक मनुष्योचित समस्याओं का समाधान किया है ? क्या मानव-समाज की व्यवस्था इन्हें इतना अधिक महत्त्व देने से ढीली नहीं हो गई है ? क्या भाई-भाई, माता-पिता, जाति-जाति, देश-देश आदि का नित्य नया कदापि न मिटनेवाला पारस्परिक वैमनस्य तथा कलह, किसी न्यूनता की घोषणा नहीं कर रहा ? क्या यह किसी अन्तरतम गुह्य तत्त्व के अन्वेषण की आवश्यकता की ओर संकेत नहीं कर रहा ? जिस मूल तत्त्व को भूल जाने के कारण हमारी मानवीय सभ्यता का भौतिक विशाल मन्दिर स्थान २ से जर्जरित होकर बुरी तरह से गिर रहा है। रसायन शास्त्र (Chemistry), भौतिकी (Physics), भूविद्या (Geology), जीवन विज्ञान (Biology), शरीर शास्त्र (Anatomy), चिकित्सा शास्त्र (Medicine), ज्योतिष शास्त्र (Astronomy), मनोविज्ञान (Psychlogy), आचार शास्त्र (Ethics), तर्क शास्त्र (Logic), इत्यादि विज्ञानों से निर्मित प्रासाद को किसी अखण्ड शिला के आधार की अपेक्षा है। इस संपूर्ण भौतिक विज्ञान (Physical Science) का आधार अध्यात्म (Metaphysics) है। अनुमान तो अध्यात्म के विषय में केवल कल्पना कर सकता है। वह मूल तत्त्व के साक्षात् दर्शन में निर्भ्रान्त तथा स्थिर साधन नहीं हो सकता।

३२. मूल तत्त्व सम्बन्धी अज्ञेयवाद की भ्रान्ति के कारण

यदि अनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई विचित्र, दिव्य, शक्तिसम्पन्न साधन परतत्त्व को साक्षात्कार करने के लिए जगत् में नहीं है, अथवा साधन के होते हुए भी मनुष्य के लिए उसकी उपलब्धि इसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार पशु के लिए वाक् शक्ति की, तो फिर परतत्त्व विषयक मानवीय पिपासा की शान्ति हो ही नहीं सकती। अनेक युरोपियन दार्शनिकों ने केवल (Reason) कोरे शुष्क तर्क के आधार पर ही मूल तत्त्व को अज्ञेय कहा है। क्योंकि वे केवल तर्क की ही शरण लेने वाले हैं। यह तो निश्चित सत्य है कि श्रुति निरपेक्ष तर्क से मूलतत्त्व अज्ञेय ही है। मूलतत्त्व सम्बन्धी अदम्य जिज्ञासा और तर्क (Reason) की इस जिज्ञासा-पूर्ति में असफलता ही इस विषय में किसी अन्य विलक्षण प्रमाण के अस्तित्व के द्योतक हैं। जैसा कि ऊन पर भी लिखा जा चुका है कि तर्क (Reason) और सामान्य बुद्धि (Intellect) तक ही मानवीय बुद्धि के विकास का अन्त नहीं हो जाता।

सामान्य बुद्धि (Intellect) तो पिपीलिका सदृश अति मन्द गति से किसी तत्त्व को प्रमाणित करती है। परन्तु न्यूटन तथा शंकर सरीखे प्रतिभा संपन्न (Genius) व्यक्तियों के आविष्कार यह सिद्ध करते हैं कि सामान्य बुद्धि (Intellect) को यदि बैलगाड़ी समझा जावे तो आभ्यन्तर दिव्य चक्षु (Intuition) को शक्तिशाली हवाई जहाज मानना पड़ता है। यह दिव्य आभ्यन्तर चक्षु (Intuition) किसी तत्त्व को विना किसी क्रम के तुरन्त यूं ग्रहण करती है और ऐसे हस्तामलकवत् देखती है जैसे कि रूप को आंख।

उस दिव्य साधन को मूलतत्त्व के ग्रहण करने के लिए सामान्य बुद्धि की तरह विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता और न ही किसी प्रकार की आनुमानिक कल्पना से सहायता लेनी पड़ती है। यही कारण है कि उसमें किसी प्रकार का संदेह या भ्रान्ति का लवलेश भी नहीं होता। वह उसका सर्वथा निर्भ्रान्त तात्विक प्रत्यक्ष ही होता है। ऐसे दिव्य साधन संपन्न महापुरुष का वचनमात्र ही सर्वसाधारण जन के लिए इस विषय में प्रमाण है। मूलतत्त्व सम्बन्धी अज्ञेयवाद के निम्नलिखित दो कारण हैं :—

(क) श्रुति निरपेक्ष केवल शुष्क तर्क (Reason) बुद्धि को ही परम प्रमाण मानना। किन्तु इनकी तो मूलतत्त्व तक गति ही नहीं है। जैसे श्रोत्र इन्द्रिय की गति रूप प्रत्यक्ष में नहीं है। (विस्तृत विवेचन ऊपर हो चुका है।)

(ख) मूलतत्त्व को जड़ मानना। (व्याख्या आगे की जा रही है।)

३३. मूलतत्त्व के ज्ञान की आकांक्षा तथा श्रुति

मूलतत्त्व के ज्ञान की आकांक्षा ही हमें यह स्वीकार करने के लिए बाधित करती है कि वह मूलतत्त्व चेतन हो। यदि वह सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता ही जड़ हो तो वह स्वयं ही अपने स्वरूप तथा अस्तित्त्व से अनभिज्ञ होगा। ऐसी परिस्थिति में उसकी सन्तान बुद्धि आदि तो वहां क्या पहुंच सकेंगे। चेतन मान लेने पर भी यह आकांक्षा अनिवार्य है कि वह पशुवत् मूक न हो। उसके पास वाणी हो जिसके द्वारा वह अपने स्वरूप का संकेत तो कर सके। जिस संकेत को पाकर हम उसके स्वरूप को समझकर, उसकी प्राप्ति तथा अनुभूति का साधन कर सकें, और साथ ही अपनी अनुभूति की परीक्षा भी कर सकें कि ठीक उसी मूलतत्त्व को हमने पा लिया है, जिसका कि उसने हमें अपनी वाणी द्वारा संकेत किया था।

उस चित्स्वरूप परम तत्त्व ब्रह्म की वाणी ही वेद है। इसको दूसरे शब्दों में शब्द ब्रह्म कहते हैं। यही उस परमतत्त्व ब्रह्म तथा अन्य धर्मादि में स्वतः निरपेक्ष निर्भ्रान्त एकमात्र परम प्रमाण है। "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (तै० ब्रा० ३,१२,६,७) "वेद को न जानने वाला उस सर्व जगत् के कारण, अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, ब्रह्म को केवल तर्क से नहीं जान सकता। क्योंकि ब्रह्म (ईश्वर) को जानने के लिए केवल वेद ही परम प्रमाण है। जैसे पिता के ज्ञान के लिए पिता अथवा माता के वचन ही प्रमाण होते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के ज्ञान के लिए ईश्वरीय ज्ञान के भण्डार स्नेहमयी वेद माता के वचन ही प्रमाण हो सकते हैं। उसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं जिसके द्वारा उस परमतत्त्व भूत ईश्वर का ज्ञान हो सके। "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० उ० ३,६,२६) "जिज्ञासु विनम्र भाव से ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय से विनय करता है कि भगवन्! मैं उस उपनिषद् (वेदान्त) प्रतिपादित परमतत्त्व, ब्रह्म पुरुष को जानना चाहता हूं। कृपया उसके विषय में बताकर मुझे कृतार्थ करें। वास्तव में संपूर्ण वेदान्तवाक्यों (उपनिषदों) तथा वेदों का परम तात्पर्य ब्रह्म के वर्णन में ही है। ब्रह्म का पूर्णतया वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता। यदि इस समय अन्यत्र कुछ वर्णन मिलता भी है तो उसका मूल स्रोत वेद ही है। जैसे सब प्रकार के मिष्टान्नों में मधुरता खाण्ड की ही होती है। "In the whole world there is no study except that of the originals so benificial

and so elevating as that of Upanishads. It has been the solace of my life it will be the solace of my death. Schopenhaur.

३४. श्रुति प्रतिपादित तत्त्व की अनुभूति के साधन

जैसे ऊपर वर्णन हुआ है कि मूलतत्त्व के विषय में परम तथा अपूर्व प्रमाण श्रुति ही है, सामान्यतया भूलोकवासी मनुष्य को इसके अतिरिक्त अन्य साधन या प्रमाण से उसका बोध नहीं हो सकता। जैसे चक्षु के बिना रूप का बोध असंभव है। इस परम प्रमाणभूत श्रुति के उपयोग के लिए अनन्य श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक तथा अनिवार्य है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हमें अन्त तक केवल अपनी अनन्य श्रद्धा से ही श्रुति प्रतिपादित तत्त्व के, श्रद्धाजन्य सामान्य परोक्ष ज्ञान पर ही निर्भर रहकर सन्तोष करना पड़ेगा। श्रुति केवल मूलतत्त्व का वर्णन ही नहीं करती प्रत्युत इसके साक्षात्कार के लिए उपयोगी साधनों का भी निरूपण करती है। इतने मात्र से श्रुति के महत्त्व में कुछ बाधा नहीं पड़ती। यह अवस्था तो सब प्रमाणों की समान ही है। जैसे केवल चक्षु से रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता; उसके सहकारी अन्य प्रकाशादि साधन होने ही चाहिएं। हां ! रूप प्रत्यक्ष में प्रधान मुख्य कारण चक्षु ही है। परन्तु जब तक आत्मा और मन का चक्षु के साथ संयोग न हो, बाह्यालोक तथा दूर-सामीप्य आदि प्रतिबंधकों का अभाव न हो तब तक चक्षु क्या कर सकता है ? लोक में भी यह सर्वविदित है कि जब किसी व्यक्ति से पूछा जाए कि अमुक व्यक्ति यहां तुम्हारे निकट से गया है ? तो वह यह उत्तर देता है कि मेरा मन कहीं अन्यत्र संलग्न था इसलिए चक्षु खुले होने पर भी मैंने उसे जाते नहीं देखा। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। इसी प्रकार औपनिषद तत्त्व के साक्षात्कार के लिए अनन्य श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य साधन भी श्रुति ने प्रतिपादित किये हैं। जिन अन्य साधनों का उल्लेख श्रुति करती है, वे इस प्रकार हैं:—१. इस लोक तथा परलोक के विषय भोगों की वासनाओं का सर्वथा त्याग। (२) वर्णाश्रमोचित विहित कर्मों के ईश्वरार्पण बुद्धि तथा निष्काम भाव से अनुष्ठान द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि। (३) भक्ति, योग, उपासनादि द्वारा स्वच्छ, स्थिर, सूक्ष्म, परतत्त्व ग्रहणोपयोगी बुद्धि। (४) तथा परतत्त्व ग्रहण के लिए अनन्य तीव्र रुचि तथा जिज्ञासा आदि आदि। इन सहकारी साधनों का यथावसर आगे सुविशद यथोचित वर्णन किया जाएगा।

जैसे रेडियो स्टेशन से भेजे गये सन्देश वायुमण्डल में सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं, परन्तु वे सुनाई वहीं देते हैं जहां उनको ग्रहण करने वाले यन्त्र होते हैं। इसी प्रकार श्रुति में भी सर्वत्र मूलतत्त्व का वर्णन है परन्तु उसके ग्रहण के लिए तदुपयोगी सूक्ष्म बुद्धि रूपी यन्त्र की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार रेडियो यन्त्र प्रकृति से स्वतः पीतल, लोहे, मृत्तिका आदि के बने बनाए उत्पन्न नहीं होते अपितु उनके बनाने की कला में कुशल विज्ञ व्यक्ति द्वारा बनाए जाते हैं। इसी प्रकार सर्वसाधारण मनुष्य उत्पत्तिकाल से ही मूलतत्त्व ग्रहणोपयोगी, अत्यन्त उज्ज्वल तथा सूक्ष्म बुद्धि से संपन्न नहीं हुआ करता। उसके लिए भी महान् प्रयत्न तथा अनेक श्रौत साधनों की अपेक्षा होती है।

साधारणतया सब विद्याओं (Sciences) को प्राप्त करने का यही क्रम है। एक बालक शनैः २ बड़े प्रयत्न के पश्चात् किसी भौतिक विज्ञान के रहस्यों को समझने के

योग्य होता है। किस बालक में यह सामर्थ्य है कि वह जन्मकाल से ही ज्युमेट्री के पाइथा गोरस थ्युरम को समझ सके। गणित के किस उद्भट विद्वान् में यह सामर्थ्य है कि वह आरम्भ में ही किसी बालक को यह गणित के नियम हृदयङ्गम करा सके। ऐसे ही ब्रह्म-विद्या को समझने के लिए भी प्रत्येक मनुष्य सामान्यतया उसके लिए आवश्यक, स्थिर, स्वच्छ, सूक्ष्म बुद्धि से युक्त नहीं होता। अनन्य धैर्य से युक्त होकर, निरन्तर, दीर्घ काल तक अनवच्छिन्नधारा से महान् प्रयत्न करने पर भी पचास प्रतिशत व्यक्ति ही अपने अनुभव के आधार पर उस अतीन्द्रिय अध्यात्म तत्त्व के विषय में कुछ आस्तिकता व्यक्त कर सकते हैं। पारमार्थिक साधकों की योग्यता तथा रुचि को दृष्टि में रखते हुए शास्त्रकारों ने अनेक उपयोगी साधनों का वर्णन किया है। परन्तु सामान्य व्यक्ति केवल शास्त्र को सामने रखकर उन साधनों का आचरणात्मक उपयोग नहीं कर सकता। क्योंकि शब्द क्रिया-शिक्षण में पंगु है। इसलिए साधक किसी शास्त्रनिष्णात तथा तत्त्वनिष्ठ सुविज्ञ व्यक्ति की देख रेख में ही उन साधनों पर आचरण करके लाभ उठा सकता है। अन्यथा हानि की सम्भावना है। जन्मतः प्राप्त साधारण बुद्धि के आधार पर, या किसी अन्य भौतिक विज्ञान आदि की शिक्षा से संस्कृत बुद्धि के बल पर इस ब्रह्मविद्या को समझने का आग्रह करना उचित नहीं है। क्योंकि अध्यात्म विद्या इस प्रकार की सामान्य बुद्धि की पहुंच से बाहर है, इस लिए आध्यात्मिक तत्त्वों के मिथ्या होने की निश्चयात्मक अथवा संदिग्ध घोषणा कर देना किसी उदारधी, दूरदर्शी तथा सूक्ष्म बुद्धि वाले व्यक्ति का कार्य नहीं है। क्या कोई रसायन शास्त्र का दक्ष वैज्ञानिक, केवल अपने रसायन शास्त्र ज्ञान के आधार पर जीवन विज्ञान के सूक्ष्म सिद्धान्तों को भ्रान्त कहने का दुःसाहस कर-सकता है ? इसी इकार क्या हम आध्यात्मिक विद्या के साथ ऐसा अयोग्य व्यवहार करके अपना महत्तम अनिष्ट नहीं कर रहे हैं ? हमें इस विषय में पक्षपात छोड़ कर गम्भीरता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। तभी तत्त्वज्ञान की ओर ले जाने वाली जिज्ञासा तथा मति की उपज हो सकेगी।

३५. श्रुति और प्रत्यक्ष का विषय भेद

भारतवासियों के हृदयों में भी आजकल वेद आदि सच्छास्त्रों के प्रति जो अश्रद्धा तथा अविश्वास और तर्क अनुमान (तथा Reasoning) में प्रबल रुचि और आस्था दृष्टि गोचर हो रहे हैं उन का मूल कारण पाश्चात्य सभ्यता तथा तर्क-प्रधान दार्शनिक विचारों का प्रभाव है। पाश्चात्य लोगों को अपने बाईबल अञ्जील आदि पवित्र धार्मिक ग्रन्थों में अविश्वास का एक मुख्य कारण यह है कि उन के इन ग्रन्थों में सांसारिक पदार्थों का जो वर्णन आता है वह नवीन विज्ञान की दृष्टि से सत्य सिद्ध नहीं होता और कई स्थलों में सर्वथा विपरीत प्रमाणित होता है। जैसे पृथ्वी को चपटा, ईश्वर को सातवें आकाश पर रहने वाला बताना इत्यादि।

जब अभी वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रादुर्भाव हो ही रहा था। उन दिनों बात सच्ची होने पर भी बाईबल का विरोध करना साधारण बात नहीं थी। क्योंकि चर्च के ईसाई पादरियों, पोपों का प्रभुत्व इतना अधिक था कि तत्कालीन राजा महाराजा भी उनसे भय खाते थे। पोपों का आदेश राजाओं को भी मानना पड़ता था। उस काल में बाइबल

के विरुद्ध विचार रखने वालों पर अत्यन्त क्रूर तथा रोमाञ्चकारी अत्याचार किये गये। कइयों को जीवित अग्नि में जला दिया गया। कइयों के साथ अन्य घृणित अमानुषिक व्यवहार किये गये।

जब बाइबल में प्रत्यक्ष तथा अनुमान सिद्ध बातों का भी विरोधी वर्णन पाया गया, तब इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बुद्धिमानों को बाइबल में श्रद्धा तथा विश्वास नहीं रहा। कोई भी पवित्र धार्मिक ग्रन्थ चाहे वह वेद हो या बाइबल, भौतिक पदार्थों के स्वतः सिद्ध स्वाभाविक गुण आदि विषयक तथ्यों में परिवर्तन नहीं कर सकता जैसे अग्नि का स्वतः सिद्ध स्वाभाविक गुण उष्णता तथा प्रकाश है। यदि वेद में ऐसा कथन हो कि अग्नि ठण्डी तथा अन्धकार मय है तो यह कथन मानवी बुद्धि को स्वीकृत नहीं हो सकता। यदि वे ऐसी अनधिकार चेष्टा करें तो वे स्वयं ही अप्रमाणित हो जायेंगे।

वस्तुतः प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के विषयों का ज्ञान प्राणिमात्र को बिना शिक्षा आदि के भी होता है। श्रुति का विषय इन प्रमाणों के विषयों से सर्वथा भिन्न तथा अपूर्व है। जैसे ऊपर श्रुति के प्रतिपाद्य विषय शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। हां, यदि श्रुति में कहीं पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध पदार्थों का वर्णन आता है तो उसका तात्पर्य केवल अनुवाद मात्र में है न कि प्रमाणरूपेण। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान तथा वेद का स्वतन्त्र कार्यक्षेत्र भिन्न २ है। वेद के अलौकिक कार्यक्षेत्र में अनुमान आदि सहायक होने से अनुग्राहक मात्र हैं। और वेद में अपने परम तात्पर्य के साधनभूत किसी लौकिक प्रमाणजन्य ज्ञान का वर्णन केवल अनुवाद मात्र है।

प्रमाणों के परस्पर सम्बन्ध प्रायः चतुर्विध होते हैं। (१) प्राणप्रद, (२) उपजीव्य, (३) अनुग्राहक और (४) पार्षद। अनुमान का श्रुति के साथ अनुग्राहक (सहायक) तथा पार्षद (सेवक) का द्विविध सम्बन्ध है। इन सब सम्बन्धों का विस्तृत वर्णन करने की यहां आवश्यकता नहीं है।

३६. प्रमाण निष्कर्ष

उपर्युक्त ऊहापोहात्मक विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि त्रिविध दुःख का अत्यन्तोच्छेद तथा अखण्ड अद्वयानन्द की नित्य प्राप्ति रूप प्राणिमात्र की स्वाभाविक इच्छा तथा लक्ष्य में सब मतों का ऐक्य है। इसमें किसी को कोई आक्षेप करने का अवकाश नहीं है। परन्तु ऐसे विलक्षण तत्त्व की उपलब्धि में बाह्य इन्द्रियां तथा तर्क वितर्क वाली सामान्य बुद्धि सर्वथा असमर्थ हैं, इस विषय में उन लोगों के शोक, मोह ग्रस्त, अप्रमेय चिन्ता तथा अपूर्णतायुक्त दुःखमय जीवन ही जाज्वलन्त प्रमाण हैं। ये लोग इन सामान्य इन्द्रियों आदि करणों के उपयोग में अपने आप को अत्यन्त विचक्षण मानते हैं और उन उन करणों द्वारा जो जो भोग सामग्री प्राप्त की जा सकती है, उस सर्वविध सामग्री से वे सम्पन्न हैं। परन्तु इतने पर भी वास्तविक शान्ति तथा सुख उनसे कोसों दूर हैं। नित्य नये २ दुःखों तथा तृष्णा का आघात पर आघात उन पर पड़ता रहता है।

लौकिक बुद्धि के अगोचर होने से ही ऐसे विलक्षण तत्त्व का न होना प्रमाणित नहीं हो जाता। क्योंकि श्रुति ऐसे अखण्ड, भूमा, अद्वितीय, अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द

तत्त्व का स्वरूप, फल, साधन उपपत्ति आदि सहित निरूपण करती है। आजकल की उच्च सभ्यनाभिमानी जाति का कोई बालक शिक्षा ग्रहण किये बिना बोल चाल भी नहीं सकता। अतः शिक्षक की अनिवार्य आवश्यकता सर्वसम्मत है। इस शिक्षक (गुरु) क्रम की परम्परा का आरम्भ किसी अचिन्त्य शक्ति तथा अनन्त ज्ञान सम्पन्न पुरुष से ही मानना पड़ता है। ऐसी अचिन्त्य तथा अनन्त शक्ति की वाणी ही वेद है। पूर्व सर्गकृत शुभ कर्म तथा उपासनादि से संस्कृत बुद्धि सम्पन्न ऋषियों ने इसी वेद का इस सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्यक्ष अनुभव किया। साथ ही वेद प्रतिपादित तत्त्वों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखा। इसलिए केवल भौतिक विज्ञान तथा सामान्य तर्क के आधार पर ऐसे तत्त्व की अवहेलना करना उचित नहीं।

भौतिक विज्ञान सामान्य प्रत्यक्ष, चक्षु आदि बाह्य करणों तथा तत्सहकारी यन्त्रों पर अवलम्बित है, और इसमें सामान्य बुद्धि का भी सहारा लिया जाता है। परन्तु श्रुति प्रतिपादित तत्त्व इनकी पहुंच से अत्यन्त परे है। सामान्य बुद्धि अन्य करणों द्वारा अनुभूत पदार्थों में सम्बन्ध आदि की विवेचना मात्र कर सकती है। यह अन्य करण के गम्य किसी तत्त्व के स्वतन्त्र अनुभव में सर्वथा असमर्थ है। ऐसी अवस्था में अन्य बाह्य करणों से अगम्य इस भूमातत्त्व के विषय में स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होने का दुःसाहस यह कैसे कर सकती है। परन्तु इस शताब्दि में ज्ञानाभिमानी मानव जाति इस सामान्य रहस्य को समझने में असमर्थ है, और कोरे तर्क के आधार पर परतत्त्व के विषय में निश्चय करने के प्रयत्न के कारण नास्तिक बन गई है। भौतिक विज्ञान तथा सामान्य तर्क प्रधान मानवीय बुद्धि की परिमित सामर्थ्य पर दृष्टि न देने का ही यह दुष्परिणाम है कि हरेक व्यक्ति केवल इस सामान्य बुद्धि के बलबूते पर अध्यात्म विद्या के गूढ़ रहस्यों को समझने तथा समझाने की चेष्टा करने लगा है। इस प्रकार अवश्यंभावी अनिवार्य रूप से असफल होने पर ईश्वर, जीव, परलोक, कर्मफल आदि के विषय में नास्तिकता धारण कर लेता है और फिर ऐहिक भोगों को लक्ष्य बना लेता है। और येन केन प्रकारेण इस भोग लालसा की तृप्ति के यत्न में ही अपनी बुद्धि तथा पुरुषार्थ की कृतकृत्यता मान बैठता है। पाश्चात्य सभ्यता तथा विचार से प्रभावित हृदयवाला व्यक्ति यदि सामान्य प्रत्यक्ष के आधार पर साधारण न्याययुक्त आचरण को भी धारण कर ले, अथवा इन्द्रिय-विषयभोग के दुष्परिणाम के सामान्य ज्ञान से या अभिमानवश इन्द्रिय-विजय का भी भले यत्न करे, परन्तु अपने सामान्य अनुभव के आधार पर उस परतत्त्व में नास्तिकता के कारण उस परम इष्ट से तो सर्वथा वञ्चित ही रहता है। इसलिए मनुष्य का परम हित इसी में है कि वह वेद तथा ऋषि मुनियों के विचारों की अवहेलना न करे।

भौतिक विज्ञान अपने कार्य-क्षेत्र में स्वतन्त्र है, परन्तु परलोक आदि के विषय में वह नितान्त असमर्थ है। मनुष्य की बुद्धि के तारतम्य के कारण तर्क भी अप्रतिष्ठित है। इसलिए यह सेवक है, वेद इसका स्वामी है। अतः यह वेद प्रदर्शित मार्ग में ही चल सकता है। श्रुति के सिद्धान्त को मानवीय बुद्धि के ग्राह्य बनाने में तथा तत्सम्बन्धी असम्भावना दोष की निवृत्ति में ही इसका सदुपयोग है।

वेद तथा ऋषि मुनि हमारी बुद्धि को ताला नहीं लगा देना चाहते। उनका आदेश है कि जिज्ञासु को धैर्य रखना चाहिए, भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार ही उनके प्रदर्शित पथ पर चलते हुए अपनी बुद्धि को परिमार्जित तथा संस्कृत करना चाहिए। इस प्रकार करता हुआ जिज्ञासु इस वाङ्मनसागोचर रहस्य को स्वयं अनुभव करेगा। तभी वह अपने आप यह निर्धारित करने के योग्य हो जायेगा कि अध्यात्म क्षेत्र में भौतिक विज्ञान तथा कोरे तर्क की प्रधानता कितनी निर्मूल तथा भ्रान्त है।

दूसरा अध्याय समाप्त।



तीसरा अध्याय

गुरु

१. गुरु की आवश्यकता

पूर्व के अध्यायों में यह सिद्ध हो चुका है कि मानव की एकमात्र परम आकांक्षा यही है कि उसे अद्वितीय, एक रस, आनन्द की प्राप्ति हो। इस प्रकार के अखण्ड, अद्वितीय, सच्चिदानन्द स्वरूप भूमातत्त्व की उपलब्धि का निरपेक्ष मुख्य तथा अपूर्व प्रमाण श्रुति ही है। इस विषय में परम पावनी भगवती श्रुति भी घोषणा कर रही है कि:—"आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" बृ॰उ॰ ४,५,६ अर्थात् आत्म-दर्शन के लिए प्रथम उपाय गुरु मुख से श्रुति का श्रवण है। स्वतः अध्ययन मात्र नहीं है। यद्यपि अध्ययन का तात्पर्य भी (स्वध्यायोऽध्येतव्यः) गुरु द्वारा अध्ययन ही है। परन्तु उपनिषद् आदि वेदान्तों के श्रवण का अभिप्राय बाजार से या इधर उधर से उपनिषदादि को खरीद कर पढ़ लेना नहीं है। वास्तव में अध्ययन अथवा श्रवण का एक यही तात्पर्य है कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु द्वारा श्रुति का श्रवण या अध्ययन किया जाये। अन्यथा श्रुति भ्रान्ति को निवारण नहीं कर सकती प्रत्युत संशय तथा भ्रान्ति की ग्रन्थि को और भी दृढ़ कर देती है।

जिस प्रकार कोरा तर्क उस अमृतमय तत्त्व तक नहीं पहुंचा सकता उलटा उसका खण्डन तथा विरोध करता हुआ नास्तिकता की दृढ़ता का 'हेतु ही बन जाता है, वैसा ही गुरु रहित श्रुति अध्ययन द्वारा भी मनुष्य परम तत्त्व को नहीं पा सकता। क्योंकि गुरु-रहित श्रुति एक भयानक वन जाती है। केवल अपने ही पुरुषार्थ के आधार पर पारमार्थिक पथिक निःसहाय शिशु की तरह पथभ्रष्ट हो जाता है। इस के फल स्वरूप वह मृत्यु, नाश तथा अधोगति को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार केवल केश श्वेत हो जाने पर ही कोई वृद्ध नहीं हो जाता "वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्" इस स्मृति वाक्य के अनुसार वृद्ध वही होता है जो धर्म परायण हो इसी प्रकार केवल प्राकृत उच्च कोटि की विद्या से किसी की बुद्धि, स्वतः, स्वतन्त्रतया, विना गुरु परम्परा के श्रौत विषय में प्रवेश करने योग्य नहीं हो जाती। उलटा इस शिक्षा से तो दृश्यमान भौतिक जगत् की सार्थकता, सुन्दरता तथा उपयोगिता की दृष्टि स्थिर तथा विशाल हो जाती है और प्रकृति की स्वतन्त्र सामर्थ्य का भूत सिर पर सवार होकर परम तत्त्व (Reality) विषयक विपरीत भावना को दृढ़ कर देता है जो इस मार्ग में प्रतिबन्धक बन जाता है। इस लिए पथ प्रदर्शक का अभाव मनुष्य के लिए विनाश का हेतु हो जाता है।

२. गुरुविषयक शास्त्रप्रमाण

छान्दोग्य उपनिषद् में एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा गुरु की आवश्यकता के महत्त्व को विशद रूप से वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है।

एक धनी का धन चोरों ने लूट लिया और उसकी आंखें बांधकर साथ ले गये। जब ग्राम से बहुत दूर निकल गये तो उसे मार्ग से एक ओर हटाकर एक घने निर्जन वन में हाथ पांव बांधकर छोड़ दिया और अपने आप मनोवाञ्छित मार्ग पर चले गये। वह बेचारा धनी आर्त-स्वर से क्रन्दन कर रहा था। दैववश कोई दयालु सुविज्ञ पुरुष उस ओर आ निकला। उसने धनी के दैन्यपूर्ण आर्त क्रन्दन को सुनकर अहेतुकी करुणा वश उसके आंखों, हाथों तथा पांओं के बन्धन खोल दिये और उसे उसके ग्राम का सुनिश्चित मार्ग बता दिया तथा मार्ग में आनेवाले चिन्ह आदि का भी निर्देश कर दिया। साथ ही और भी आवश्यक बातें बता दीं ताकि पुनः कोई उसे मार्गभ्रष्ट न कर सके। वह मेधावी धनिक इस प्रकार उस दयालु पुरुष से निर्दिष्ट किया गया एक ग्राम से दूसरे ग्राम को पूछता हुआ सकुशल अपने ग्राम पहुंच गया। इसी प्रकार "आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छान्दोग्य ६,१४,२) आचार्यवान् पुरुष ही परतत्त्व को जानता है। भावार्थ यह है कि पुण्य-पापरूप तस्करों ने जीव को अपने सच्चिदानन्द धाम से पृथक् करके उसे देह तथा संसार रूपी महा अरण्य में फेंक दिया है। उसकी पुरुष प्रकृति विवेक रूपी आंखों पर विषय-वासनाओं की पट्टी बांध दी है। राग, द्वेष तथा मोह रूपी रस्सियों से इसके हाथ पैर बांध दिये हैं। वाञ्छित तथा प्रिय व्यक्ति तथा द्रव्यों के वियोग तथा अभाव, और दुःखदायक तथा अवाञ्छित द्रव्यों तथा व्यक्तियों के संयोग से होने वाले दुःखों से यह जीव दुखी होता रहता है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि विविध सन्तापों से सन्तप्त हृदय होकर अत्यन्त आर्त-स्वर से क्रन्दन करता रहता है। अनन्त काल से जन्म मृत्यु वाले इस संसारचक्र में भटकता हुआ, अनन्त, शोक मोह ग्रस्त यह जीव अपने कोटि कोटि जन्मों की पुण्य राशि के प्रताप से किसी परम कारुणिक अहेतुकी दया करने वाले श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु को प्राप्त होता है। तब वह कृपालु इसको पुनः परम सुख-धाम रूप निज स्वरूपोपलब्धि का साधन क्रम रूपी मार्ग विस्तार से दिखा देता है। जिससे वह स्थूल-देह आदि के सुदृढ़ बन्धनों को मोचन करता हुआ अन्ततः अपने उसी परम आनन्द रूपी स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार गुरु महिमा विषयक अनेक अन्य प्रमाण भी मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में आया है—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।" (६,२३) जिस मुमुक्षु की सर्वान्तर्यामी देवाधिदेव परमेश्वर में अनन्य श्रद्धा, विश्वास तथा भक्ति होती है, और जैसी श्रद्धा ईश्वर में है वैसी ही परमार्थ श्रौत-पथ प्रदर्शक गुरु में भी होती है और उसके आदेशानुसार जो आचरण करता है, उसी महामना, पुण्यशील, भाग्यवान् जिज्ञासु को गुरु द्वारा उपदिष्ट श्रौत परमतत्त्व का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होता है। इस प्रकार श्रद्धा सम्पन्न जिज्ञासु से इतर, अन्य को कदापि वह अनुभव नहीं हो सकता। "प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत्" (सांख्यदर्शन ४,१६) "इन्द्र के समान नम्रता, ब्रह्मचर्य तथा गुरुचरणों में समर्पण पूर्वक चिरकाल तक निवास करने से ही परम सिद्धि मिल सकती है, अन्यथा नहीं। देवराज इन्द्र के एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास आदि का वृत्तान्त छान्दोग्य उपनिषद् के ८ वें प्रपाठक से आरम्भ होकर उपनिषद् की समाप्ति पर्यन्त वर्णित है। विस्तार भय से यहां पर उसका उल्लेख नहीं किया गया। जिन को रुचि हो वे उस स्थल से देख लें।

"यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥" मनु २,२१८.

"जिस प्रकार मनुष्य फावड़े से पृथ्वी को खोदता हुआ जल को पाता है; उसी प्रकार सेवा करने वाला शिष्य गुरु की विद्या को गुरु से प्राप्त कर लेता है।"

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥" गीता. ४,३४

"हे अर्जुन यदि तुम उस परम तत्त्व को जानना चाहते हो, तो तत्त्व दर्शी ब्रह्म-ज्ञानियों के चरणों में जाकर निवास करो। पूर्णतया अपने आप को उन्हें सौंप दो। समर्पण, नमस्कार तथा सेवा करते हुए तथा उन के आदेश का पूर्ण रूप से पालन कर के उनको प्रसन्न करो। जब तक तुम्हारी बुद्धि में उस परम तत्त्व का बोध सम्यक्तया न हो जाय तब तक समय समय पर अनन्य नम्र भाव से विवेक पुरस्सर उन से प्रश्न करो। ऐसा आचरण करने से वे परम कारुणिक तुम्हें उस अखण्ड अद्वितीय परम तत्त्व का साक्षात् अनुभव करा देंगे, जिस का मैंने तुम्हारे सामने पूर्व श्लोक में वर्णन किया है।"

"कुशलानुशिष्टः" (कठोपनिषद् २,७) कोई विरला भाग्यवान् जिज्ञासु निपुण आचार्य से ब्रह्म-विद्या विषयक शिक्षा प्राप्त कर कृत कृत्य होता है।"

"अथ योगानुशासनम्" (योगदर्शन १,१) पतञ्जलि ऋषि कहते हैं कि गुरु परम्परा से प्राप्त योग विद्या के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को मैं आरम्भ करता हूं।"

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत" (कठोपनिषद् ३,१४)

(१) "अनादि अज्ञान की निद्रा में अनन्त काल से सोये हुए मनुष्यो! उठो, जागो, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यों की शरण में जाओ। उनके आदेशों के अनुसार आचरण कर के इस तमोमयी आत्म-अज्ञान रूपी निद्रा को दूर कर के परम तत्त्व में जाग जाओ। आचार्य से ग्रहण की गई ब्रह्म-विद्या ही सफल होती है। अपने आप किये गये स्वतन्त्र उच्छृङ्खल प्रयत्नों से ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति सर्वथा असंभव है।" "आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति" (छान्दोग्य ४,९,३) आचार्य से उपदिष्ट ब्रह्म-विद्या ही इष्ट सिद्धिप्रद होती है।" उद्धृत शास्त्र वचनों से यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म-विद्या ही एक वह निरपेक्ष अन्तरतम साधन है जिस से मनुष्य त्रिविध दुःखों का अत्यन्तोच्छेद कर के नित्य एक रस सच्चिदानन्द स्वरूप परम सुख को प्राप्त कर सकता है। यह ब्रह्म-विद्या कृपालु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के द्वारा प्राप्त होने पर ही अत्यन्त निःश्रेयस का हेतु होती है। इसलिए जिज्ञासु के लिए गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है।

३. गुरु अनावश्यक है (पूर्वपक्ष)

नीचे कुछ ऐसे शास्त्र वाक्य उद्धृत किये जाते हैं जिन का कुछ लोग इस प्रकार का अभिप्राय ग्रहण करते हैं कि मानों ये वचन गुरुकी आवश्यकता के विरोधी हों।

"समुद्धरति चात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ।
आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ॥" भागवत स्कन्ध ११

"विशेष रूप से पुरुष अपना गुरु आप ही है क्यों कि वह अपने आप ही अपने आत्मा से अपने आप को अशुभ संस्कार सञ्चय से बचाता है।"

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥" (गीता ६, ५)

"आत्मा द्वारा मनुष्य आत्मा का उद्धार करे, आत्मा का अधःपतन न करे। आत्मा ही आत्मा का बन्धु और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।"

"गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच" (ऐतरेयो० ५,५) "गर्भ में सोते हुए वामदेव ने यह कहा है कि मुझे पूर्ण तत्त्व का साक्षात्कार यहीं गर्भ में ही हो गया है।"

४. ऊपर के पूर्वपक्ष का समाधान

(क) ये उद्धृत वचन अत्यन्त शुद्ध अन्तःकरण वालों के हैं।

(ख) साधक को केवल गुरु के आश्रय पर ही नहीं रहना चाहिए।

(ग) जड भरत तथा वामदेव के ज्ञान का हेतु पूर्व जन्म कृत साधनों का फल है। लक्ष्य पूर्ति के लिए गुरु अनिवार्य है।

५. गुरु सम्बन्धी भ्रान्ति

गुरु सम्बन्धी एक और विचित्र भ्रान्ति ने लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा गुरु विश्वास को शिथिल किया है। वह यह है कि कई लोग अपने परम लक्ष्य की पूर्ति केवल गुरु धारण से ही मान लेते हैं। गुरु धारण को ही वे लोग मोक्ष का सीधा बिना रुकावट का पास्पोर्ट मान कर किसी अन्य साधन की फिर आवश्यकता नहीं समझते। वे यह भी नहीं सोचते कि किन लक्षणों तथा आचरणों से सम्पन्न गुरु उन के अभीष्ट ध्येय की पूर्ति में सहायक हो सकता है। और यदि किसी प्रकार उन लक्षणों वाला गुरु मिल भी जाय तो उस के बाद उन का भी कुछ कर्त्तव्य है या नहीं ?

शास्त्र में वर्णित गुरु के महत्त्व का, जिसका कि कुछ दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है, धूर्त, पाखण्डी, गुरु वेषधारियों तथा मूढ़ आलसी चेलों ने बहुत दुरुपयोग किया है। चेले तो गुरु धारण मात्र से, भेंट चढ़ाने तथा दण्डवत् प्रणाम करने से ही अपने परम ध्येय की सिद्धि मान बैठते हैं। इसी प्रकार दम्भी तथा लोभी गुरु भी कई प्रकार की गप्पों से भोले भाले मनुष्यों को ठगा करते हैं। वे अपने भक्तों को कहते हैं कि उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेने पर एक, दो या अधिक से अधिक तीन जन्मों में उनका कल्याण हो जायगा वे परमधाम सत्य-खण्ड को प्राप्त करेंगे। उनके ऐसे वचनों पर सन्देह तथा टीका टिप्पणी किये बिना उन पर विश्वास रखें। सन्देह तथा टीका टिप्पणी करने वाला पाप का भागी तथा नरकगामी होगा। इस प्रकार की प्रवञ्चना पूर्वक बातों से अन्ध विश्वासी भक्तों को ठगा करते हैं।

शास्त्र में गुरु (आचार्य) की जहां इतनी महिमा तथा महत्त्व का वर्णन किया गया है; वहां यह कहीं नहीं कहा कि गुरु धारण मात्र से प्रयोजन सिद्धि हो जायगी। इस प्रसंग में स्पष्टतया गुरु का स्वरूप, लक्षण तथा फल और साथ साथ साधक के स्वरूप, लक्षणों

तथा कर्तव्यों का विस्तृत निरूपण किया गया है। इस प्रकार शास्त्र वर्णन के अनुकूल सम्पत्ति वाले आचार्य तथा साधन सम्पन्न शिष्य के होने पर ही सिद्धि की सम्भावना हो सकती है अन्यथा नहीं। "अग्निना अग्निः समिध्यते।" (वेद) अग्नि अग्नि से प्रज्वलित होती है। जलते हुए दीपक से दूसरा बुझा हुआ दीपक जलाया जा सकता है। एक जलता हुआ दीपक अन्य सहस्रों तेल बत्ती आदि साधनों से सम्पन्न दीपकों को जला सकता है। परन्तु सहस्रों बुझे हुए दीपक किसी एक दीपक को भी जलाने में असमर्थ हैं। ठीक इसी प्रकार सर्व लक्षण सम्पन्न अधिकारी जिज्ञासु के लिए भी शास्त्रोक्त गुरु की आवश्यकता होती है। तत्त्वज्ञ गुरु जो स्वयं आत्मज्ञान की ज्योति से आलोकित है, जलते हुए दीपक के समान अन्य अधिकारी जिज्ञासु के ज्ञानाग्नि को प्रकाशित करता है तथा उसका सञ्चार करता है।

६. गुरु लक्षण

(क) प्रमाण—"आचार्यः कस्मात्? आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा" (निरुक्त अ० १ खं० ४,१२)। "आचार्य उसको कहते हैं जो (१) स्वयं सदाचार की मूर्ति होता है। जो अपने आचरण तथा आदेश द्वारा दूसरों को आचारवान् बनाता है। जिस के स्वच्छ पवित्र जीवन से प्रभावित होकर ब्रह्मचारी, जिज्ञासु तथा अन्य साधारण जन भी अनायास सन्मार्ग पर चलने लग जाते हैं। (२) जो वेदादि शास्त्रों के वास्तविक अर्थों का अनुशीलन कर सद् विद्या का प्रचार करता है। (३) जो आचार तथा शास्त्र शिक्षा द्वारा बुद्धि को परिमार्जित करता है। जिस के द्वारा मनुष्य वेद, शास्त्र तथा ईश्वर के शासन में चलकर परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

(ख) "आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यः परिकीर्त्यते॥" वायुपुराण

"जो शास्त्र तात्पर्य का निश्चय करता है, स्वयं शास्त्रानुकूल आचरण करता है, तथा शिष्यों से आचरण कराता है। वही आचार्य कहा गया है।"

(ग) प्रज्ञां-ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्यते।"

"पारमार्थिक विषय ग्रहण कराने के योग्य निर्भ्रान्त बुद्धि को प्रदान करता है इसी हेतु से आचार्य को गुरु कहते हैं।"

(घ) "आचार्यस्तु ऊहापोहग्रहणधारणशमदमदयानुग्रहादिसम्पन्नो लब्धागमो दृष्टादृष्टभोगेषु अनासक्तः त्यक्तसर्वकर्मसाधनो ब्रह्मवित् ब्रह्मणिस्थितोऽभिन्नवृत्तो दम्भदर्पकुहकशाठ्यमायामात्सर्यानृताहंकारममत्वादिदोषवर्जितः केवलपरानुग्रहप्रयोजनो विद्योपयोगार्थी" (उपदेश साहस्री १,६)

आचार्य उसी को समझना चाहिए जिस में निम्नाङ्कित गुणसम्पत्ति अवश्य विद्यमान हो:—

पूर्व तथा उत्तर पक्षों की कल्पना करके युक्तियों प्रतियुक्तियों द्वारा निर्णीत श्रुति के चरम सिद्धान्तों को शिष्य की बुद्धि में दृढतापूर्वक स्थापन करने में समर्थ हो, एवं शम,

दम, दया, अनुग्रह आदि गुणों से सम्पन्न हो, ऐहिक तथा पारलौकिक विषय भोगों में अनासक्त चित्त वाला हो, आगम के तत्त्व को भली भाँति जानता हो, ब्रह्मवित ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय हो, जो सदाचार की मर्यादा का कदापि भी उल्लङ्घन करने वाला न हो, दम्भ, दर्प, वञ्चना, निष्ठुरता, कुटिलता, मद, मात्सर्य, असत्यभाषण तथा अहंकार आदि दोषों से नितरां रहित हो, केवल परानुग्रह मात्र ही जिस की विद्या के उपयोग का प्रयोजन हो वही आचार्य कहलाता है" "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मुण्डकोपनिद् १,२,१२) "शास्त्रज्ञ होने पर भी स्वतन्त्रता पूर्वक ब्रह्मज्ञान की खोज न करे परन्तु उस शान्त, शिव, अभय, परम सुन्दर तथा नित्य तत्त्व के विशेष ज्ञान के लिए नम्र भाव से, सात्त्विकी श्रद्धायुक्त होकर, समित्पाणि, श्रुति के रहस्य को जानने वाले तथा ब्रह्मनिष्ठ (अनन्य भाव से जो ईश्वर का आश्रित है।) गुरु की शरण में जाय।"

७. ब्रह्मनिष्ठ लक्षण-विचार

आचार्य में तीन गुण विशेष रूप से होने चाहिए। ऐसा ऊपर निर्देश हो चुका है। प्रथम ब्रह्मनिष्ठ लक्षण का निरूपण करते हैं।

१. ब्रह्मनिष्ठ उसे कहते हैं जिस ने ब्रह्म (परमतत्त्व) के साक्षात् अपरोक्ष दर्शन किया हो और नित्य ब्रह्म में ही रमण करता हो। धर्म तथा तत्त्वज्ञान का प्रमाण केवल शब्द चातुर्य नहीं है। अपितु शास्त्र विरुद्ध, प्राकृत, पशुवत् जीवन के त्याग तथा शास्त्र के अनुसार आचरण द्वारा शोक, मोह की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही वास्तविक प्रमाण है। कोरा शब्द ज्ञान किस काम का ? अग्नि शब्द के उच्चारण मात्र से शीत की निवृत्ति नहीं हो सकती। श्रद्धा और ज्ञान का फल उच्च जीवन ही है। वृक्ष सदा अपने फल से पहचाना जाता है। यदि वृक्ष का अस्तित्व मान भी लिया जाय परन्तु फल न हो तो भी उसका होना निष्फल है।

"आचाराद्धि च्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत्॥" मनुः १,१०६

"आचार से पतित ब्राह्मण वेदोक्त फल से वञ्चित रहता है। आचार सम्पन्न ब्राह्मण ही श्रुति में कहे गये फलों का उपभोग कर सकता है।"

"आचारहीनं न पुनन्तिवेदाः, यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।"

"अङ्गोपाङ्ग सहित पढ़े हुए वेद भी आचारहीन विप्र को पवित्र नहीं कर सकते।" यद्यपि केवल शारीरिक तथा सामाजिक व्यवहार शुद्धि से परम लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो जाती। परन्तु इनके विना भी सिद्धि का होना असम्भव है। इस प्रारम्भिक शोधन के विना परम तत्त्वज्ञान प्राप्ति की घोषणा करना भी मिथ्या अहंकार ही है। सत्य, तप, ब्रह्मचर्यादि व्रत, श्रुति के अध्ययन, योगयागादि सब साधनों की सफलता ब्रह्म साक्षात्कार में ही है। श्रुति का परम तथा अपूर्व तात्पर्य इस परम आत्मस्वरूप के साक्षात्कार में ही है। "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते" (ऋग्वेद १,१६०,३६) "जो सर्व जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का एकमात्र परम अधिष्ठान है,

जो वेदों का परम तात्पर्य है, जिसका बोध केवल वेदों से ही सम्भव है, जिस में केवल वेदों की ही परम प्रमाणता है, वेद जिस के स्वरूप को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सदा मुक्त स्वभाव, सच्चिदानन्द, एकरस, अखण्ड, अद्वितीय कहता है। यदि साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़कर और योग यागादि साधन करके भी इस परम तत्त्व को साक्षात् रूप से नहीं जाना तो ये सब अनुष्ठान केवल शरीर तथा वाणी के श्रम मात्र ही हैं, अर्थात् रसहीन इक्षु दण्ड की तरह व्यर्थ हैं। परन्तु जो वेद-मर्मज्ञ स्थिर, स्वच्छ तथा सूक्ष्म मति से उस वेद के परम प्रतिपाद्य, विलक्षणतत्त्व को पा लेते हैं, केवल उन्हीं की अध्ययन आदि सकल क्रियायें सफल हुई हैं।"

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते
तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति,
यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा ऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणो
ऽथ एतदक्षरं गार्गि विदित्वा ऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः।"

(बृहदारण्यकउपनि० ३,८,१०)

"हे गार्गि, जो मनुष्य भौतिक आकाश आदि के शासक उस चेतन, अक्षर, ब्रह्म को विना जाने सहस्रों वर्ष इस लोक में हवन या यज्ञयाग अथवा तपस्या करता है, उस के ये सम्पूर्ण कार्य तथा परिश्रम आदि नश्वर-फल देने वाले होते हैं। जो विना उस के साक्षात्कार किये इस लोक से चला जाता है (मरजाता है), वह क्रीत-दास के समान विवश होकर संसार चक्र में भटकता ही रहता है। हे गार्गि जो इस अक्षर-ब्रह्म के साक्षात्कार के विना इस लोक से प्रस्थान करता है वह दया का पात्र है और जो इस अक्षर-ब्रह्म को जान कर यहां से प्रस्थान करता है वही सच्चा ब्राह्मण है।

छान्दोग्य के सातवें अध्याय में आये सनत्कुमार और नारद उपाख्यान का तात्पर्य यही है कि अनन्त शास्त्र के अध्ययन से भी यदि ब्रह्म का साक्षात्कार न हुआ तो शोक मोह की निवृत्ति नहीं हो सकती।

"सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवाऽस्मि नात्मवित्,
श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति
सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं
तारयत्विति तं होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्।"

(छान्दोग्य० ७,१,३)

"देवर्षि नारद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सनत्कुमार से विनम्र निवेदन करते हैं" महाराज! मैंने आप जैसे महापुरुषों से यत्र तत्र सुना है कि आत्मवेत्ता शोक मोह से पार हो जाते हैं। उस आत्मा का बोध केवल वेद गम्य है। मैंने इसी लक्ष्य को सामने रखकर साङ्गोपाङ्ग वेद तथा अन्य सभी विद्याओं को भली भांति पढ़ा है। परन्तु मेरा शोक मोह दूर नहीं हुआ। इस से यही सिद्ध होता है कि मैं केवल शब्द का ज्ञाता हूं आत्मवित् नहीं। हे कृपालो! मैं अत्यन्त दुःखी हूं। हे भगवन्! आप अपनी अहैतुकी कृपा द्वारा मुझे इस शोक मोह से पार करने की अनुकम्पा करें। नारद ऋषि इस प्रकार निवेदन करके

जब चुप हो गये, तब सनत्कुमार ने कहा हे नारद ! तुम्हारा यह कथन तथ्य है। जो कुछ अब तक तुमने पढ़ा है वह सब नाममात्र है। वेदादि सम्पूर्ण विद्याओं के अध्ययन मात्र से शोकादि की निवृत्ति नहीं होती, यह तो वेद के परमतात्पर्य ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा ब्रह्मनिष्ठा से ही होती है।

"स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।" (छान्दो० ७,२५,२)

"जो इस जगत् के मूल आधार ब्रह्मात्मा को अपना आधार तथा सर्वस्व मान कर उसका भली भांति साक्षात् अनुभव कर लेता है। सर्वत्र उसी को देखता तथा जानता है। इस स्थिति में उसकी आत्मा से ही क्रीड़ा, खेल, संयोग होता है। वह उस परम-आधार से अतिरिक्त अन्यत्र कहीं यत्किञ्चित् भी रमण नहीं करता। वही उसके आनन्द का साधन होता है। जिसके सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहार उस परात्पर से ही होते हैं वही वास्तव में ब्रह्मनिष्ठ है और सदा ब्रह्मानन्द में रमण करता है। परन्तु सांसारिक पदार्थों के उपभोग में रमण करने वाले जीवों की निष्ठा तो सांसारिक भोगैश्वर्य में ही होती है। अपने मुख से कौन ब्रह्मज्ञानी नहीं बनता। परन्तु कथन मात्र से शोक मोह की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति रूपी ध्येय की सिद्धि नहीं हो सकती।

८. श्रोत्रिय लक्षणविचार

आत्म-विद्या के आचार्य के दो लक्षणों का निरूपण

आचार्य को श्रुति, स्मृति, दर्शन आदि शास्त्रों के निर्णीत ज्ञान तथा रहस्य का ज्ञाता भी होना चाहिए। जैसे पहले भी वर्णन किया गया है कि धर्म तथा परमतत्त्व के बोध के लिए मुख्य तथा एकमात्र निर्भ्रान्त-प्रमाण वेद ही है।

"अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥" मनु. २,१३।

"जो अर्थ और काम में आसक्त नहीं हैं उन को ही धर्म ज्ञान का उपदेश किया जाता है। धर्म को जानने की इच्छा करने वालों के लिए वेद ही परम प्रमाण है।"

अतः कोई निरक्षर व्यक्ति जो वेदादि सच्छास्त्रों का ज्ञाता नहीं है आचार्य नहीं हो सकता। अथवा उर्दू, फारसी, अंग्रेजी या हिन्दी के ज्ञानमात्र से कोई इस विषय में अगुआ नहीं हो सकता। सर्वगुण सम्पन्न आचार्य के विना, यत्किञ्चित् श्रुति को अध्ययन करने वाला श्रद्धा रहित, विधि-हीन कोई व्यक्ति शास्त्र शिक्षा में प्रमाण नहीं माना जा सकता। ब्रह्मचर्य पूर्वक, तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए, पूर्णश्रद्धा और विधि-पूर्वक, गुरु परम्परा द्वारा प्राप्त समग्र वेदादि सच्छास्त्रों का तात्पर्य हृदयंगम करने की आवश्यकता है। शास्त्र के स्वल्प, थोथे, पल्लव ग्राही ज्ञान से कोई ब्रह्म विद्या के आचार्य की पदवी पर आरूढ़ नहीं हो सकता।" "बिभेति ह्यल्पश्रुताद्वेदः"। अल्प बुद्धि वाले से, जिसने साङ्गोपाङ्ग विधि पूर्वक वेद का सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, वेद भय खाता है कि यह पण्डितंमन्य

व्यक्ति अवश्य अर्थ का अनर्थ करेगा और वेद विषयक नास्तिकता के प्रचार में वृद्धि का हेतु बनेगा।

श्रुति का परम तात्पर्य अति रहस्यमय है। परम तत्त्व अद्वितीय है। उस का कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता। उस अवाङ्मनसागोचर तत्त्व का परम हितैषिणी भगवती श्रुति श्रद्धालु जिज्ञासु को बोध कराने के लिए जिस किसी प्रकार से वर्णन करती ही है। यदि श्रोता उसके शब्द के लक्ष्यार्थ को न समझ कर शक्यार्थ को ही ग्रहण करता है तो भी वह वास्तविक बोध को प्राप्त नहीं होता। श्रुति इस त्रुटि तथा भूल को सुधारने के लिए अनेक प्रकार से शब्द, युक्ति, दृष्टान्त आदि का प्रयोग करती है। कई बार वह साधन में जिज्ञासु की अनन्य श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए साध्य के समान ही साधन की महिमा का वर्णन करती है। वेद का हर एक प्रकरण, अधिकारी जिज्ञासु की दृष्टि से उसकी परिस्थिति तथा मनोभूमि के अनुकूल ही उपदेश करता है। इसलिए उस में अनेक साधनों का वर्णन होना अनिवार्य ही है। इस लिए उस में कई प्रकार का परस्पर विरोधाभास प्रतीत होना भी साधारण बात है।

इसी प्रकार भिन्न २ मतों के प्रामाणिक ग्रन्थों में भेद तथा वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, षड् दर्शन आदि ग्रन्थों में तथ्य तथा आभासक-भेद की प्रतीति अनिवार्य है। इस लिए सामान्य जन का वेद में अविश्वास हो जाना स्वभाविक है। यदि पूर्व जन्मों के पुण्य समूह के प्रभाव से किसी की श्रद्धा बनी भी रहे तो उसके लिए इस परस्पर भेद का समन्वय वा निवृत्ति करना सरल नहीं होता, क्योंकि शब्दों के अनेक अर्थ हो सकते हैं। अतः श्रुति का तात्पर्य तो परम्परा से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए वह श्रोत्रिय जिसने अङ्गों सहित वेद का रहस्य समझा हुआ हो शास्त्र की इन रहस्यमयी ग्रन्थियों को सुलझा सकता है। अतः ऐसे गुरु की शरण में जाने से ही सिद्धि की आशा हो सकती है।

६. उपर्युक्त दोनों लक्षणों के समुच्चय का महत्त्व

वामदेव आदि ऋषि जिन्हें पूर्वकृत महान् पुण्यों के फल तथा पहले अनुष्ठान किये हुए साधनों के प्रताप से गर्भ में ही परम-तत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान हो गया और उन्हें नियम पूर्वक श्रुति के अध्ययन की अवश्यकता नहीं हुई। वे लोग अपने समान उच्चकोटि के स्वच्छ सात्त्विक अन्तःकरण वाले व्यक्तियों के लिए उदाहरण हो सकते हैं और उन्हीं के पथ प्रदर्शक बन सकते हैं जिन को संकेत मात्र से सफलता हो जाती है। परन्तु सामान्य जिज्ञासु को तो ऐसे गुरु की आवश्यकता है जो उसकी समयानुकूल देख रेख करे और उसके दोषों, संशयों तथा त्रुटियों को भली भांति समझ कर उनका निवारण कर सके, क्योंकि ऐसे जिज्ञासु की उन्नति क्रमशः ही होती है; उसे दीर्घकाल तक क्रम-पूर्वक शिक्षा तथा साधन सामग्री की अपेक्षा रहती है। ऐसे सामान्य जिज्ञासुओं के लिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु चाहिए। उपर्युक्त प्रकार के केवल ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं से ऐसे जिज्ञासुओं को उचित सहायता सम्यक्तया नहीं मिल सकती। अतः गुरु का श्रोत्रिय होना आवश्यक है। परन्तु केवल श्रोत्रिय से भी पूर्ण लाभ होने की सम्भावना नहीं। उसको ब्रह्म-साक्षात्कार

भी होना चाहिए। दोनों गुण संपन्न आचार्य की आवश्यकता है। क्योंकि श्रवण, मनन द्वारा श्रुति तात्पर्य विषयक असंभावना दोष की निवृत्ति होती है, अथवा तात्पर्य विषयक सामान्य बोध होता है। ध्येय के विशेष स्वरूप का असंदिग्ध, सच्चा बोध साक्षात्कार से ही होता है, उसके बिना नहीं। अतः केवल श्रुति के सामान्य बोधसम्पन्न, परन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार रहित आचार्य द्वारा प्राप्त शिक्षा से श्रुति के तात्पर्य के विषय में भ्रान्ति की संभावना है। श्रुति के तात्पर्य विषयक भेद का मुख्य यही कारण है। इसे यों भी कह सकते हैं कि ब्रह्मनिष्ठता के बिना श्रुति के परमतात्पर्य ब्रह्म का उभयविध सम्यक् बोध ही अशक्य है और श्रोत्रिय के बिना उस उभयविध निर्भ्रान्त सम्यक् बोध का दूसरे के लिए वितरण करना भी शक्य नहीं है। इस लिए दोनों का समुच्चय ही उपयोगी तथा आवश्यक है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ से ही संसार के मनुष्यों का कल्याण होना संभव है। और वह भी तब हो सकता है जब कि ऐसा ज्ञानी पूर्व प्रारब्ध तथा वर्तमान पुरुषार्थ द्वारा अहर्निश ब्रह्मानन्द में ही निमग्न न रहता हो। साथ ही जिसके हृदय में अहैतुकी दया का सागर उमड़ रहा हो। जो उसी करुणा-राशि से प्रेरित होकर सच्चे जिज्ञासुओं की मलिन वासनाओं, संशयों तथा भ्रम की कालिमा को धोकर ब्रह्म-ज्ञान रूपी ज्योति द्वारा त्रिविध ताप का अत्यन्त उच्छेद कर दे।

१०. महापुरुषों का दिव्य-वायुमण्डल तथा प्रभाव

आत्म-विद्या के आचार्य के तीसरे गुण का निरूपण

ऐसे ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं के वचन, कृपाकटाक्ष, संकल्प तथा सङ्ग में वह चमत्कारिणी दिव्य-शक्ति होती है कि जिस के प्रभाव से सच्चे जिज्ञासु का जन्म जन्मान्तरों की विविध वासनाओं से कलुषित अन्तःकरण तुरन्त स्वच्छ, स्थिर होकर ऐसा शक्ति-सम्पन्न हो जाता है कि परतत्त्व को ग्रहण कर सके। उसके थोड़े सत्सङ्ग तथा दर्शन से मनुष्य के सम्पूर्ण संशय अग्नि में पड़े तूलराशि के समान क्षणभर में भस्म हो जाते हैं। ऐसे पुण्य महात्माओं के दर्शन तथा चिन्तन से साधना के विविध अन्तराय शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। उनके समीप बैठने का कभी पुण्यावसर मिलने पर यह वानर के समान चञ्चल चित्त अपनी स्वाभाविक चञ्चलता को छोड़ कर एकाग्र हो जाता है और आनन्द की हिलोरें लेने लगता है। उनके वचन अत्यन्त मधुर, हितकारी तथा रहस्यपूर्ण होते हैं। उनके एक बार का दृष्टिपात संसार-सागर से पार कर देने की क्षमता रखता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ताओं की महिमा अकथनीय है। वाणी तथा लेखनी में कहां सामर्थ्य है कि उनके दिव्य प्रभाव का वर्णन कर सके।

प्रथम खण्ड समाप्त।

द्वितीय खण्ड

आधार वाक्य

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो
भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति । बृ. उ. ४,४,२३.

(अर्थ) शम, दम, उपरति, तितिक्षा (श्रद्धा) तथा समाधान रूप षट्
सम्पत्तियुक्त जिज्ञासु ही आत्मा (ब्रह्म) का आत्मा
(निरुद्ध चित्त) में दर्शन करता है ।

द्वितीय खण्ड के प्रत्येक अध्याय में आने वाले आधार वाक्य

पहिला अध्याय—आधार वाक्य

द द द इति तदेतत् त्रयं शिक्षेत् दमं दानं दयामिति । बृ. उ. ५,२,३.

दूसरा अध्याय—आधार वाक्य

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
मु. उ. १,२,१२.

तीसरा अध्याय—आधार वाक्य

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ कठ. उ. ३,८.

चौथा अध्याय—आधार वाक्य

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं विशन्ति ॥ मु. उ. १,२,१०.

पांचवां अध्याय—आधार वाक्य

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषोऽव्ययात्मा ॥ मु. उ. १,२,११.

छठा अध्याय—आधार वाक्य

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ श्वे. उ. ६,२३.

सातवां अध्याय—आधार वाक्य

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ कठ. उ. ३,१२.

आठवां अध्याय—आधार वाक्य

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति,
अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः । छां. उ. १२,१.

दूसरा खण्ड

पहला अध्याय

शास्त्र-शिक्षा अधिकार

१. जिज्ञासु

गत अध्याय के गुरु प्रकरण में यह कहा गया है कि जलता दीपक ही बुझे हुए दीपक को जला सकता है। परन्तु उस बुझे हुए दीपक में तेल बत्ती आदि उपयुक्त सामग्री का होना आवश्यक तथा अनिवार्य है। नहीं तो सहस्रों जलते हुए दीपक एक बुझे हुए दीपक को भी नहीं जला सकते। ऐसे ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आनन्द-स्वरूप गुरु के विना जिज्ञासु में परम इष्ट सच्चिदानन्द की झलक का आना असम्भव है। परन्तु शिष्यरूपी दीपक में उपर्युक्त अधिकाररूपी उचित सामग्री का होना आवश्यक है। इसलिए उस उपयोगी सामग्री का विस्तृत वर्णन तथा विवेचन किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि वर्तमान युग में कई कारणों से इस साधन सामग्री के सञ्चय की ओर ध्यान नहीं दिया जाता और इसका अभाव सा ही दीखता है; जिस के विना ब्रह्मविद्या-पथ में गति अनधिकार चेष्टा हो जाती है और उस से अवनति तथा हानि हो रही है। इसके लिए हम बृहदारण्यक उपनिषद् के ५म अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण की कथा का उल्लेख करते हैं; जिस से पाठकों को तात्पर्य समझने में सरलता होगी।

देवता, मनुष्य तथा असुर ये तीनों प्रजापति की सन्तान हैं। एक समय की बात है कि ये सभी जन्म, मरण, जरा, व्याधि तथा विविध प्रकार की आपत्तियों से त्रस्त तथा उद्विग्न हो उठे और अपने अपने कल्याण का उपाय सोचने लगे। सर्व सम्मति से यह निश्चय हुआ कि अपने पिता प्रजापति के पास जाकर उनसे विनय करनी चाहिए। सभी समित्पाणि होकर (श्रद्धापूर्वक) प्रजापति के आश्रम में पहुंचे। वहां पर उन्होंने शिष्यभाव से ब्रह्मचर्य तथा तपस्या का जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। कुछ काल इस प्रकार व्यतीत हो जाने पर जब उन्होंने देखा कि उन के आचार, व्यवहार, तप, व्रत, स्वाध्याय तथा सेवादि से प्रजापति प्रसन्न हो गये हैं तब वे यथा क्रम, यथावसर प्रजापति के चरणों में उपस्थित होकर सदुपदेश की याचना करने लगे।

सब से पहले देवताओं ने अपने पिता प्रजापति के पास जाकर श्रद्धा-पूर्वक विनय-भाव से प्रार्थना की—"हे भगवन्! हमें कल्याण मार्ग का उचित उपदेश कीजिए।" इस प्रकार शास्त्र रीति के अनुसार शिक्षा की याचना करने पर देवताओं को प्रजापति ने उत्तर में केवल "द" अक्षर कहा और पूछा कि क्या वे उसके दिये हुए उपदेश को समझ गये। देवताओं ने हां में उत्तर दिया और कहा—"हे भगवन्! आपने हमारे हितार्थ हमें यह उपदेश दिया है कि हम अपने मन और इन्द्रियों का दमन करें। क्योंकि हम देवता स्वभावतया इन्द्रिय भोगों में रमण करने वाले होते हैं। इस में ही अपना कल्याण मानते हैं। परन्तु ऐसा मानना हमारी भूल है। क्योंकि क्षणभंगुर, आपात-रमणीय भोगों

से अखण्ड तृप्ति कहां ? इसलिए आपने हमें यह शिक्षा दी है कि हमें मन तथा इन्द्रियों का दमन करना चाहिए।" यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि वे लोग उनके भाव को ठीक समझे हैं। प्रजापति ने उन्हें आशीर्वाद दिया और देवता लोग दण्डवत् प्रणाम करके अपने घरों को चल दिये।

उसके पश्चात् मनुष्य प्रजापति के पास पहुंचे और उन्होंने भी वैसे ही कल्याण मार्ग के उपदेश के लिए प्रार्थना की। प्रजापति ने उन्हें भी पहले की तरह "द" अक्षर कह कर ही उपदेश किया। मनुष्यों ने अपना स्वभाव लोभी होने के कारण उसका ऐसा अर्थ समझा मानों प्रजापति उन्हें कह रहे हैं कि—"हे मनुष्यो! तुम शास्त्र-विधान के अनुसार न्यायपूर्वक जिस धनधान्य का उपार्जन करते हो। उसे केवल अपने तथा अपने कुटुम्ब के भरण पोषण में ही व्यय मत कर दो। प्रत्युत निर्धन, रोगी आदि अन्य अधिकारियों को भी यथा शक्ति अन्न-वस्त्र आदि का दान किया करो।" इसी प्रकार असुरों के जाने और उपदेश मांगने के उत्तर में भी प्रजापति ने वही "द" अक्षर का ही उच्चारण किया। असुरों ने इस "द" अक्षर से यह अभिप्राय ग्रहण किया कि हम स्वभाव से क्रूर प्रकृति के तथा हिंसा परायण हैं, इस लिए प्रजापति ने "द" अक्षर से हमें 'दया' को धारण करने का उपदेश किया है। प्रजापति ने जो शिक्षा देवों, मनुष्यों और असुरों को पूर्वकाल में दी थी, उस शिक्षा का प्रवाह अब तक चला आ रहा है। जब बिजली कड़कती है तो मानो "द" "द" "द" इन तीन दकारों को स्मरण कराती है और घोषणा करती है कि जिज्ञासुओं को आत्म-कल्याण के लिए दमन, दान और दया को अपनाना चाहिए। इसी से अभीष्ट की प्राप्ति तथा विविध दुःखों की निवृत्ति हो सकती है।

२. गाथा में वर्णित अधिकारी-भेद तथा अधिकारोचित शिक्षा

इस छोटी सी गाथा के द्वारा शास्त्रों के सार का निरूपण किया गया है। संसार के सभी मनुष्य अपनी २ योग्यता, अवस्था तथा परिस्थिति के आधार पर जिज्ञासा के अनुसार शिक्षा के अधिकारी होते हैं। शास्त्र सब मनुष्यों के उद्धार के लिए है। किसी व्यक्ति के लिए शास्त्र का मार्ग बन्द नहीं है। हां! मनुष्य में सच्ची जिज्ञासा का होना आवश्यक तथा अनिवार्य है। जिसको प्यास लगी है उसी के लिए पानी की अपेक्षा होती है। पिपासा रहित व्यक्ति के लिए मीठा शरबत भी व्यर्थ ही होता है। जो लोग कामिनी काञ्चन में मस्त, 'शिश्नोदरपरायणाः' प्रकृति के पुजारी हैं और अपने आप को भोग भोगने में ही कृतकृत्य मान रहे हैं। ऐसे लम्पट, विषयी, पामर पुरुष पारमार्थिक जिज्ञासा से कोरे होते हैं। वे शास्त्र वचनों को कैसे सुन सकते हैं? उनको तो भगवान् का दण्ड ही सन्मार्ग पर ला सकता है। सम्भवतः ऐसे ही लोगों के लिए मनु महाराज ने कहा है:—

"नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान् न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्" मनु २,११०.

"शास्त्रवित् मेधावी कभी बिना पूछे अश्रद्धालु, जिज्ञासा रहित व्यक्ति को शास्त्र का उपदेश न करे। तथा अन्याय या दम्भ से अर्थात् श्रद्धा भक्ति शून्य भाव से पूछे जाने पर भी शास्त्र तत्त्व को न बताए। वह सब कुछ जानता हुआ भी लोक में मूढ़ के सदृश

व्यवहार करे।" जिज्ञासा रहित अनधिकारी को उपदेश देने से सिरदर्दी ही होती है। उस से वैमनस्य बढ़ने के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं होता।

उपर्युक्त उपनिषद् की गाथा में आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सब मनुष्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। सभी मनुष्य सब शिक्षाओं के अधिकारी नहीं होते। हरएक अपनी अवस्था तथा योग्यता के अनुसार ही उपदेश को समझ सकता है। उस के लिए अपनी शक्ति, सामर्थ्य से अधिक उच्च उपदेश कोई लाभ नहीं पहुंचाता। वह प्रायः नास्तिकता का कारण होता है। जिस प्रकार अथर्वण के अध्यात्मोपदेश का इन्द्र पर उलटा ही प्रभाव पड़ा। समझ न आने पर अनधिकारी तथ्य को भी असंभव कह देगा और उसे मिथ्या अपलाप का नाम दे देगा। इसी लिए मनु महाराज ने भी कहा है कि:—

"विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥" मनु २,११३.

"ब्रह्मवादी बेशक विद्या को अपने साथ लेकर मर जावे। परन्तु घोर आपत्ति आने पर भी विद्या को ऊसर में बीज बोने के समान अनधिकारी-अयोग्य व्यक्ति को न दे।" जैसे ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज कोई फल नहीं लाता, उसी प्रकार अनधिकारी को दी हुई विद्या निष्फल होती है। इसका उलटा श्रम ही श्रम-दुःख रूपी फल होता है। जो जिज्ञासु नहीं अथवा जो जिस विद्या का अधिकारी नहीं उसे उपदेश देने से विद्या फलवती नहीं होती। उपदेश के इस रहस्य की दृष्टि से ही प्रजापति ने देवता, मनुष्य, तथा असुरों को उनकी योग्यता तथा अधिकार के अनुरूप भिन्न २ उपदेश किया।

३. असुर शिक्षा

४. हिंसा-त्याग

आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों की गणना, शास्त्र दृष्टि से सर्वतोऽधम श्रेणी में की गई है। क्योंकि ये तमोमयी प्रकृति के नराधम क्रूर-स्वभाव वाले होते हैं। ये लोग दूसरों को दुःख देने में तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं करते। ये मानव रूप वाले हिंसक पशु ही होते हैं। जिसकी लाठी उसकी भैंस (Might is Right) की उक्ति इन पर चरितार्थ होती है। दूसरों को हानि पहुंचा कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करना ही इनका लक्ष्य होता है। ये लोग संपूर्ण संसार पर अपना ही स्वत्व समझते हैं।

इस प्रकार का पशु स्वभाव वाला मानव चाहे कितना भी बल, सामर्थ्य, बुद्धि, कला-कौशल तथा भौतिक विज्ञान के अनेक आविष्कारों से सम्पन्न क्यों न हो; इतना सब कुछ होते हुए भी वह स्वत्व का निर्णय न्याय के आधार पर नहीं परन्तु बल के आधार पर ही करता है। जिस प्रकार व्याघ्रादि हिंसक पशु अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए दूसरे पर आक्रमण करने का निर्णय केवल अपनी शारीरिक शक्ति के आधार पर ही करता है। उस के लिए ऐसे स्थल में धर्माधर्म, पुण्य-पाप, उचितानुचित तथा सत्यासत्य के विवेक की आवश्यकता नहीं होती। वह पाशविक शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी अखण्ड-सत्य, न्याय अथवा धर्म को नहीं मानता।

आसुरी भाव से भावित अन्तःकरण वाला व्यक्ति श्रुति प्रतिपादित तत्त्व को अधिगम कर सकने में सदा असमर्थ रहता है। अन्त में सदा सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं—इस सिद्धान्त को नहीं मानता। वह यह भी नहीं सोचता कि अन्त में दूध का दूध और पानी का पानी अवश्य हो जाता है। उसके लिए कूट-नीति ही परम सत्य होती है। जिस नर पिशाच पामर पुरुष को ऐसी हीन नीति तथा असदाचरण में यत्किञ्चित् संकोच भी नहीं होता; ऐसा मलिन मन वाला किसी आध्यात्मिक उपदेश का अधिकारी नहीं होता। क्यों कि वह अभी मनोवाक् काया से परपीड़न तथा परद्रोह को ही लक्ष्य मान रहा है।

५. पामर पुरुष को शास्त्र उपदेश में अधिकार नहीं

भोग में अत्यन्त आसक्त मनुष्य शास्त्र तथा लोक के विरुद्ध किसी व्यवहार के चिरकाल पश्चात् होने वाले दुष्परिणाम को नहीं सोच सकता। वह इतना मोह-ग्रस्त होता है कि यदि किसी पाशविक मनोवेग की पूर्ति करने के लिए तुरन्त उसके प्राण जाने का भय हो, तो यह मृत्यु भय भी उसे उस कुचेष्टा से रोक नहीं सकता। अतः ऐसे पामर के लिए शास्त्रशिक्षा का अवसर ही कहां है? मनुस्मृति में कहा गया है—"अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते" धर्मोपदेश का विधान उनके लिए ही है जो अर्थ और काम में आसक्त नहीं हैं। इसका भाव यह है कि जो भोग के मद से अंधे हुए-हुए हैं, ऐसे विवेक हीन पामरों के लिए शास्त्र उपदेश नहीं है।

६. असुरों के हिंसा से अतिरिक्त अन्य स्वाभाविक-दोष

उपर्युक्त गाथा की दृष्टि से हमने यह निर्धारित किया है कि असुर का स्वभाव अत्यन्त क्रूर होता है। उसको किसी के प्राण तक अपहरण करने में कुछ भी संकोच, लज्जा तथा भय नहीं होता। अन्य प्राणियों से उसके व्यवहार का यही मुख्य भेद है। दूसरे प्राणियों पर प्रभाव की दृष्टि से गाथा में हिंसा का विशेष रूप से उल्लेख है। परन्तु कार्य अथवा कारण भाव से इस क्रूर स्वभाव से सम्बद्ध अन्य कई दोष इस में सम्मिलित रहते हैं, जिन के विशद निरूपण का यहां अवसर नहीं है। अतः संक्षेप से ही उनका निरूपण किया जाता है। इस श्रेणी के मनुष्य के ज्ञान तथा विचार का आधार मुख्यतया चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियां ही होती हैं। (१) वह प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त किसी शास्त्र अथवा महान् पवित्र आत्मा के उपदेश की आवश्यकता नहीं समझता। तथा निम्नलिखित धारणाएं रखता है। (२) इस संसार का कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी ईश्वर नियन्ता नहीं है। (३) देह से भिन्न कोई स्वतंत्र चेतन (जीव) की सत्ता नहीं है। (४) पाशविक बल तथा भौतिक नियम ही परम सत्य है, इसके अतिरिक्त धर्म-अधर्म कुछ नहीं है। (५) जीव को नहीं मानता इसलिए परलोक के विषय में स्वाभाविक रूप से अविश्वासी होता है।

७. शास्त्र अधिकार आरंभ

८. असुर के लिए उपदेश-दया

यह मायामय संसार चक्र सदा एकरस रहने वाला नहीं है। मनुष्य की परिस्थिति

प्रारब्ध वश बदलती रहती है। राजा रंक हो जाता है तथा रंक राजा हो जाते हैं; चक्र-नेमि क्रम से संसार तथा व्यक्तियों की स्थिति परिवर्तित होती रहती है। इसी नियम के अनुसार सुख-सम्पत्ति-सम्पन्न व्यक्ति का भाग्य जब कभी पलटा खाता है और दैवी कोप अथवा प्रभु-प्रेरित कोई प्रबल मानवीय शक्ति इसका सर्वस्व हर लेती है तब वह मोह-निद्रा से जागता है। तब "यह पाशविक शक्ति ही परम सत्य है" इस भयानक घोर-संसार-नाशक हिंसा रूपी व्यवहार की निकृष्टता तथा तुच्छता उसके मन में कुछ खटकने लगती है। और उसके व्यवहार की क्रूर नीति वाली आधार शिला कुछ हिलने लगती है। तब वह भयभीत हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में उसके मन में जिज्ञासा का अंकुर उत्पन्न होता है। उसी के लिए प्रजापति का यह उपदेश कि "दया करो" सार्थक होता है ? "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः" (वैशेषिक सूत्र. २,१,२४) इस वैशेषिक नियम के अनुसार कार्य कारण के अनुरूप ही हुआ करता है। आक के पौदे पर कभी आम का फल नहीं लगा करता। जौ बोने पर गेहूं की प्राप्ति असम्भव होती है। यदि इस विधाता के जगत् रूप क्षेत्र में तुम दुःख रूपी बीज बोओगे तो वह बीज के समान अनेक गुणा हो कर तुम्हें क्लेशित करेगा। मनुष्य स्वभावतः दुःख नहीं चाहता। परन्तु दुःख से बचने के लिए जैसे खान पान आदि भौतिक नियमों का पालन करना आवश्यक है वैसे ही इस आध्यात्मिक शास्त्रोक्त नियम का पालन भी अनिवार्य होता है, कि यदि यह प्राणी अध्यात्मिक दुःखों से बचना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह अन्य प्राणियों पर दया करे, उन्हें किसी प्रकार से थोड़ा भी दुःख न दे, उनसे अन्न, धन आदि बलात् अथवा कुटिल नीति से कभी न छीने। अन्यथा जैसे कुपथ्य आदि करने से अनेक प्रकार के दारुण रोगों से पीड़ित होना पड़ता है, वैसे ही मानसिक आदि क्लेशों से उसका कदापि छुटकारा नहीं हो सकता। हिंसा के कटु फल रूपी दुःख को उसे भुगतना ही पड़ेगा। इसलिए इस को अवश्य अहिंसा-व्रत धारण करना चाहिए। जो मनुष्य अत्यन्त पामर नहीं हैं, जिन की आत्मा कुछ जाग्रत हो चुकी है, जिनके भीतर आध्यात्मिक जगत् के आधार भूत प्रथम नियम अहिंसा के विषय में शास्त्रोक्त उपदेश सुनने की अभिलाषा उत्पन्न हो चुकी है उनके लिए अहिंसा का स्वरूप संक्षेप से निरूपण किया जाता है।

६. अहिंसा का स्वरूप तथा महत्त्व

योगदर्शन में अहिंसा का उपदेश

"तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते तदवदातरूपकरणायैव उपादीयन्ते ।" (व्यास भाष्य २,३०)

"प्राण संकट में पड़ने पर भी मन, वाक्, काया द्वारा स्थावर जंगम आदि सब प्राणियों से कभी द्रोह न करना अर्थात् दूसरे को पीड़ा पहुंचाने की बुद्धि का परित्याग ही अहिंसा है। अहिंसा शेष सब यम-नियमों का मूल है। अहिंसा सिद्धि के लिए शेष सत्यादि यम-नियमों का सम्पादन किया जाता है। अहिंसा का व्रत इनके बिना पूर्णतया शुद्ध तथा

पवित्र नहीं होता। क्योंकि सत्य, अस्तेय (चोरी का त्याग) आदि का जब निर्वाह (पालन) न किया जाए तो उस उस प्रसंग, स्थल या अवसर में हिंसा (किसी न किसी प्राणी का अनिष्ट) होती ही है। सत्य ही कहा गया है—

"यथा नागपदे ऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥ (महाभारत मोक्षधर्म)

"जैसे सब प्राणियों के पग चिन्ह हाथी के पग चिन्ह में समा जाते हैं वैसे ही शेष सब व्रत अहिंसा व्रत में समा जाते हैं।"

भगवान् व्यास का उपर्युक्त वचन कि "अहिंसा ही सत्यादि का मूल है" विशेष मनन तथा आदर के योग्य है। इसको दृष्टि में न रखने से हमारा कोई भी यम-नियम पूर्ण अथवा सार्थक नहीं होता।

१०. अहिंसा व्रत का भंग होना

सर्व साधारण मनुष्य प्रायः केवल स्थूल बाह्य व्यवहार पर दृष्टि रख कर ही किसी व्रत का पालन करता है। जिससे प्रायः यथार्थ व्रत भंग हो जाता है। परन्तु लोभ मोह के वश हुआ वह अपनी भूल को नहीं समझ सकता। उदाहरणार्थ—मांस का न खाना अथवा किसी प्राणी के प्राण हरण न करना अहिंसा समझा जाता है। तथापि हमें ऐसे अनेक निरामिष भोजी मिलेंगे जो मांस भक्षण को अत्यन्त निन्दनीय समझते हैं, परन्तु असत्य आदि द्वारा दूसरों के प्राण-आधार अन्न, धन का अपहरण दिन रात करते हैं। ऐसा करने में उनको किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। और ऐसा करते हुए भी वे अपने आप को अहिंसा व्रत के पालन करने वाले मानते हैं। ऐसे झूठे पापी जनों की चेतावनी के लिए ही व्यास भगवान् ने उपर्युक्त यह निर्देश किया है कि अहिंसा की सिद्धि के लिए सत्यादि का आचरण आवश्यक है।

११. सत्यादि नियमों का भंग कैसे होता है

जैसे सत्यादि के भंग करने से अहिंसा व्रत दूषित हो जाता है ऐसे ही यदि हम अहिंसा व्रत को दृष्टि में न रखते हुए स्थूल दृष्टि से सत्य आदि का आचरण करें तो वे सत्यादि व्रत भी सार्थक नहीं होते। ऐसा सत्य, सत्य अथवा धर्म का आभास मात्र होता है। इसकी व्याख्या स्वयं भगवान् व्यास इस प्रकार करते हैं। (क) प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा प्राप्त निश्चित ज्ञान के अनुरूप मन अथवा वाणी के व्यवहार को सत्य कहते हैं। (ख) अपने ज्ञान का दूसरे को बोध कराने के लिए वाणी का उपयोग होता है। इसलिए कोई वाक्य भ्रान्त (Untrue) वञ्चना युक्त, अथवा भावशून्य नहीं होना चाहिए। (ग) यह वाणी सब प्राणियों के उपकार के लिए है, न कि उनका नाश करने के लिए। यदि वाणी का उपयोग ज्ञानानुसार तो हो, परन्तु इससे अन्य प्राणियों को पीड़ा पहुंचे तो इसे सत्य कदापि नहीं कहा जासकता, यह निश्चित पाप ही है। पुण्य के समान प्रतीत होने वाले ऐसे पुण्याभास के आचरण से मनुष्य घोर कष्ट को पाता है। इस लिए भली भांति परीक्षा करके सत्य बोले। इस उदाहरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि केवल यथार्थ-ज्ञान के अनुसार

बिना सोच विचार के कथन कर देना ही सत्य नहीं है, यदि इस प्रकार के कथन से किसी का अहित होता है तो वह वाक्य सत्य की श्रेणी में नहीं आता। ऐसे कथन से जब किसी का अनिष्ट न होता हो तभी उसे सत्य कह सकते हैं। इसी प्रकार अपने अन्य सम्पूर्ण व्यवहारों तथा यम-नियम के पालन के सम्बन्ध में इस रहस्य को दृष्टि में रखना चाहिए, नहीं तो यत्न करने पर भी हमारा जीवन निष्पाप नहीं रह सकता।

इस व्याख्या से हमें केवल सत्य अहिंसा आदि का रहस्य ही ज्ञात नहीं होता प्रत्युत सम्पूर्ण आध्यात्मिक जीवन के उद्देश्य तथा साधनों के वास्तविक स्वरूप या भाव का पता चलता है। हमें अहिंसा आदि के किसी बाह्य स्थूल व्यावहारिक रूप की ओर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। अपितु प्रत्येक व्यवहार के मौलिक आधार भूत भाव अथवा तात्पर्य को दृष्टि में रखना चाहिए। ऐसा न होने पर व्यक्ति तथा समाज पुण्य के स्थान में पाप का आचरण करता रहता है। इसके कारण वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पतन द्वारा ऐहिक तथा पारलौकिक अनन्त कष्ट उठाना पड़ता है। यदि हम कर्ता के भाव अथवा परिणाम की ओर न देख कर किसी तात्कालिक बाह्य स्वरूप के आधार पर अहिंसा आदि को निर्धारित करें तो एक डाक्टर द्वारा किसी रोगी की चीरा-फाड़ी को भी हम हिंसा कह देंगे। यद्यपि इस प्रकार के स्थल में हम भूल नहीं करते। परन्तु अन्य अनेक स्थलों में लकीर के फकीर बने हुए भूल करते हैं। हमें इस पुण्य-पाप के आधारभूत मौलिक सिद्धान्त का विशद निरूपण गीता में मिलता है। युद्ध के समान घोर, भयंकर, संसार-नाशक अन्य कोई मानवीय व्यवहार देखने में नहीं आता। अर्जुन अपने माननीय पूर्वजों, सगे सम्बन्धियों तथा अन्य असंख्य योद्धाओं का युद्ध में संहार होने की सम्भावना से घबरा जाता है। परन्तु भगवान् कृष्ण हिंसा आदि पाप का वास्तविक भाव गीता में इस प्रकार निरूपण करते हैं:—

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।" (१८,१७)

"जिस मनुष्य की बुद्धि मलिन स्वभाव के वश होकर किसी तात्कालिक ऐहिक फल धन, राज्य आदि के प्रलोभन में लिप्यमान नहीं होती अथवा परमात्मा के याथा-तथ्य ज्ञान के आधार पर जिस को किसी पुण्य-पाप के कर्ता होने का अभिमान नहीं है, (ऐसे अभिमान का अभाव किसी धर्म तथा ज्ञान पथारूढ़ विरले तत्त्वज्ञानी को हो सकता है) वह यदि बाह्य स्थूल व्यवहार की दृष्टि से सम्पूर्ण लोकों का हनन करता भी दीखे, तो भी वास्तव में न वह किसी का हनन करता है न ऐसे बाह्य हनन के पाप से लिप्त होता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे व्यक्ति के इस प्रकार के व्यवहार का नाम हिंसा रखना भूल है। धर्माधर्म का इस से अधिक तात्त्विक विवेचन करने का न तो यहां पर अवकाश है और न यहां उसका मुख्य प्रयोजन है। प्रसङ्गवश यहां इसका दिग्दर्शन कराया गया है। विचारवान् के लिए इतना ही पर्याप्त है। जो व्यक्ति लोभ अथवा मोह के पाश में नितान्त जकड़े हुए हैं वे पहले तो शास्त्रोपदेश की आवश्यकता ही नहीं समझते यदि वे शास्त्र का कभी उपयोग करते हैं तो भोले, असमर्थ, निर्बल मनुष्यों की वञ्चना के

लिए शास्त्र-वाक्यों के अनेक मनमाने अर्थ करके, अपने पापाचार को छिपाना चाहते हैं। अथवा कई बार आकांक्षा कुछ सच्ची होने पर भी तमोगुण की मात्रा अधिक होने के कारण शास्त्र के रहस्य को हृदयङ्गम नहीं कर सकते। ऐसे जनों का मोह तो भगवान् अपनी कृपा से शनैः-शनैः दूर करते ही हैं। परन्तु पूर्व-वर्णित कुटिल, चतुर, पामर जनों को तो भगवान् का दण्ड रूपी वज्र ही सन्मार्ग पर ला सकता है। अहिंसा के मौलिक स्वरूप का उपर्युक्त विवेचन श्रद्धालु तथा विचारवान् मनुष्यों के लिए पर्याप्त होगा।

१२. मनु महाराज का उपदेश

योगदर्शन के २,३० सूत्र के उपर्युक्त व्यासभाष्य द्वारा अहिंसा के वास्तविक तात्पर्य तथा साधारण मनुष्यों के सामान्य व्यवहार में इसके सदुपयोग का उपर्युक्त विवेचन हो चुका है। अर्थात् यम-नियमों का मूल अहिंसा है। शेष नौ यम-नियम अहिंसा की सिद्धि के लिए हैं। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन भी अहिंसा के लिए आवश्यक है। अथवा इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सत्य आदि द्वारा अहिंसा की ही विस्तृत व्याख्या की गयी है। मनु महाराज ने भी १२ वें अध्याय में पाप तथा उसके परिणाम की विस्तृत व्याख्या की है। पाठकों के मनन तथा उपयोग के लिए इसके कुछ अत्यन्त आवश्यक भाग का हम यहां उल्लेख करते हैं। इस निरूपण से भी यही पता चलता है कि यहां भी उन्हीं व्यवहारों को पाप माना गया है जिन से दूसरों को दुःख पहुंचता है। अर्थात् मनु महाराज के उद्धरणों से भी योगदर्शन के इस कथन की पुष्टि होती है कि पाप का मूल हिंसा है शेष सब इस के पल्लव शाखाएं हैं।

अधिष्ठान के अनुसार कर्म के तीन भेद—मानसिक, वाचिक, कायिक

"शुभाऽशुभफलं कर्म मनोवाग्-देह-सम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः॥"

"मनुष्य के मन वाणी तथा शरीर से होने वाले कर्मों के शुभ और अशुभ दो प्रकार के फल होते हैं। इस द्विविध फल के अनुसार मनुष्यों की उत्तम, मध्यम तथा अधम, ये तीन प्रकार की गतियां होती हैं।"

कर्म में मन का महत्त्व

"तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात् प्रवर्तकम्॥" मनु १२,४

"मन, वाणी तथा शरीर के आश्रय से होने वाले उत्तम, मध्यम तथा अधम फल देने वाले कर्मों का मूल प्रवर्तक तो मनुष्य का मन ही है। क्योंकि मन, वाणी तथा देह से होने वाले दस प्रकार के कर्म मन के विना नहीं सम्पादित हो सकते।"

यहां पर मन को प्रवर्तक कहा गया है, इस का तात्पर्य यह है कि कर्म केवल कायिक या केवल वाचिक नहीं होता। मन के संयोग के विना ये दोनों प्रकार के कर्म निष्पन्न नहीं हो सकते। कर्म को पुण्य तथा पाप बनाने वाला मन ही है।

पुण्य तथा पाप हमारे शुद्ध तथा मलिन भावों पर निर्भर होते हैं। पुण्य तथा पाप का आधार मन ही है। यदि शरीर या वाणी द्वारा किसी का अनिष्ट अथवा अहित हो जाय परन्तु मन में अहित करने का भाव न हो और न सामान्य तमोगुणी प्रमाद दोष के कारण ही यह अनिष्ट हुआ हो तो ऐसी दशा में हमें उस को पाप नहीं समझना चाहिए। परन्तु यदि किसी का मन दूषित हो और उसके वाचिक या कायिक कर्म से किसी का अनिष्ट न होकर अकस्मात् उसका हित ही हो जाय तो भी वह मनुष्य पाप का ही भागी होता है। अतः पाप से बचने के लिए सदा मन पर दृष्टि रखनी चाहिए। और कायिक तथा वाचिक कर्मों में किसी प्रकार की लापरवाही या प्रमाद भी नहीं करना चाहिए।

१३. मानसिक कर्म के तीन भेद

"परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥" मनु १२,५

"दूसरे के धन धान्य को चतुराई तथा अन्याय से अपहरण करने का चिन्तन, तथा निषिद्ध कर्माकाङ्क्षा, और ईश्वर, वेद, परलोक तथा कर्म फल आदि में अविश्वास—ये त्रिविध मानसिक अशुभ कर्म कहलाते हैं। इसके विपरीत न्याय-पूर्वक धनोपार्जन का चिन्तन, प्राणिमात्र का इष्ट-चिन्तन तथा विहित कर्माकाङ्क्षा, और ईश्वर, वेद, परलोक तथा कर्म फलादि में श्रद्धा—ये त्रिविध मानसिक शुभ कर्म कहलाते हैं।"

१४. वाचिक कर्म के चार भेद

"पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥" मनु १२,६

"कठोर वचन, असत्य भाषण, परनिन्दा और निष्प्रयोजन परचर्चा—ये चतुर्विध वाणी के अशुभ कर्म हैं। इसके विपरीत मृदु तथा प्रियवचन, सत्यभाषण, परगुण-गान और सप्रयोजन वार्ता—ये चतुर्विध वाणी के शुभ कर्म हैं।"

१५. शारीरिक कर्मों के तीन भेद

"अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥" मनु, १२,७

"अन्याय द्वारा दूसरों के धन का ग्रहण करना, निषिद्ध कर्म हिंसादि का करना, और पर-स्त्री गमन—ये त्रिविध शारीरिक अशुभ कर्म हैं। और इसके विपरीत न्याय पुरःसर दूसरे की अनुमति से उस की वस्तु का ग्रहण, विहित कर्म अहिंसा, दया आदि का अनुष्ठान और स्वपत्नीव्रत धारण—ये त्रिविध शारीरिक शुभ कर्म हैं।"

१६. अहिंसा अर्थात् असुरस्वभाव निवृत्ति का उपाय

अहिंसा के स्वरूप तथा भेदों का सविस्तर निरूपण हो चुका। परन्तु इतना जान लेने मात्र से दृढ़ता पूर्वक उस पर आचरण नहीं हो सकता। इस शिथिलता के

अनेक कारण हो सकते हैं। अतः असुरों के हिंसक स्वभाव की निवृत्ति के लिए उपायों का वर्णन भी आवश्यक है। अन्यथा यह सब विवेचन निष्फल होगा। अतः अब उन उपायों का वर्णन किया जाता है जिन से अहिंसा व्रत का पालन किया जा सके।

योगदर्शन वर्णित उपाय—जैसे अहिंसा के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए सबसे पहले योगदर्शन का सहारा लिया गया है, वैसे ही सब से पहले योगदर्शन द्वारा वर्णित उपाय का उल्लेख उपयुक्त प्रतीत होता है:—

"वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।" योग २,३३

जब वितर्क (हिंसा आदि यम विरोधी भावों की प्रबलता) से बाधा (अहिंसा आदि यमों के भंग होने का भय) उपस्थित हो तो प्रतिपक्ष (हिंसादि के दुष्परिणामों) का चिन्तन करो।

व्यासभाष्य का तात्पर्य–जब किसी ब्राह्मण साधक योगी के मन में हिंसा आदि वितर्क उत्पन्न हों अर्थात् जब ऐसे भाव मन में आवें कि मैं शत्रु का हनन करूंगा, अमुक लक्ष्य की सिद्धि के लिए झूठ भी बोलूंगा, अमुक का धन छीनूंगा, उसकी दारा का उपभोग करूंगा, अन्यों की सम्पत्ति आदि का भी स्वामी बनूंगा—इस प्रकार के कुमार्ग में प्रवृत्त करने वाले शास्त्र-विरुद्ध विचार रूपी अति तीव्र ज्वर से जब वह पीड़ित हो तो प्रतिपक्ष की भावना करे अर्थात् संसार की दारुण दुःख रूपी प्रचण्ड अग्नि में दिन रात जलने से भयभीत होकर मैंने सब प्राणियों को अभय प्रदान कर योग, अहिंसा आदि धर्म की शरण ली, अब इन हिंसा आदि वितर्कों को एक बार त्याग कर यदि पुनः इनको ग्रहण करूंगा तो कुत्ते और मुझ में क्या अन्तर रहा। यह मेरा कुत्ते के सदृश निन्दनीय व्यवहार होगा, ऐसी भावना करे। जैसे कुत्ता वमन करके पुनः उसका भक्षण करता है। ठीक उसी प्रकार हिंसा आदि त्यागे हुए मलिन भावों को मैं पुनः स्वीकार नहीं करूंगा–ऐसा निश्चय करे।

सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि स्वयं निम्न सूत्र में वितर्क अथवा प्रतिपक्ष भावना सम्बन्धी अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं।

"वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।" योग २,३४

वितर्क—वितर्क का अर्थ है हिंसा आदि यम-विरोधी पाप के दस प्रकार। फिर एक एक हिंसा आदि वितर्क के तीन तीन भेद हैं। (१) कृत—जो स्वयं किया जाय। (२) कारित—जो दूसरे द्वारा करवाया जावे। जब दूसरे को किसी पाप के आचरण करने की प्रेरणा की जाय। उदाहरणार्थ—जब कोई मांसाहारी स्वयं पशु का वध न करे परन्तु दूसरे से वध करवाए अथवा बाजार से मोल ले। (३) अनुमोदित—जब कोई दूसरा पाप करने में सम्मति मांगे तो उसे सम्मति देना; अथवा कर चुके तो उसके साथ सहमति प्रकाशित करना अथवा उसके इस मलिन व्यवहार की प्रशंसा करना। यहां सूत्रकार साधक को सचेत करते हैं कि वह केवल हिंसादि के स्थूल आचरण में ही न उलझा रहे उसके सूक्ष्म भेदों से भी बचने की चेष्टा करे। इसी लिए सूत्रकार ने हिंसादि के तीन प्रधान

कारणों का निर्देश किया है। क्योंकि योगी जब तक इन तीनों कारणों को नहीं हटाएगा और केवल हठ से हिंसादि के स्थूल व्यवहारों का परित्याग करना चाहेगा तब तक उसको सफलता नहीं मिल सकती। इन दोषों का जब तक बीज-क्षय नहीं होगा तब तक यदि कुछ काल के लिए सफलता दीखे भी, तो भी पुनः समय पाकर पाप में प्रवृत्ति हो सकती है। हिंसा आदि के कारण तीन हैं। (१) लोभ—धन, राज्यादि के लोभ से किसी की हत्या करना, अथवा मांस और चर्म के लोभ से किसी प्राणी का वध करना। (२) क्रोध—जब कोई प्राणी कुछ हानि पहुंचाए तो क्रोध से उद्विग्न होकर उसका अनिष्ट करना। (३) मोह—पुण्य, पाप में विवेक न कर सकना, जैसे किसी विरोधी विचार, मत अथवा मज़हब वाले व्यक्ति को मार देने में पुण्य समझना। इस लिए अहिंसा आदि यमों का भली प्रकार पालन करना हो तो लोभ, क्रोध, मोह रूपी बीज को दग्ध करना अनिवार्य है। मानसिक भाव आदि के तारतम्य के आधार पर फिर हिंसादि के तीन भेद हो जाते हैं (१) मृदु (२) मध्य (३) अधिमात्र, ऐसे तीन वार तीन तीन भेद करने से हिंसादि प्रत्येक वितर्क के सत्ताईस भेद होते हैं। पुनः मृदु आदि भेदों के कारण हिंसा आदि के इक्यासी भेद हो जाते हैं।

१७. हिंसा के इक्यासी भेद

९ × ९ = ८१

मृदु आदि के तीन भेद	मृदु आदि के अवान्तर भेद	१. लोभ			२. क्रोध			३. मोह		
		१ कृत	२ कारित	३ अनु-मोदित	४ कृत	५ कारित	६ अनु-मोदित	७ कृत	८ कारित	९ अनु-मोदित
१. मृदु	१ मृदु	”	”	”	”	”	”	”	”	”
	२ मध्य	”	”	”	”	”	”	”	”	”
	३ तीव्र	”	”	”	”	”	”	”	”	”
२. मध्य	४ मृदु	”	”	”	”	”	”	”	”	”
	५ मध्य	”	”	”	”	”	”	”	”	”
	६ तीव्र	”	”	”	”	”	”	”	”	”
३. अधिमात्र	७ मृदु	”	”	”	”	”	”	”	”	”
	८ मध्य	”	”	”	”	”	”	”	”	”
	९ तीव्र	”	”	”	”	”	”	”	”	”

प्रतिपक्ष भावना—वितर्क के दुष्परिणामों के पुनः पुनः विचार का नाम ही प्रतिपक्ष भावना है। मनुष्य हिंसा आदि द्वारा होने वाली तात्कालिक इष्ट-सिद्धि के लोभ अथवा मोह से ही ऐसे अधम कार्यों में प्रवृत्त होता है। परन्तु शास्त्र में अविश्वास, प्रमाद, अथवा विस्मृति के कारण ऐसे पाप के कालान्तर में होने वाले अनन्त दुःख का उस समय विचार नहीं करता; तभी निःशङ्क होकर पाप में प्रवृत्त होता है। यदि इस अनन्त दुःख आदि का मनन करे तो हिंसा आदि के मलिन भाव को त्यागना उसके लिए सुगम तथा स्वाभाविक हो जाय।

अनन्त दुःख फल की प्राप्ति— हिंसक जिस प्राणी का वध करना चाहता है, पहले उसकी शारीरिक चेष्टा दौड़ना आदि को बन्धन द्वारा रोकता है। फिर शस्त्र आदि के प्रहार से उसको दुःख देता है। इसके पश्चात् उसका जीवन अथवा प्राण भी हर लेता है। वध्य पशु को जिस प्रकार के क्लेश तथा यातनाएं हिंसक पहुंचाता है उसी प्रकार के अनन्त दुःख उसे भोगने पड़ते हैं। जिस प्रकार पशु को बांध कर हिंसक उसकी सामर्थ्य तथा चेष्टाओं का नाश किया करता है उसी प्रकार उसके चेतन अचेतन शरीरों की भोग-सामग्री को भोगने का सामर्थ्य क्षीण हो जाता है। पशु को दुःख देने से वह नरक, एवं पशु, प्रेत आदि योनियों में अनन्त दुःख उठाता है। पशु के प्राण अपहरण करने के बदले में वह मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ असह्य वेदना का अनुभव करता है और चाहता है कि उसके प्राण किसी प्रकार शीघ्र छूट जायें; परन्तु प्राणापहरण जन्य पाप का फल नियत होने से इस प्रकार छटपटाने पर भी उसके प्राण समय से पूर्व नहीं निकलते।

अज्ञान रूपी पाप के फल का शीघ्र ही प्रकरण के अनुसार अन्य स्थल पर निरूपण किया जाएगा।

कायिक, वाचिक, मानसिक पापों का फल—इस प्रकार व्यास-भाष्य में हमने देखा है कि घातक जिस प्रकार के कष्ट वध्य प्राणी को देते हैं उन्हीं के समान दुःख उन्हें भी भोगने पड़ते हैं। इसी प्रकार कायिक आदि पापों के अनुरूप फलों का विधान हमें मनुस्मृति में मिलता है।

"मानसं मनसैवाऽयमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ मनु० १२, ८
त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम् ।
मनसा त्रिविधं कर्म दशाधर्मपथांस्त्यजेत् ॥" १२, ८ (क)

"मनुष्य मन से किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फलों को मन से, वाणी से किए हुए वाणी से और शरीर से किये हुए शरीर से ही दृष्टादृष्ट जन्मों में भोगता है।"

"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ मनु० १२, ९
शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् ।
अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते ॥" मनु० १२, ९ (क)

"जिस मनुष्य ने शारीरिक पाप कर्म बहुत किया है वह वृक्ष, लता, गुल्म आदि स्थावर योनियों को प्राप्त होता है। वाचिक पाप कर्मों की अधिकता से पशु पक्षियों की योनियों में उत्पन्न होता है। और मानसिक पापों की अधिकता से चण्डालादि मानुषी योनियों में जन्म लेता है। मन, वाणी तथा काया के शुभ कर्म अधिक होने से देवत्व, शुभाशुभ मिश्रित होने पर मनुष्यत्व और केवल अशुभ होने से पशुपक्षी आदि की योनियों में मनुष्य को जन्म मिलता है। अत एव इन अनन्त उत्कृष्ट अपकृष्ट कर्मज गतियों का ध्यान रखते हुए मनुष्य को सदा धर्म कार्य ही करने चाहिएँ। यथाः—

"एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात् सदा मनः॥" मनु० १२, २३

"इस जीव की इन धर्माधर्म से होने वाली उत्तम, मध्यम तथा अधम गतियों की ओर भली भांति ध्यान देकर मनुष्य सदा धर्मसञ्चय में ही मन को लगावे।"

मनुस्मृति के १२ वें अध्याय में ४० वें श्लोक तक कर्म के फल का सविस्तर निरूपण है यहां स्थानाभाव होने के कारण नहीं लिखा गया। जिसको अधिक जानने की इच्छा हो वह वहां देख सकता है।

१८. ईश्वरीय शासन तथा कर्मचक्र

योगदर्शन तथा मनुस्मृति के उपर्युक्त वाक्यों से यह निश्चित निर्णय होता है कि कर्मचक्र बलवान् है, इसकी शक्ति अप्रतिहत है। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में एक ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी ईश्वर का साम्राज्य है। भौतिक विज्ञान के वेत्ता प्रसिद्ध विद्वान् भौतिक जगत् के नियमों का अन्वेषण करके उनके अनुसार भौतिक पदार्थों का उपयोग करके अभीष्ट सिद्धि को पाते हैं। इन नियमों को उल्लङ्घन करने का किसी में सामर्थ्य नहीं है और न तो ऐसा करने का विचार एक क्षण के लिए भी किसी के मस्तिष्क में आ सकता है। न वह ऐसा करने का कभी साहस कर सकता है। यदि कोई इन निश्चित भौतिक सिद्धान्तों को उल्लङ्घन करने का दुःसाहस करता है तो वह अपने पागलपन को ही सिद्ध करता है। जिस प्रकार भौतिक जगत् में ईश्वर का साम्राज्य है, इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में भी उसी अत्यन्त शक्तिसम्पन्न शासक का राज्य है। कठोपनिषद् में इसका अति सुन्दर वर्णन है, जिसका मनन मनुष्य के आसुरी स्वभाव को दबाने के लिए अङ्कुश का काम दे सकता है और प्रमादियों की पाशविक, जगत् संहार-कारक प्रवृत्तियों को नियमन करके उनको सन्मार्ग पर ला सकता है, जिस में उनका तथा संसार का हित है। वे वचन नीचे दिये जाते हैंः—

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ कठ० ६,३
यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥" कठ० ६,२

यह सम्पूर्ण विश्व सब प्राणियों के प्राण स्वरूप परमेश्वर से उत्पन्न होता है। यद्यपि स्थूल रूप में चर्म-चक्षुओं से वह सर्व नियामक प्रभु देहधारी राजा के समान दृष्टि-गोचर नहीं होता तथापि जगत् की नियमित उत्पत्ति स्थिति में निहित उसकी सत्ता ज्ञान-चक्षु से स्पष्ट प्रतीत होती है। इस सर्व नियामक नियम को ही उस सर्वान्तर्यामी भगवान् का देह समझना चाहिए। यदि कोई प्रश्न करे कि उसकी सत्ता तथा अद्भुत सामर्थ्य कहां है तो इसके उत्तर में हम उपरिलिखित कठोपनिषद् की श्रुति के शब्दों का ही अनुवाद करते हैं। "उस परम नियामक सर्वाधिपति परमेश्वर के शासन भय से ही अग्नि तपता है, वह अपने तपन रूपी कार्य को नहीं छोड़ता। दिन हो या रात, ग्रीष्म ऋतु हो या शीत, सतयुग हो या कलि, सब काल तथा सब अवस्थाओं में उस ईश्वरीय शासन में नियन्त्रित अपने नियत कार्य से स्खलित नहीं होता। उसी के नियम का पालन करता हुआ सूर्य अपने नियत समय पर उदय और अस्त होता है तथा तपता है। सर्वैश्वर्य सम्पन्न देवराज इन्द्र, सर्वत्रगामी बलवान पवन, और सब का संहार करने वाला मृत्यु भी उसी के भय से अपनी-अपनी परिधि में अपने नियत कार्य में संलग्न रहते हैं। इस प्रकार की महान् बल-शालिनी दिव्य शक्तियां भी उस सर्वेश्वर रुद्र के शासन रूपी वज्र से भय ग्रस्त रहती हैं, क्योंकि उन्हें यह शासन रूपी वज्र सर्वदा अपने सिर पर उद्यत दीखता है। इसलिए उनमें उसके शासन के अतिक्रमण करने का साहस नहीं होता। जो पुरुष इस भौतिक आदि जगत् के अद्वितीय, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं वे अमृत पद को प्राप्त होते हैं।" उनको मृत्यु का फिर कोई भय नहीं रहता, क्योंकि वे जगत् नियन्ता के आदेशों के उल्लङ्घन का स्वप्न में भी कभी विचार नहीं ला सकते। वे यह भली भांति जानते हैं कि चतुर मनुष्य लोभ के वश होकर निर्बलों के अन्न, धन तथा प्राण हरकर अपनी चतुराई से समाज तथा राज्य के दण्ड से बच सकते हैं और भोले मनुष्यों में अपने धर्मभाव के लिए कीर्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इतने सामर्थ्य तथा चतुराई के होते हुए भी वे सर्वज्ञ ईश्वर को धोखा नहीं दे सकते। ऐसा सन्देह रहित ज्ञान रखते हुए वे कैसे किसी प्राणी का किसी प्रकार का अनिष्ट कर सकते हैं अथवा उसके प्राण हरण कर सकते हैं, जिसके फल स्वरूप उनको अनन्त दुःख तथा प्राणों के वियोग का कष्ट सहना पड़े। अतः ऐसा मनुष्य दुःख तथा मृत्यु पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है। हिंसा आदि पाप तथा पाप के फल, दुःख से बचने के लिए मनुष्य को उपर्युक्त मन्त्रों के भाव को सदा मनन करना चाहिए कि "सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी ईश्वर सदा मेरे हृदय में विराज-मान हैं, एवं मेरे मनोभावों को देखते हैं और किसी बड़े से बड़े राजा, धनी, शूर, विज्ञ पण्डित में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह ईश्वरीय कर्मफल नियमरूपी सुदर्शनचक्र के विरुद्ध आचरण कर सके फिर साधारण जन का तो कहना ही क्या है। तथा सदा भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए:—

"असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति"— ब्राह्मण ग्रन्थ स्वयं इस वचन के तिरोहित अर्थ की व्याख्या में कहता है कि असत् अथवा तम का अर्थ मृत्यु है, अतः इन तीन वचनों द्वारा यही प्रार्थना की गयी है कि भगवन् मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो। मृत्यु का कारण बना रहने से तो मनुष्य मृत्यु से कदापि नहीं बच

सकता। अतः यहां मृत्यु का अभिप्राय हिंसा आदि क्रूर कर्मों से है, जिनके लिए शास्त्र उपदेश अथवा अन्य किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं। इन कर्मों में जैसे पशुओं की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार मनुष्यों की भी होती है। अमृत का अर्थ अमृतत्व प्राप्ति के साधन शास्त्रोपदिष्ट अहिंसा सत्यादि धर्म से है। इसलिए इस प्रार्थना का यह अभिप्राय है कि मनुष्य को पाप से बचने तथा धर्माचरण के लिए प्रार्थनादि द्वारा दृढ़ भावना करनी चाहिए।

१६. भौतिक विज्ञानवाद के आक्षेप का उत्तर

परन्तु यहां नवीन भौतिक-विज्ञान-वाद के अनुयायी यह शङ्का करते हैं कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि भौतिक पदार्थों को सुव्यवस्थित रखने वाली नियामक शक्ति जड़ है। और यह शक्ति इन भौतिक पदार्थों का स्वभाव है जिसका अन्वेषण करके हम उसे घोड़े आदि पशुओं के समान अपने अधीन कर सकते हैं और अपने उपयोग में ला सकते हैं। भयङ्कर नद-नदियों पर पुल बांधकर निर्भयता पूर्वक उन्हें पार कर सकते हैं। हवाई जहाज़ बनाकर ऊंचे पहाड़ों की कुछ परवाह न करके उन पर उड़ान ले सकते हैं। इन भौतिक नियमों में यह सामर्थ्य नहीं कि वे यत्किञ्चित् भी इधर उधर हो सकें। ये चेतन के समान स्वतन्त्र प्रतीत नहीं होते। इन या इन से मिलते जुलते जो आक्षेप किये जाते हैं उनका समाधान इस प्रकार है—इस में कोई सन्देह नहीं कि भौतिक जगत् के नियम अपरिवर्तनशील हैं। मनुष्य के भावों, विचारों तथा नियमों की तरह ये नित्य बदलते नहीं रहते। ये नियम एकरस और पक्षपात रहित हैं, अपने-पराए, शत्रु-मित्र का विवेक नहीं करते। चाहे अग्नि में कोई घी डाले या थूके यदि किसी का हाथ उस में पड़ जाएगा तो दोनों का हाथ एक समान ही जलेगा। दोनों चाहें तो अग्नि से एक समान लाभ उठा सकते हैं। अग्नि इस में विवश है। किसी पर विशेष कृपा नहीं कर सकती और न किसी के निरादर करने पर उस का कुछ बिगाड़ ही सकती है। परन्तु इस प्रकार का कथन आजकल के भौतिक वादियों की भूल का परिणाम है, जो इस समत्व को जड़ता का नाम देते हैं। राग-द्वेष, प्रेम-कोप, कृपा-उपेक्षा आदि के वश होकर क्षण-क्षण में अपने नियमों का परिवर्तन करते रहना अल्पज्ञ तथा कामादि मानसिक विकारों से युक्त चेतन प्राणी का स्वभाव है। चेतनमात्र का यह स्वभाव नहीं है। यह तो इसी प्रकार की भूल है जैसे मानो मनुष्य का विवेक शून्य बालक अपने ही मलमूत्र से क्रीड़ा करे तो ऐसा करने को मनुष्य मात्र का स्वभाव मान लिया जावे और यदि विवेक सम्पन्न कोई बड़ा मनुष्य ऐसा व्यवहार न करे तो ऐसा करने के कारण ही उसे मनुष्य न माना जाय। इसी प्रकार भौतिक जगत् की नियामक सत्ता यदि दिन रात नियम परिवर्तन नहीं करती, काले और गोरे का भेद न करती हुई सब के साथ समान वर्ताव करती है तो इस व्यवहार से वह जड़ सिद्ध नहीं हो जाती। प्रत्युत इस से तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह महान् शक्ति सर्वज्ञ, पक्षपात रहित तथा गम्भीर है, जो राग-द्वेष से क्षुब्ध होकर अपने नियमों का परिवर्तन नहीं करती। परन्तु यह बात अवश्य है कि जो उन नियमों की उपेक्षा करता है वह समय पर अवश्य उसके दुष्परिणाम को भोगता है।

"य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।" श्वेता० ३,१

"जो एक अद्वितीय परमात्मा जगत् रूप जाल की रचना करने वाला अपनी स्वरूपभूत शक्तियों द्वारा उस पर शासन करता है तथा सर्व लोकों तथा लोकपालों का संचालन करता है जो जगत् की सृष्टि तथा विस्तार में समर्थ है, जो इस ब्रह्म को जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।"

"यदिदं किं च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।" कठ० २,३,२

यह सम्पूर्ण जगत् जो ब्रह्म से निकला हुआ है, जो उस प्राण स्वरूप आत्मा में चेष्टा करता है, जो उस उठे हुए वज्र के समान भयस्वरूप परमात्मा को जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।"

२०. पापियों के वर्तमान कालीन ऐश्वर्य को देखकर धर्मफल में सन्देह की निवृत्ति

यहां इस प्रसङ्ग में प्राकृत जनों को कुमार्ग में ले जाने वाला एक सन्देह उत्पन्न होता है, जिस का संक्षिप्त विचार आवश्यक प्रतीत होता है। लोग प्रायः ऐसा कहते हैं कि यद्यपि अध्यात्म-शास्त्र ऐसी सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी, सर्वशक्तिमती सत्ता का निरूपण करता है, जिस के साम्राज्य में राजा, रङ्क सब अपने अपने कार्य का नियत फल पाते हैं। जिसका विधान श्रुति स्मृति में स्पष्ट वर्णित है:—

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।।" मनु० ८,१५

"धर्म का अतिक्रमण करने वाले व्यक्ति को धर्म इष्टानिष्ट सहित नष्ट कर देता है। धर्मानुष्ठान ही धर्मात्मा की हर प्रकार से रक्षा करता है। इसलिए धर्म का हनन-अतिक्रमण कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्म का अतिक्रमण अपने नाश का हेतु होता है। ऐसा न हो कि अपमानित किया गया धर्म कहीं हमारा ही नाश करदे।"

परन्तु हम संसार में दिन रात इसके विपरीत घटनाएं देखते हैं। धर्म के अनुकूल आचरण करने वाले भूखों मरते हैं, जब कि पाप-अत्याचार करने वाले संसार में सब प्रकार के सुख वैभव को भोगते हैं। ऐसे सज्जनों के इस सन्देह की निवृत्ति के लिए हम मनु महाराज के निम्न लिखित श्लोक उद्धृत करते हैं:—

"अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ।। मनु० ४,१७०
न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्ययम् ।। ४,१७१

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्यमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ ४,१७२
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ ४,१७३
अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ ४,१७४
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥" ४,१७६

"जो नर अधार्मिक है, असत्य ही जिसका धन है, जो हिंसा में सदा रत है, ऐसा मनुष्य संसार में कभी सुख का भागी नहीं बनता (१७०)। धर्म पथ का आचरण करते हुए धनादि के अभाव में अनेक प्रकार के कष्ट सहन कर ले, परन्तु अधार्मिक पापाचारियों की पापाचरण के द्वारा धन, सम्पत्ति की शीघ्र प्राप्ति को देखते हुए भी धर्म-मार्ग से अपनी बुद्धि को विचलित न करे, अर्थात् यह न समझे कि धर्म से दुःख और अधर्म, असत्य, चोरी आदि से सुख तथा ऐश्वर्य की वृद्धि होती है। इसलिए उसे कदापि अधर्म-मार्ग में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए (१७१)। शुभाशुभ कर्मों के फल का विपाक नियत समय पर ही होता है। अधर्म किया हुआ तत्काल ही फल नहीं देता। जैसे भूमि में डाला हुआ बीज नियत समय के पश्चात् ही अङ्कुरित, पुष्पित तथा फलित होता है। ऐसे ही अधर्म भी समय पाकर ही फलोन्मुख होता है। फलोन्मुख होने पर अधर्म पाप कर्ता को समूल नष्ट कर देता है अर्थात्, धन, जन, देह तथा सम्पत्ति सहित उसका सर्व नाश कर देता है (१७२)। यदि पापाचारी के अपने देह धन आदि नाश नहीं होता तो उसके पुत्र उसके पाप कर्म का फल पाते हैं। यदि वे भी किसी विशेष सुकृत के प्रभाव से बच जाएँ तो उसके पोते उस पाप के फल को भोगते हैं। तात्पर्य यह है कि किया हुआ पाप कभी निष्फल नहीं होता। दृष्टादृष्ट जन्मों में पापी को अपने किये पाप का फल अवश्य भोगना पड़ता है (१७३).। परद्रोह आदि अधर्माचरण आदि से पहले पापी कुछ बढ़ता है; धन, धान्य, भृत्य, पशु आदि सम्पत्ति को प्राप्त करता है। शत्रुओं को भी जीतता है; परन्तु अन्ततः पाप-कर्म की परिपाकावस्था होने पर शीघ्र ही देह, धन, सम्पत्ति आदि सहित उसका सर्वस्व नाश हो जाता है। यहां तक कि जगत् में उसका नाम निशान तक नहीं रहता (१७४)। कल्याण की कामना करने वाले को धर्म वर्जित अर्थ तथा काम का सर्वथा सर्वदा त्याग ही करना चाहिए। परम कल्याण विहीन दिखाऊ धर्म भी त्याग करने योग्य है (१७६)। हां, युग धर्म के अनुसार श्रौत तथा स्मार्त धर्मों का अपने-अपने वर्णाश्रमोचित विधि पूर्वक निष्काम भावना से सदा अनुष्ठान करना अत्यन्तावश्यक है। धर्म के मर्म को जानने वाले सज्जनों का कथन है कि:—

"सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखञ्च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्" ॥

"सब प्राणियों की सब प्रवृत्तियां केवल सुख के लिए होती हैं। परन्तु सुख धर्म के विना कभी नहीं हो सकता, अर्थात् सुख धर्मानुष्ठान से ही होता है। अतः सुखाभिलाषी को चाहिए कि वह सदा धर्म परायण होवे। उस परम दयालु भगवान् के नियम का चक्र अटल है और सदा एक रस घूमता है। पापियों को अपने पापों का फल शीघ्र अथवा विलम्ब से अवश्यमेव भोगना ही पड़ता है, विना भोगे उस का क्षय नहीं होता।

"Though the mills of God grind very slowly yet they grind exceedingly small."

यद्यपि ईश्वर की चक्की शनैः २ पीसती है परन्तु वह पीसती बहुत बारीक है"।

२१. धर्मनिष्ठा

कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय केवल तात्कालिक सुख-दुःख अथवा अपने ध्येय की सिद्धि-असिद्धि के आधार पर नहीं किया जा सकता प्रत्युत प्रत्यक्ष फल सम्बन्धी विचार-धारा के प्रभाव से रहित हो कर, ईश्वरीय ज्ञान वेद के द्वारा प्रदर्शित, अटल, त्रिकाला-बाध्य सत्य तथा न्याय के आधार पर किया हुआ धर्माधर्म का निर्णय ही उपयुक्त होता है। इसी में व्यक्ति तथा समाज का वास्तविक हित निहित है।

"न कर्तव्यमकर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि।
कर्तव्यमेव कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि॥

"यदि प्राण तथा जीवन भी संकट में पड़ जाएं तो भी पाप का आचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि पाप तो सदा पाप ही है। विपत्ति में ही मनुष्य की धार्मिक स्थिति का पता चलता है। यदि धर्म का फल प्रत्यक्ष तत्काल सुख मिलता हो तो कौन ऐसा पागल होगा जो कुमार्ग में फंसेगा। "धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी, आपत काल परखिए चारी।"

२२. मनु का उपदेश

धर्म का महत्त्व प्रतिपादन करने वाले मनुस्मृति के कुछ श्लोक यहां उद्धृत किये जाते हैं:—

"धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥ मनु ४, २३८
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ ४, २३९
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥ ४, २४०
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥ ४, २४१

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ ४. २४२

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं स्वशरीरिणम् ॥ ४. २४३

"किसी प्राणी को पीड़ा न देता हुआ मनुष्य परलोक की सहायता के लिए शनैः शनैः धर्म का सञ्चय करे, जैसे दीमक धीरे-धीरे मृत्तिका राशि का सञ्चय कर लेती है (२३८)। क्योंकि माता, पिता, स्त्री, पुत्र, तथा अन्य सम्बन्धी और धनादि ये सब परलोक में सहायक नहीं होते वहां केवल धर्म ही सहायक होता है। इसलिए धर्मानुष्ठान पुत्रादि से भी महोपकारक है (२३९)। प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है, बान्धवों के साथ नहीं, और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है और अकेला ही अपने पुण्य पाप के फल स्वर्ग नरक आदि का उपभोग करता है। अतः पुत्र पत्नी के लिए भी धर्म का त्याग न करे (२४०)। मृत-प्राणी के सम्बन्धी पिता पुत्रादि उसके शरीर को काष्ठ लोष्ठ के समान भूमि पर फैंक देते हैं और आप उससे मुख फेर कर घर लौट आते हैं। उस समय केवल धर्म ही उसके साथ जाता है (२४१)। मनुष्य केवल धर्मानुष्ठान से ही दुस्तर नरक आदि से तर जाता है। इसलिए परलोक-सहायार्थ सर्वदा शनैः-शनैः धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए (२४२)। जिस मनुष्य ने धर्मानुष्ठान से अपने सब पापों को नष्ट कर दिया है उस धर्म प्रधान तेजस्वी पुरुष को देहावसान के पश्चात् धर्मानुष्ठान रूप पुण्य सञ्चय ब्रह्मलोक में ले जाता है (२४३)।" क्योंकि "धर्मेण पापं नुदति पुमान्" धर्मानुष्ठान से मनुष्य पाप का ध्वंस करता है। स्मृति में भी कहा गया है कि:—

"न हि वेदाः स्वधीतास्तु शास्त्राणि विविधानि च ।
तत्र गच्छन्ति यत्रास्य धर्म एको ऽनुगच्छति ॥"

"वेदों तथा अन्य विविध शास्त्रों के केवल अध्ययन-अध्यापन की वहां पर पहुंच नहीं जहां पर एक मात्र धर्मानुष्ठान मनुष्य को ले जाता है।" अतः कल्याणाभिलाषी के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने वर्णाश्रमोचित विहित धर्म का सर्वदा ईश्वरार्पण बुद्धि से आचरण करता रहे। अन्यथा कल्याण की आशा निराशा रूप में ही परिवर्तित हो जाएगी।

२३. असुरोपदेश की चरितार्थता और वर्तमान-कालिक मनुष्यों को चेतावनी

इस प्रकार प्रजापति ने असुरों को दया अर्थात् अहिंसा का उपदेश दिया। क्योंकि जो हिंसा परायण है, वह बल तथा कूट-नीति के सहारे हर समय दूसरों से अन्न धन छीनने को उद्यत रहता है एवं एक पाई अथवा कौड़ी तक के लिए भी कई प्रकार से असत्य भाषण करता नहीं लजाता, प्रत्युत अपने असत्य, कुटिल, कृत्रिम व्यवहार तथा चालाकी का वर्णन अपनी मित्र-मण्डली में अभिमान पूर्वक करता है, और अपने तमोगुणी दूषणों को ही भूषण समझे बैठा है, जो धन के लोभ तथा क्रोध के आवेश में उस महान्

अखण्ड, अटल, ईश्वरीय न्यायरूपी भयानक वज्र को भूल जाता है, जिसे मूक प्राणियों का मांस ही भोजन में सर्वाधिक-प्रिय लगता है, जो अनाथ निस्सहाय बालकों, विधवाओं का सर्वस्व हड़प कर जाता है और डकार तक नहीं लेता, जो "Every thing is fair in Love and war." (प्रेम और युद्ध में घृणित और अति नीच व्यवहार भी परम न्याय ही है) इस उक्ति में तनिक सन्देह नहीं करता अपितु इसे परम प्रमाण मान कर इसी के अनुसार अपना सब व्यवहार करता है, जो पशुओं के समान अपने देश या जाति की ऐहिक हित-सिद्धि को ही परम सत्य तथा परम धर्म मानता है और इस सङ्कुचित आदर्श को ही सर्वश्रेष्ठ मान कर निर्बल, निस्सहाय शस्त्रहीन जातियों तथा देशों को उन्नत करने में अपने बाहु-बल तथा बुद्धि का उपयोग न करके उलटे उन्हें दासता की कड़ी जञ्जीरों में जकड़ने और उनके धन, जन की लूट खसूट करने में ही अपनी शक्ति-सामर्थ्य के दुरुपयोग द्वारा निज सभ्यता की विजय पताका फहराता है। यथा—

"Science tells us how to heal and how to kill; it reduces the death rate in retail and then kills us wholesale in war."

"विज्ञान हमें बचाने तथा मारने की युक्ति बताता है, पहले वह मृत्यु संख्या को वैयक्तिक रूप में कम करके पीछे युद्ध-द्वारा सामूहिक रूप में हमें मार देता है।" ऐसा मलिन चित्त वाला व्यक्ति या समाज किसी ऊंचे उपदेश को कैसे हृदयङ्गम कर सकता है। यद्यपि अहिंसा अध्यात्मविद्या का प्रथम अक्षर है, तथापि अबोध बालक की शिक्षा का आरम्भ भी यहीं से होगा। केवल भाषा के अपूर्ण ज्ञान द्वारा किसी भौतिक विद्या में प्रवीणता प्राप्त कर लेने से एवं दूसरों को मर्म-भेदी उपदेश कर सकने की योग्यता से और अपने कुटिल हिंसामय व्यवहार को भी अनेक युक्त्याभासों द्वारा धर्म सिद्ध करने से ही कोई अध्यात्मविद्या में वृद्ध नहीं हो जाता।

आज का सभ्य मनुष्य यदि अपने हृदय की गहरी गुफा में निष्पक्ष भाव से देखे तो उसको स्पष्ट प्रतीत होगा कि आज की सभ्य कहलाने वाली मानव जाति कहां खड़ी है। और उसकी गणना किस श्रेणी में की जा सकती है। सर्वव्यापी मृत्यु तथा अकाल से पीड़ित, अशान्त तथा नरकमय यह संसार, सभ्यताभिमानिनी जाति की आध्यात्मिक दरिद्रता का स्पष्ट तथा असन्दिग्ध प्रमाण है। यदि आज का मनुष्य आध्यात्मिक शिक्षा के इस प्रथम अक्षर अहिंसा को अपना लेता तो निस्सन्देह पृथिवी यदि स्वर्ग न भी बन पाती तो भी नरक तो न रहती। ऐसी स्थिति में हमारे दुःखों तथा अशान्ति का अवश्य अन्त हो जाता।

जब मनुष्य इस प्रथम श्रेणी की शिक्षा में दक्ष हो जाता है तो उसका हृदय कुछ उज्ज्वल और बुद्धि कुछ स्वच्छ तथा सूक्ष्म हो जाती है, तब वह दूसरी शिक्षा की योग्यता तथा अधिकार को प्राप्त करता है।

२४. अहिंसा व्रत द्वारा आध्यात्मिक उन्नति

अहिंसा व्रत को धारण करने वाला आसुरी भाव से मुक्त हो जाता है। और पूर्व-वर्णित प्रजापति की मनुष्य श्रेणी में प्रवेश करता है। हिंसा को छोड़ देने पर मनुष्य

दूसरों के अन्न, धन तथा प्राणों पर बलात्कार नहीं करता। तब उसकी जीवन नीति का दृष्टिकोण बदल कर "Live and let live" (स्वयं जीवित रहो और दूसरों को भी जीवित रहने दो) इस सिद्धान्त पर आश्रित हो जाता है। पहले जो दूसरों के अन्न-धन को छीन लेना ही ठीक मानता था अब वह वैसा नहीं करता। वह अन्न-धन का न्यायानुसार उपार्जन करता है। क्योंकि न्यायानुकूल अन्न-धनादि का उपार्जन करना पाप नहीं है। स्वयं वेद भगवान् आदेश करते हैं "वयं स्याम पतयो रयीणाम्" हम धन धान्य के स्वामी बनें। परन्तु छल, कपट तथा धूर्तता से किसी की एक पाई की भी वञ्चना न करें, इत्यादि।

अब वह हिंसा वृत्ति के आधार पर दूसरों को दुःख नहीं देता, अपना तथा अपने परिवार का न्याय से भरण पोषण करता है, एवं न्याय पूर्वक ही धन संग्रह भी करता है, दूसरों से छीनता नहीं। परन्तु किसी दरिद्र, दुःखी के दुःख निवारण के लिए उसके हृदय में कोई भाव उत्पन्न नहीं होता। धन में उसकी इतनी आसक्ति तो नहीं होती कि वह बलात्कार दूसरों का धन छीन ले परन्तु अपने उपार्जित धन का दूसरों के हितार्थ व्यय कर सकना भी उसके लिए दुष्कर है। इतना धन का लोभ उसमें अवश्य है। कि स्वयं दुःखग्रस्त होने पर दूसरों से सहायता की आशा तो वह करता है। परन्तु अवसर आने पर लोभ के वश अपने आप दूसरे की सहायता नहीं करता।

२५. मनुष्य-शिक्षा—लोभत्याग (दान)

२६. मनुष्य के न्यायोपार्जित धन-धान्य में प्राणिमात्र का भाग

हिंसा-वृत्ति को त्याग देने के पश्चात् ऊपर वर्णित मानसिक-वृत्ति के उत्पन्न हो जाने पर जब मनुष्य दूसरे के धन को छल कपट से छीनता तो नहीं परन्तु न्यायोपार्जित अपने धन को दूसरे के लिए त्याग नहीं कर सकता, ऐसे लोभी स्वभाव वाले मनुष्य के लिए ही प्रजापति ने दूसरे 'दकार से' "दान करो" यह उपदेश दिया है। क्योंकि केवल अहिंसा के आचरण से ही संपूर्ण दुःख की निवृत्ति नहीं होती। यदि हम दूसरों से दुःख में सहायता की आशा रखते हैं तो हमें भी चाहिए कि हम दूसरों के दुःख में उसकी सहायता करें। हमारे न्यायोपार्जित धन-धान्य पर जैसे हमारी सन्तान का अधिकार है वैसे ही हमारे सर्वस्व पर प्राणिमात्र का अधिकार है। यदि हम लोभ के वश अपने न्यायोपार्जित धन-धान्य में से यथोचित भाग योग्य अधिकारियों को नहीं देते तो यह भी एक प्रकार का सूक्ष्म-अन्याय, चोरी, हिंसा तथा पाप है। केवल दूसरों के धन-धान्य का छल कपट से अपहरण करना ही हिंसा नहीं है। अतः दान के लिए भी आय से शास्त्रानुसार निश्चित भाग निकालना चाहिए। क्योंकि वेद भगवान् का उपदेश है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥" (यजुः, अध्याय ४०,१)

इस सदा चलायमान जगत् में ईश्वर ही सर्वत्र व्यापक है। वही सब का स्वामी, सर्वाधार, सर्वनियन्ता तथा सर्वान्तर्यामी है। समग्र धन, धान्य, ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति आदि का सच्चा स्वामी वही है। अतः किसी भी प्राणी का किसी वस्तु पर स्वतन्त्र स्वत्व

नहीं है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजे-महाराजे भी उसी भगवान् के दिये हुए महान् ऐश्वर्य का कुछ काल पर्यन्त उपभोग करते हैं। नहीं तो नियत समय के पश्चात् विवश होकर वे अपने अपने पद से क्यों च्युत हो जाते तथा मृत्यु के मुख में चले जाते? इच्छा पूर्वक तो कोई भी प्राणी न मरना ही चाहता है और न अपने स्वल्पाधिकार से च्युत होने की स्पृहा करता है। इसलिए प्रभु की दान रूप से दी हुई वस्तुओं पर अपना स्वतन्त्र अधिकार न स्थापित करते हुए निर्धन अधिकारियों की सेवा में अपने धन-धान्य को लगा देना चाहिए और इसमें अपना हित समझना चाहिए। भगवान् ने उनका भाग भी तुम्हें दिया है और अपनी ओर से तुम्हें उनका कोषाध्यक्ष नियत कर दिया है। यदि तुम धन-धान्य को उस में न लगाओगे, जिस कार्य के लिए यह तुम्हें दिया गया है, उसमें व्यय न करोगे तो पाप के भागी बनोगे। भगवान् की इस धरोहर का स्वार्थपरता के कारण दुरुपयोग करने से अपना ही अहित होगा। सन्तों का वचन है:—

"पानी बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम॥"

इसी को भगवान् कृष्ण इस प्रकार स्पष्ट करते हैं:—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥" (गीता ३, १३)

"जो मनुष्य यज्ञ (परोपकार) से अवशिष्ट अन्न को खाने वाले हैं वे धनोपार्जन में होने वाले अनिवार्य हिंसादि पापों से मुक्त होजाते हैं। परन्तु जो निर्बुद्धि, स्वार्थपरायण केवल अपने लिए ही अन्न पकाते हैं; अतिथि, याचक, गौ आदि को दानरूप से कुछ नहीं देते, वे अपवित्र अन्नरूप पाप को ही खाते हैं। न्यायोपार्जित धन, धान्य की नियत मात्रा यदि क्षुधा पीड़ितों पर व्यय नहीं की जाती तो यह उनके भाग का बलात्कार हरण करना ही है। क्योंकि भूमि प्राणिमात्र की जननी है, वह सब के लिए अन्न उत्पन्न करती है। उसकी सम्पत्ति पर सब का अधिकार है। निर्बल, अनाथ, अबला, वृद्ध, रोगी आदि सब अन्न, वस्त्र, औषध आदि के अधिकारी हैं।

२६. दानलक्षण—अन्यायापहृत धन दान निषेध

"न्यायार्जितधनश्चापि विधिवद् यत् प्रदीयते।
अर्थिभ्यः श्रद्धया युक्तं दानमेतदुदाहृतम्॥
अपहृत्य परस्यार्थान् यः परेभ्यः प्रयच्छति।
स दाता नरकं याति यस्यार्थास्तस्य तत् फलम्॥"

"शास्त्रविहित मार्ग से न्याय पूर्वक जो धनोपर्जन किया जाता है और उसमें से जो नियत भाग श्रद्धापूर्वक विधि अनुसार अर्थियों को दिया जाता है, वही वास्तविक दान कहलाता है। जो व्यक्ति अन्याय पूर्वक दूसरों के धन को अपहरण करके दान करता है, वह दाता नरक को जाता है और उस दान का फल जिसका धन था उसी को मिलता है।"

इसलिए धनोपार्जन में न्याय, सत्य, सरलता, अहिंसा आदि का सम्यक्तया ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो सिवाय हानि के कुछ लाभ नहीं होगा।

२८. दान केवल धनी के लिए ही विहित नहीं

दान-धर्म के मर्मज्ञ कहते हैं कि:—

"ग्रासादपि तदर्धञ्च कस्मान्नो दीयते ऽर्थिषु।
इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति॥"

"यदि किसी की ऐसी अवस्था आजाय कि उसके पास केवल एक ग्रास अन्न ही रह जाय, तो उस अवस्था में भी वह कल्याणाकाङ्क्षी उस ग्रास में से आधा ग्रास अर्थियों को दान करदे। क्योंकि इच्छानुसार तो कभी भी किसी के पास धन एकत्र नहीं होगा।" इस प्रकार के आचरणाभाव में वह व्यक्ति धर्मोपार्जन से वञ्चित रह जाएगा। और धर्म-हीन जीवन पशु के समान है। धन की सफलता धर्म के लिए व्यय करने से ही होती है। धर्म-धन ही सच्ची सम्पत्ति है अन्य सम्पत्ति तो विपत्ति का सञ्चय ही है। जैसे किसी कवि का कथन है:—

"आयासशतलब्धस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसः।
गतिरेकैव वित्तस्य दानमन्या विपत्तयः॥"

"बहुत प्रयत्नों से प्राप्त किये हुए प्राणों से भी प्यारे धन की वास्तविक गति तो एक मात्र दान ही है अन्य तो सब विपत्तियां ही हैं।" इसलिए सब अवस्थाओं में अधि-करियों को यथोचित, यथाशक्ति दान देना श्रेयस्कर है।

"अनुकूले विधौ देयं यतः पूरयिता हरिः।
प्रतिकूले विधौ देयं यतः सर्वं हरिष्यति॥"

"अवस्था, परिस्थिति तथा दैव के अनुकूल होने पर अवश्य दान करना चाहिए यह विचार कर कि भगवान् ही सब को सब कुछ देने वाला है। और यदि परिस्थिति तथा दैव प्रतिकूल हो तो भी दान देना चाहिए क्योंकि भाग्य तो सब कुछ हर लेगा और तुम दान-धर्म के सञ्चय से वञ्चित रह जाओगे। दान-धर्म के लिए उदारता, प्रसन्नता, मधुर भाषण तथा भावना शुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि भावना ही सब धर्म-कार्यों में बीज रूप है। मनु महाराज का कथन है:—

"येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः॥ ४,२३४
योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये॥" ४,२३५

"जो व्यक्ति जिस जिस भावना से जो जो दान देता है वह जन्मान्तर में उसी उसी भावना से उस उस फल को प्राप्त करता है। सकाम दानी की वह कामना पूर्ण होती है

जिसके लिए उसने दान किया था। निष्काम भाव वाले को उसका फल चित्त-शुद्धि तथा भगवत्प्रीति रूप में प्राप्त होता है (२३४)। जो दाता सत्कार पूर्वक अर्थियों को दान देता है तथा जो लेने वाला सत्कार पुरःसर ही लेता है वे दोनों यहां और अगले लोक में सुखी होते हैं। अपमान पूर्वक दान देने तथा लेने वाला दोनों अत्यन्त दुःखी होते हैं और नरक को प्राप्त होते हैं (२३५)।" अतः श्रद्धा, सत्कार, तथा प्रिय वाक्य सहित ही दान देना तथा लेना कल्याण प्रद है। भगवान् कृष्ण गीता में सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से त्रिविध दान का निरूपण करते हैं। उपयोगी होने के कारण उन श्लोकों को यहां उद्धृत किया जाता है:—

"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥" गी० १७,२०

"जिस के चित्त में यह भाव सदा जागरूक रहता और उसे दान देने के लिए प्रेरित करता है कि दान देना तेरा कर्तव्य है इस लिए दान कर। वह व्यक्ति देश, काल तथा पात्र के अनुसार प्रत्युपकार की भावना से रहित होकर जो दान देता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।"

"यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥" गी० १७,२१

"जो दान प्रत्युपकार की भावना, किसी फल को उद्देश्य करके या कृपणता वश खिन्न चित्त से दिया जाता है वह दान राजस कहलाता है।"

"अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥" गी० १७,२२

"देश-काल तथ पात्र का विचार न करके, तिरस्कार और अभिमान पूर्वक, श्रद्धा रहित तथा विधि मर्यादा की उपेक्षा करके जो दान दिया जाता है वह तामस कहलाता है।"

अपने कल्याण के लिए परहित में जिस जिस भावना तथा कामना से प्रेरित होकर विद्या, धन, अन्न, वस्त्र, समय इत्यादि का व्यय किया जाएगा उसका तदनुरूप ही यहां तथा आगे फल होगा। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि निःश्रेयसाकाङ्क्षी सदा सर्वथा शुद्ध सात्त्विक भाव से प्रेरित होकर दान देना अपना कर्तव्य समझे। निष्काम-भाव से देश, काल तथा पात्र को समक्ष रख कर शास्त्र विधि के अनुसार शुद्ध, पवित्र पदार्थों का दान करे। पात्र का सत्कार करे, मधुर तथा प्रियवचन बोलता हुआ देवे। अन्यथा भस्म में आहुति डालने के समान सब किया हुआ निष्फल जाता है।

मनुष्य इस प्रकार शास्त्रादेश के अनुसार अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का पालन करते हुए ऐसा आचरण करता है जिससे किसी प्राणी के अनिष्ट चिन्तन या सम्पादन की सम्भावना भी नहीं रहती। और दान, यज्ञ तथा परोपकार आदि सात्त्विक आचरणों से इस लोक में स्थिर सुख तथा शान्ति पूर्वक जीवन व्यतीत करता है, मृत्यु के अनन्तर परलोक में महान् ऐश्वर्य तथा शुभ गति को प्राप्त होता है।

२९. दान यज्ञ आदि का परलोक में शास्त्रोक्त फल

जो लोग गृहस्थ में रहते हुए उस आश्रम के उपयुक्त शास्त्र विहित कर्मों का आचरण नहीं करते केवल ऐहिक भोग सामग्री को जुटाने तथा उसके उपभोग में अपना अत्यन्त अमूल्य समय का अपव्यय करते हैं उन्हीं के सम्बन्ध में भगवती श्रुति की घोषणा है कि:—

"यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितश्च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥" (मुण्ड० १,२,३,)

"जो पुरुष अग्निहोत्र सम्यक् प्रकार नहींकरता; अर्थात् दर्श, पौर्णमास, चतुर्मास्य, शरदृऋतु कर्तव्य, अतिथि यज्ञ, दान, वैश्वदेव तथा प्राणिमात्र की यथोचित अन्न द्वारा सेवा आदि नहीं करता या शास्त्र विधि के विरूद्ध करता है; तो उसके भूर्भुवः आदि सातों-लोकों का हनन हो जाता है।" इसके फल स्वरूप उसे तल, अतल, वितल आदि अधो-मुख लोकों में कीट पतङ्ग आदि निकृष्ट योनियों में जन्म मिलता है। (बृ० उप० ६, २, १५) अथवा जो यज्ञ दानादि विधि पूर्वक करता है वह ऊपर के भूर्भुवः आदि सातों लोकों को प्राप्त करता है।

"एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथा कालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेको अधिवासः ॥" (मुण्ड० १,२,५)

"सम्यक् प्रदीप्त अग्नि की इन ज्वाला रूप जिह्वा में जो श्रद्धा से हवन करता है, यथोचित समय पर डाली हुई आहुतियां सूर्य की रश्मियां होकर उस यजमान को भूर्भुवः आदि लोकों में ले जाती हैं जहां देवराज इन्द्र विराजमान है।"

"एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥" (मुण्ड० १,२,६)

"वे दीप्त आहुतियां सूर्य रश्मियों द्वारा प्रकाश युक्त हुई-हुई यजमान को मधुर वाणी से बुलाती हैं, उसकी पूजा तथा स्तुति करती हुई उसे ऊपर लेजाती हैं और कहती हैं कि यह तुम्हारा पुण्य, मंगलमय, ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक है।"

३०. प्रकरण निष्कर्ष

प्रथम उपदेश अहिंसा के आचरण द्वारा साधक आसुरी हिंसा रूपी पाप से मुक्त हो जाता है। उसके फल स्वरूप यहां भी दुःख से मुक्त हो जाता है और मृत्यु के पश्चात् उसे पशु पक्षी आदि निकृष्ट योनियों में जन्म नहीं लेना पड़ता। वह नारकीय यातनाओं से भी बच जाता है। दूसरे उपदेश दान,यज्ञ का आचरण करने से मनुष्य स्वार्थी तथा लोभी स्वभाव के पाश से छुटकारा पा जाता है, और अपने पुण्यबल से ऊपर के सप्त लोकों में देवत्व आदि पद को प्राप्त करता है। वहां दीर्घ काल तक दिव्यभोगों का आस्वादन करता है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा व्रत के पालन से आसुरी भाव से उठकर मानुषी अधिकारों

को प्राप्त होता है। तदनन्तर दान यज्ञादि शास्त्रीय कर्मानुष्ठान से लोभमय मानवीय स्वभाव को अतिक्रमण करके दैवी स्वभाव तथा तदुचित अधिकारों को प्राप्त कर लेता है।

३१. देवताओं के लिए उपदेश–दमन

३२. देवताओं के भोग प्रधान जीवन की अपूर्णता

देव लोक की प्राप्ति बहुत प्रयत्न साध्य है। इसके लिए अनेक प्रकार के यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि शास्त्रीय कर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है। मुक्तहस्त होकर धन का दक्षिणा आदि में व्यय करना पड़ता है। वहां के दिव्य भोगों के सुख को मानवीय बुद्धि समझने में असमर्थ है। चिरस्थायी दिव्य रमणीक भोगों के सुख के लिए भला किसके मुख में पानी नहीं भर आता। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह दिव्यजीवन भी भय, दुःख, स्पर्धा, काङ्क्षा तथा पतन से रहित नहीं है। यद्यपि दिव्य भोग अति-रमणीक तथा चिरस्थायी होते हैं परन्तु काल की परिधि से बाहर नहीं होते। हां मानवीय भोगों तथा लोक की अपेक्षा इनका यहां (Lease) या जीवन काल पर्याप्त अधिक होता है। परन्तु नित्य, निरन्तर, एक रस, अखण्डानन्द के सामने इन की तुलना क्षणमात्र तुल्य भी नहीं कही जासकती। श्रुति, स्मृति भी यही कह रही है:—

"तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते।" छा० ५,१०,५

"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" गीता ९,२१

"स्वर्ग में जाकर वहां पर अपने पुण्य के फल के अनुरूप समय तक भोगों को भोग कर वह पुनः उसी मार्ग से लौट आता है।"

"स्वर्ग में गये हुए मनुष्य, स्वर्ग लोक के दिव्य भोगों को भोगते हैं। भोग द्वारा पुण्य के क्षीण हो जाने पर वे पुनः मर्त्यलोक में लौट आते हैं।"

इस प्रकार दिव्य भोग तथा लोक भी देश काल के परिच्छेद से परिच्छिन्न तथा नियन्त्रित हैं। माना कि भोगदृष्टि से देवत्व बहुत ऊंची कक्षा है; परन्तु इस स्वभाव वाला मनुष्य भी अभी जागरूक नहीं हुआ। उसके लिए अध्यात्म-पथ अभी दूर है। इसमें सन्देह नहीं कि वह अब असुरों के समान भोग्य पदार्थों को अन्याय पूर्वक, बलात्कार द्वारा दूसरों से नहीं छीनता और न ही न्यायोपार्जित धन-धान्य का लोभवश संग्रह करता है। अब वह आप अकेला ही स्वादु पदार्थों का उपभोग नहीं करता और न ही अपने सब धन का व्यय अपने पर ही कर देता है। प्रत्युत अपनी शुद्ध कमाई यथोचित अधिकारियों (साधु, भक्त, तपस्वी, अनाथ विधवा, निर्धन, आतुरादि) की अन्न वस्त्र आदि से यथा शक्ति सहायता करता है। परन्तु अभी उसने ऐन्द्रिय भोगों की अपूर्णता, तृष्णावर्धकता तथा क्षणभङ्गुरता आदि दोषों की ओर ध्यान नहीं दिया, इनमें छिपी हुई मृत्यु को नहीं देखा। अभी वह इनके आपात-रमणीय स्वरूप में ही आसक्त हो रहा है। इनसे परे जो नित्य, अजर, अमर, सच्चिदानन्द-धन, एक रस स्वरूप परमसुख है उसकी झलक क्या अभी तक उसकी जिज्ञासा भी उसमें उत्पन्न नहीं हुई। ऐहिक भोगों के दासतामय जीवन से ऊपर उठकर मोक्षरूपी उच्चपद की ओर लेजाने वाले अध्यात्म-मार्ग की ओर उसने एक पग भी नहीं उठाया। अभी तक

उसने यह नहीं समझा कि "मनुष्य जीवन केवल अन्न पर ही निर्भर नहीं है" (Man does not live on bread alone.) अभी उसके अन्दर आध्यात्मिक जिज्ञासारूपी क्षुधा तथा पिपासा प्रादुर्भूत नहीं हुई। अभी वह उस रोगी के समान है जिसकी क्षुधा मन्द हो चुकी है और इसी लिए जीवनाधारभूत अन्न से उसकी अरुचि हो गयी है। वह अभी ऐहिक भोगों को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझ रहा है। इसलिए उन्हीं के उपार्जन करने में अपनी बुद्धिमत्ता मान रहा है, तथा उनकी त्रुटियों तथा दोषों की ओर से उसने अपनी आंखें फेर ली हैं।

३२. देवताओं को स्वाधिकारोचित उपदेश

जिन मनुष्यों ने असुर तथा मानवीय स्वभावों का अतिक्रमण करके देवत्व को प्राप्त कर लिया है उन्हीं के लिए प्रजापति का तीसरा उपदेश "मन तथा इन्द्रियों का पूर्णतया दमन करो" चरितार्थ होता है। जिस के चित्त से आसुरी हिंसामय तथा मानवीय लोभी स्वभाव दोनों सर्वथा निकल चुके हैं। जो यज्ञ, दान तथा परोपकार को क्रियात्मक रूप से अपना चुका है। वह जहां तक अध्यात्म-पथ पर चल चुका है। वहीं से वह 'दमन' रूपी इस तृतीय उपदेश का अधिकारी है।

परम्परा से तो मनुष्य मात्र ब्रह्म-विद्या का अधिकारी है। परन्तु व्यवधान रहित साक्षात् अधिकार उपर्युक्त तृतीय कक्षा वालों को ही है जो 'दमन' युक्त देव स्वभाव को प्राप्त हो चुके हैं। अतः इसी का आगे वर्णन किया जाएगा। पूर्व की दो कक्षाओं का गौण रूप से आनुषङ्गिक वर्णन किया गया है। जिससे पाठकों को हमारा तात्पर्य सुगमता से समझ में आसके।

पहला अध्याय समाप्त

दूसरा अध्याय

साधन चतुष्टय

१. विवेक वैराग्य

२. प्रजापति के उपदेश का सार

गत अध्याय में प्रजापति के उपदेश क्रम से यह स्पष्ट किया गया है कि शास्त्रोपदेश में तीन वर्गों का अधिकार है। इन में प्रथम वर्ग उन मनुष्यों का है जो असुर स्वभाव वाले हैं परन्तु धर्म के जिज्ञासु भी हैं। अभी उनका स्वभाव हिंसा प्रधान है। इनसे भी अधम कोटि उन पामर मनुष्यों की है जो कि वैषयिक तृष्णा को अपनी मनमानी अशास्त्रीय विधि से पूर्ण करते हैं; और शास्त्र श्रद्धा से रहित हैं। अभी उनमें धर्मोपदेश की जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं हुई है। इसी लिए वे अभी शास्त्रोपदेश के अधिकार की परिधि में नहीं आते जैसे पशु-पक्षी। द्वितीय वर्ग में उन मनुष्यों की गणना होती है जो हिंसामय स्वभाव को त्याग चुके हैं, परन्तु लोभवश अपने न्यायोपार्जित धन-धान्य से परोपकार के लिए कुछ भी व्यय नहीं करते। लोभरूपी मल से अभी उनका स्वभाव मलिन है। तृतीय वर्ग देव स्वभाव वाले लोगों का है, जो अपने न्यायपूर्वक उपार्जित धन-धान्य में से दूसरों के हितार्थ उदारता पूर्वक व्यय करते हैं, एवं यज्ञ, दान तथा अन्य धर्म विहित कार्यों में भी उनकी पूर्ण श्रद्धा है। प्रायः उनका जीवन धर्ममय होता है। पुण्य कर्मों में प्रवृत्ति उनकी स्वाभाविक होती है। परन्तु उनके चित्त में दिव्य भोगों की सतत अभिलाषा बनी रहती है। इसी लिए और इसी दृष्टि कोण से वे शास्त्रीय जीवन व्यतीत करते हैं। उनका लक्ष्य दिव्य भोग तथा ऐश्वर्य मात्र ही है। इन्हीं तीन वर्गों को अधिकार के अनुसार प्रजापति ने उपदेश दिया— "दया करो" "दान करो" "दमन करो"। अपनी २ योग्यता के अनुसार ही उपदेश समझ में आसकता है और उस पर आचरण भी श्रद्धा पूर्वक किया जासकता है। अपनी योग्यता से न्यून या अधिक, उत्कृष्ट तथा अपकृष्ट उपदेश पर न तो श्रद्धा ही हो सकती है और न उसके अनुकूल आचरण करना ही शक्य होता है। इसीलिए प्रथम दो वर्गों को शास्त्रीय मार्ग के अनुसार लौकिक भोगों के उपार्जन तथा सेवन का उपदेश किया गया है, कि जिसके आचरण द्वारा वे परिणामतः दुःख से बचकर वास्तविक सुख को प्राप्त कर सकें और यथासम्भव उत्तरोत्तर दिव्य सुख के भागी भी बन सकें।

वस्तुतः सांसारिक भोग मार्ग किसी विधि से भी सर्वथा दुःखरहित कदापि नहीं हो सकता। परन्तु अभी उन प्राथमिक दोनों वर्गों को अपने अधिकार से ऊंची शिक्षा का रहस्य ही समझ में नहीं आसकता। जिस प्रकार साधारणतया धनियों के होने वाले दुःखों को निर्धन व्यक्ति नहीं समझ सकते हैं। वे उनके उच्च प्रासाद, भवन, उद्यान, मोटर तथा अन्य नानाविध उपभोग सामग्री को अत्यन्त रमणीक तथा सर्वथा सुखप्रद ही समझते हैं। परन्तु उनकी योगक्षेम सम्बन्धिनी अपरिमेय चिन्ताओं तथा सदा निरन्तर बढ़ने वाली भोग, मान आदि की लालसा रूपी अग्नि जन्य अपार दुःख का तो उनकी बुद्धि अनुमान भी नहीं कर सकती। सर्वसाधारण धनियों को भी इनकी व्यथा का समझ

में आना अत्यन्त कठिन है। अत एव कोई विरला दिव्य भोग सम्पन्न विचारवान् ही इस हृदय विदारक तथ्य को समझ सकता है। या भोग सामग्री रहित होने पर भी पूर्वपुण्य-समूह जन्य सद्-बुद्धि द्वारा विवेकी पुरुष इस रहस्य को जान सकता है। इसलिए भोग-त्याग रूपी इस मोक्षधर्म का उपदेश देवताओं को ही किया गया है।

इस तृतीय श्रेणी से उपनिषद् शिक्षा का कुछ कुछ आरम्भ होता है। आजकल प्रायः आसुरी स्वभाव की ही प्रधानता है। इसलिए उपनिषद् शिक्षा का पूर्ण अधिकारी मिलना ही दुर्लभ सा हो रहा है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त की खुली शिक्षा लाभ के स्थान पर प्रायः हानिप्रद सिद्ध हो रही है। उपनिषद् के गूढ़ आशय को अधिगम करने की सामर्थ्य न होने के कारण ही अर्थ का अनर्थ किया जाता है। योग्य अधिकारी को प्राप्त होकर ही प्रत्येक विद्या सफल हुआ करती है। अन्यथा व्यर्थ श्रम ही उठाना पड़ता है।

३. भिन्न-भिन्न कक्षाओं में भक्ति तारतम्य

पहले कही गयी असुर तथा मनुष्य की श्रेणियों में मनुष्य अत्यन्त नास्तिक नहीं होता। सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता ईश्वर में तथा उसके अटल विधान में दृढ़ विश्वास रखता है। उसके आदेश को शिरोधार्य मानता है। उसी में अपना कल्याण समझता है। वह ईश्वर की उपासना भी करता है। अन्य विहित कर्मों को भी शास्त्र-रीति के अनुसार करता है। वह भगवान का भक्त है। परन्तु अभी उसका चित्त मोक्ष-जिज्ञासा से शून्य है। भगवान् कृष्ण ने भी अपने भक्तों के चार विभाग गीता में वर्णन किये हैं:—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ गीता ७,१६

"हे अर्जुन! चार प्रकार के भक्त मेरी शरण लेकर मेरी सेवा तथा भजन करते हैं। ये सब ही पुण्य कर्म करने वाले हैं। क्योंकि बिना पुण्य सञ्चय के वाङ्-मनसागोचर भगवत्तत्त्व में श्रद्धा ही नहीं होती। पुण्य रूपी क्षार से पाप रूपी मल के धुल जाने पर ही मनुष्य भगवान् की शरण में आता है। प्रश्न होता है कि जब ये चार प्रकार के भक्त सब के सब भगवान् की शरण में आ जाते हैं तो इन में भेद किस आधार पर किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि उनके भेद का कारण उनका भिन्न प्रयोजन ही है। जिसको लक्ष्य में रखकर वे प्रभु की शरण में आते हैं। जैसे (१) आर्त—तस्कर, व्याध तथा रोगादि से अभिभूत अपने रोग, भय तथा दुःख को दूर करने के लिए ही भगवान् की शरण में आता है। वह अपने दुःख से छूटने का उपाय भगवान् की शरण में जाने को ही समझता है। इसके अतिरिक्त और किसी उपाय पर उसका दृढ़ विश्वास नहीं होता। उसके दुःख की औषधि केवल भगवच्छरण ही है। (२) जिज्ञासु—भगवत्तत्त्व मात्र के दर्शन की अभिलाषा रखने वाला व्यक्ति अपने लक्ष्य की पूर्ति का अनन्य साधन भगवान् की शरण को ही समझता है। (३) अर्थार्थी—धन, जन, पद, ऐश्वर्य तथा प्रभुत्व आदि अर्थों के लिए वह अनन्य भाव से भगवान् की आराधना करता है।

(४) ज्ञानी—जो भगवत्तत्त्व का हस्तामलकवत् साक्षात्कार कर लेता है और उस आनन्द-मयी स्थिति की अनवच्छिन्न धारा का उपाय भगवान् के अनन्य भजन को ही समझ कर उनके शरणापन्न हो जाता है।

आर्त तथा अर्थार्थी दोनों भगवान् के भक्त तो अवश्य हैं; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं उन्हें अपना भक्त बतलाते हैं। परन्तु अभी उनका लक्ष्य भगवान् नहीं प्रत्युत संसार ही है। उसी की सिद्धि के लिए वे भगवान् को अपना साधन बनाते हैं, न कि साध्य। उनकी भक्ति का प्रयोजन भगवत्प्राप्ति नहीं है। देवत्व-प्राप्तिपर्यन्त भगवान् में श्रद्धा, विश्वास, प्रेम तथा भक्ति तो अवश्य होती है, परन्तु उस भक्ति का ध्येय अभी अखण्ड, सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् नहीं होता प्रत्युत स्थूल, दिव्य भोगैश्वर्य आदि ही होता है। भोग वासना मल से मलिन सत्त्व होने के कारण ये अभी उस परमतत्त्व को अपना लक्ष्य नहीं समझ सकते। उपनिषदों में तो परमध्येय का वर्णन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' रूप में किया गया है। अतः अभी तक वे उस औपनिषद तत्त्व के साक्षात साधन ब्रह्म-विद्या के अधिकारी नहीं समझे जाते।

ब्रह्मविद्या का उपदेश उनके लिए उपयुक्त हो सकता है जो इह लोक तथा परलोक के विषय भोगों के दोषों का अन्वेषण करने लग गये हैं। परन्तु जिनकी अभी धर्मजन्य दिव्य भोगों में भी कुछ न कुछ आस्था, रति तथा आसक्ति बनी हुई है। उनकी भी ब्रह्म-विद्या में गति नहीं है। परन्तु जिन महाभाग्यशाली जिज्ञासुओं की बुद्धि ऐहिक तथा आमुष्मिक रमणीक भोगों से सन्तुष्ट नहीं हो सकती उनके लिए श्रुति भगवती दिव्य भोगों के उपाय आदि का वर्णन करने के पश्चात् (मुण्डक २, ७, १३ में) मोक्ष धर्म का उपदेश आरम्भ करती है। यहीं से उस परा विद्या के उपदेश का सूत्रपात होता है। अर्थात् उसके उपयोगी साधन चतुष्टय की सामग्री का वर्णन किया जाता है। इस सामग्रीसम्पन्न मनुष्य का ही उपनिषद् (ब्रह्म-विद्या) में अधिकार है, ऐसा सच्चा जिज्ञासु ही श्रवण आदि द्वारा सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाता है अन्यथा कदापि नहीं। उसी सामग्री का सविस्तार वर्णन आगामी कुछ पृष्ठों में किया जाएगा।

५. साधन चतुष्टयान्तर्गत प्रथम साधन

नित्यानित्य वस्तु विवेक

"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ मुण्डक २,७
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ मु० २,८
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ मु० २,९
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ मु० २,१०

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥" मु० २,१२

१६ऋत्विज्, यजमान तथा यजमान-पत्नी इन अठारह के आश्रित "स्वर्गीय सुखोपभोग के साधनभूत अग्निष्टोमादि अनेक-विध यज्ञ आदि कर्म शास्त्र में कहे गये हैं। यद्यपि इस संसार के भोगों की तुलना में आगे के लोकों के दिव्य भोग अत्यन्त रमणीय तथा चिरस्थायी हैं, तथापि क्योंकि इनके सम्पादन का आश्रय ऋत्विजादि ही अस्थिर तथा नाशवान् हैं। इसलिए वे सब कर्म अपने फलों के सहित समय पाकर अवश्य ही नष्ट होने वाले हैं। जैसे क्षीर, दधि आदि पदार्थ अपने आश्रय कुण्डादि के टूटने पर विकीर्ण हो जाते हैं। क्योंकि कर्म का सम्पादन तथा उसके सम्पादन-कर्ता ऋत्विजादि सादि हैं; और कोई भी सादि-भाव नित्य स्थिर तथा शाश्वत नहीं हो सकता। अतः जो मूढ़, विवेकभ्रष्ट-कर्मठ, केवल कर्मकाण्ड को ही परम श्रेयस् का साधन मानते तथा प्रमुदित मन से इनके अनुष्ठान में ही अपनी कृतकृत्यता समझ लेते हैं। वे भ्रान्त मति वाले कर्मठ स्वर्ग में जाकर नियत समय तक वहां के दिव्य भोगों का उपभोग करते हैं, और फिर पुनः पुनः जन्म-मृत्यु के आवर्त में पड़ते हैं (७)। इनके अज्ञान, अविवेक की कोई सीमा नहीं है; क्योंकि अज्ञानी होते हुए भी अपने आप को धीर पण्डित तथा तत्त्ववित् मान बैठते हैं। उन्होंने अपने अविवेक को ही विवेक मान कर उसे अपना नेता मान लिया है। अत एव जरा व्याधि आदि अनेक अनर्थ समूह रूपी पङ्क में निमग्न हुए दिन रात पीड़ित होते हैं। जैसे लोक में अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे गर्त में गिरते तथा कण्टकाकीर्ण स्थल में जा फंसते हैं। वे मार्ग को सुलझाने का जितना प्रयत्न करते हैं उतना ही वे उलझते जाते हैं। क्योंकि उन्हों ने तो अपने अविवेक (यज्ञ, दान आदि का फल परम-श्रेय है) को ही विवेक (ज्ञान) मान रखा है। उन्हें इसमें यत्किञ्चित् भी सन्देह नहीं, जो अपनी भूल समझ कर उसे सुधारने का प्रयत्न कर सकें (८)। अनेक प्रकार की अविद्या में ग्रस्त हुए हुए वे अज्ञानी (कर्मठ) जन ऐसा अभिमान करते हैं कि हम कृतार्थ हो गये हैं, हमने परम लक्ष्य को सिद्ध कर लिया है। परन्तु केवल उपासना (ज्ञान रहित कर्म ही में श्रद्धा रखने) वाले मूल तत्त्व को नहीं जानते; क्योंकि उनकी बुद्धि कर्मफल स्वर्ग आदि में राग के कारण मोह-ग्रस्त है। अत एव वे रागजन्य दुःख से पीड़ित होते हुए नाशवान् कर्म फल स्वर्ग से च्युत होते हैं (९)। जो लोग पुत्र, बन्धु तथा पशु आदि के मोह के कारण अविवेक जन्य मूढ़ता की पराकाष्ठा को पहुंच गये हैं, वे यज्ञ आदि श्रौत इष्ट कर्मों तथा वापी, कूप, तड़ाग आदि स्मार्त पूर्त कर्मों को परम पुरुषार्थ का प्रधानतम साधन मानते हैं। परन्तु जो लोग कर्म से भिन्न परमात्मोपासना तथा ज्ञान को श्रेय का साधन नहीं जानते वे अपने पुण्यों के फलरूप स्वर्गादि में कर्मफल को भोग कर पुनः इस मनुष्यलोक में या इससे भी हीन, हीनतर पशु पक्षी नरकादि स्थानों में उत्पन्न होते हैं (१०)। यहां तक कर्म-फल में आसक्त पुरुषों की गति का वर्णन करके अब सब प्रकार से विरक्त परतत्त्व के जिज्ञासु के ब्रह्मविद्या में अधिकार के संबन्ध में उपनिषद् कहते हैं। वेद में अनेक प्रकार के कर्मों का प्रतिपादन है। उनके फल भी भिन्न भिन्न बतलाए गये हैं। जैसे अग्निष्टोमादि विहित कर्म स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के साधन हैं। वर्णाश्रमोचित सन्ध्यावन्दनादि

नैत्यिक कर्मों का अनुष्ठान न करने से पाप होता है; जिसका कटुफल परलोक में अवश्य भोगना पड़ता है। निषिद्ध हिंसा, चोरी आदि कर्म करने से नरक, तिर्यक्, प्रेत, पशु, पत्ती आदि अत्यन्त दुःखप्रद योनियों में जन्म मिलता है। इसलिए परतत्त्व के जिज्ञासु को चाहिए कि वह इन सब प्रकार के विहित निषिद्ध आदि कर्मों तथा इनसे प्राप्त होने वाले लोकों के, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम आदि प्रमाणों से, वास्तविक स्वरूप की भली भांति जांच करें:— कि स्तम्ब से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त ये स्थूल तथा सूक्ष्म लोक अविद्या प्रेरित कर्मों के ही फल हैं। इसलिए ये बीज और अंकुर की तरह परस्पर एक दूसरे की उत्पत्ति का निमित्त बनते हैं। ये अनेक अनर्थों के साक्षात् द्वार तथा स्थान हैं और जल-बुद्बुद् के समान क्षणभंगुर और कदली-स्तम्भ की तरह निःसार हैं। आपातरमणीय प्रतीत होते हुए भी परिणाम में अत्यन्त दुःख देने वाले तथा भयजनक हैं। मरु-मरीचिका के जल के समान परम सुख की पिपासा की निवृत्ति इनके द्वारा नहीं हो सकती। गन्धर्वनगरवत् केवल विभ्रम उत्पन्न करने के हेतु हैं। इनसे आजतक न तो किसी की आत्यन्तिक तृप्ति हुई न होती है और न होगी, क्योंकि इक्षुदण्ड के चित्र के समान ये रस-शून्य हैं। इसलिए विवेकी जिज्ञासु को चाहिए कि वह इनसे अत्यन्त विरक्त हो जाए। वान्ताशनवत् पुनः इनकी स्वप्न में भी इच्छा न करे। वह यह दृढ़ निश्चय करे कि सम्पूर्ण स्वर्गादि लोक कर्म जन्य हैं, इसलिए अनित्य हैं। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो कर्म जन्य न हो और अनित्य तथा नाशवान् न हो। इसलिए इन अनित्य भोगों से जो बहुत वित्त-व्यय तथा बहुत आयास-साध्य हैं, कुछ लाभ नहीं, इनसे श्रेय प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए जिज्ञासु का इन सांसारिक भोगों से काकविष्ठावत् उदासीन रहना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि जो नित्य, एकरस आनन्द स्वरूप तत्त्व है वह नित्य होने से किसी कर्म का साध्य नहीं हो सकता। इस प्रकार विवेक पूर्वक विचार से उस अभय, शिव, नित्य पद की प्राप्ति से ही तापत्रयी का अत्यन्त शमन, परमानन्दैकरस की उपलब्धि तथा नित्य स्थिति हो सकेगी। इसके लिए जिज्ञासु को चाहिए कि वह इस परमतत्त्व के ज्ञान तथा प्राप्ति के लिए श्रद्धायुक्त समित्पाणि हो कर उस श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जावे, जो समग्र श्रुतितात्पर्य को गुरु परम्परा से भली प्रकार जान चुका हो और उस अद्वितीय अखण्डानन्दैकरस परमात्मतत्त्व का हस्तामलकवत् दर्शन कर चुका हो, और जिसने उसी को अपना एकमात्र आधार मान लिया हो (१२)।

ब्रह्म-विद्या का अधिकारी साधन-चतुष्टय सम्पन्न होता है। उनमें से प्रथम साधन नित्यानित्य वस्तु विवेक का इन वचनों से दिग्दर्शन कराया गया है।

यदा मेरुः श्रीमान् निपतति युगान्ताग्निनिहतः,
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरनिकरग्राहनिलयाः ।
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता,
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥ भर्तृहरि वै० श० ७२

"जब काल सुमेरु जैसे महान पर्वतों को जला कर गिरा देता है, ग्राहों से भरे हुए महासागरों को सुखा देता है, हिमालय के सदृश पर्वतों को धारण करने वाली

पृथिवी को भी नष्ट कर देता है, तब हाथी के कान की कोर के समान चञ्चल मनुष्य-शरीर की क्या गिनती है ? इसके नाश होने में कौनसा आश्चर्य है।

उपर्युक्त विषयक कर्म-फल की अनित्यता के दर्शाने वाले गीता के कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं:—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ गीता २,४१
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ ४२
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्, अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ गी० ९,२०
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ गी० ९,२१

"हे कुरुनन्दन ! इस श्रेयमार्ग में निश्चय स्वभाव वाली बुद्धि एक ही होती है। परन्तु कल्याणमार्ग विहीन, बहु विध-कर्म फलों में आसक्ति रखने वालों की कर्म तथा फल भेद के कारण बुद्धियां भी अनन्त तथा विभिन्न होती हैं। कल्याणमार्ग के एक होने के कारण इस में भेद तथा बुद्धि की अनेकता होना संभव नहीं है (४१)। हे पार्थ ! जो अविवेकी लोग कर्मकाण्डात्मक वेद के साधन कर्म तथा फल में ही आसक्त हैं और जो श्रवणमात्र रमणीक इन वचनों को कहते हैं, कि वेद में स्वर्ग तथा हिरण्य हस्ती फलों के साधनों वाले कर्मों से अतिरिक्त मनुष्य का अन्य कोई ऊंचा लक्ष्य तथा साधन वर्णित नहीं है (४२)। वे कर्मठ कामलोलुप स्वर्ग को ही परम लक्ष्य मानते हैं, और इसकी प्राप्ति के लिए और वहां भोगैश्वर्य के उपभोग के लिए, बहु-वित्त-व्यय तथा बहु-आयास-युक्त कर्म को ही उसका साधन मानते हैं। इसलिए वे मूढ़ जन्म-मृत्यु वाले इस संसारचक्र में निरन्तर घूमते हैं (४३)। भोगैश्वर्य में आसक्त मनुष्यों की बुद्धि परमार्थसाधन में

एकाग्र नहीं हो सकती; क्योंकि स्वर्ग के दिव्य भोगों को वर्णन करने वाली वेदवाणी ने उनके चित्तों को भोगपरायण बना दिया है (४४)। हे अर्जुन ! इस कर्मकाण्डात्मक वेद का लक्ष्य तीन गुणों वाला स्थूल-सूक्ष्म संसारचक्र ही है। इसलिए तुम इस नाशवान् तथा सुख दुःख आदि विविध द्वन्द्वों से युक्त सांसारिक लक्ष्य को छोड़ दो, योग-क्षेम की चिन्ता को त्याग दो, क्योंकि योग-क्षेम की चिन्ता वाले पुरुष की परमार्थ साधन में प्रवृत्ति का होना कठिन है। इसलिए तुम शुद्ध सत्त्वगुण की निष्ठा को प्राप्त कर परमार्थ साधन में जागरूक तथा अप्रमत्त हो जाओ (४५)। हे कुन्तीनन्दन ! परमार्थ भगवत्तत्त्व के प्राप्त हो जाने पर वेद प्रतिपादित स्वर्गीय दिव्य भोग आदि सब प्रकार के कर्मफल एक बिन्दु के समान इस आनन्द सागर के अन्तर्गत हो जाते हैं। जैसे कूप, वापी, तड़ाग आदि नाना जलाशयों से सिद्ध होने वाले स्नान, पान, तथा वस्त्र-प्रक्षालनादि सब प्रयोजन स्वच्छ, मधुर परिपूर्ण जल सागर से अत्यन्त सुगमता तथा भली प्रकार से सम्पन्न हो जाते हैं। और उस पर विशेषता यह है कि सब प्रकार के कर्मफल नाशवान्, आपातरमणीय, परिणाम में दुःख देने वाले, वृद्धि तथा ह्रास युक्त, तथा हर्ष, शोक, स्पर्धा तारतम्यमय होते हैं, परन्तु यह भगवत् प्राप्ति रूपी परमतत्त्व कूटस्थ, नित्य, अखण्ड सच्चिदानन्दरूप, षड्भाव विकार रहित, एक रस रहने वाला है। इसलिए इन कर्मफलों को तुच्छ जान इन की रुचि को अपने चित्त से सर्वथा निकाल दो और उस परमतत्त्व की प्राप्ति के साधन में निरन्तर लगे रहो (४६)। हे धनञ्जय ! ऋग्, यजु तथा सामवेद को जानने वाले, जिनके हृदय सोम-पान से शुद्ध हो गये हैं; वे अग्निष्टोमादि यज्ञों को सम्पादन करके मुझ से उन यज्ञों के फल रूप में स्वर्गप्राप्ति की याचना करते हैं। मृत्यु के पश्चात् वे अपने पुण्यफल से स्वर्ग को पाते हैं और वहां अप्राकृतिक दिव्य भोगों को भोगते हैं (९,२०)। हे पाण्डुनन्दन ! वे उन विशाल स्वर्गीय भोगों को पुण्य के अनुरूप निश्चित समय पर्यन्त भोगते हैं। और पुण्य-राशि के समाप्त हो जाने पर जन्म-मृत्यु वाले मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार वेद-त्रयी द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड में संलग्न वे कामलोलुप कर्मठ जन्म-मृत्यु वाले इस संसारचक्र में बार बार आते जाते रहते हैं। उनको इस दुःखदायी संसार गति से विमुक्ति रूपी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती (९,२१)। परन्तु विवेकी पुरुष नित्यानित्य वस्तु द्वारा अनित्य का परित्याग करके नित्य, कूटस्थ, जरा-मृत्यु वर्जित तत्त्व को पाजाता है।

५. वैराग्य

उपर्युक्त दृढ़ विवेक का फल ही वैराग्य है। इसका विशद वर्णन कठोपनिषद् के यम-नचिकेता संवाद में किया गया है। यमाचार्य ने नचिकेता को आत्मा की दुर्विज्ञे-यता रूपी भय दिखा कर भयभीत तथा अनेक चित्ताकर्षक प्रलोभनों द्वारा आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से विचलित करने का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु वह धीर, दृढ़विवेकी बालक अपनी उत्कट तथा अदम्य ब्रह्मजिज्ञासा रूपी स्थिर शिला पर ध्रुव के समान अटल तथा स्थिर रहा। क्योंकि वह श्रुति प्रतिपादित, कूटस्थ, अमर पद को अपना अनन्य लक्ष्य बना चुका था, यमाचार्य कहते हैं:—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ कठो० १,२१

आत्मतत्त्व सुविज्ञेय नहीं है। हे नचिकेता! साधारण योग्यता वाले मनुष्यों की तो बात ही क्या है, पूर्वकाल में सत्त्वगुण प्रधान बुद्धि वाले देवताओं को भी इस परम-तत्त्व के संबन्ध में अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न हुए। इसलिए सामान्य संसारी स्थूल बुद्धि वाले प्राकृत जन बारबार सुनने सुनाने पर भी इस तत्त्व को निःसन्देह भली प्रकार से नहीं समझ सकते। क्योंकि यह आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दुर्गम है। हे नचिकेता! तुम अभी सुकुमार बालक हो, तुम्हारी बुद्धि अभी चञ्चल तथा अपरिपक्व है। इसलिए तुम कोई सुलभ तथा निश्चित फल वाला अन्य वर मांगो। अपने इस आग्रह का परित्याग करदो। ऐसे गूढ तथा दुर्विज्ञेय तत्त्व के प्रतिपादन के लिए मुझे बाधित मत करो। यमाचार्य के ऐसा कहने पर धीर बालक नचिकेता कहता है:—

"देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥" १,२२

"हे भगवन्! मैं यह मानता हूं कि आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म तथा दुर्गम है। परन्तु ऐसा मान लेने पर मेरी जिज्ञासा शान्त न होकर तीव्र ही होती है। आपभी इसकी पुष्टि कर रहे हैं कि यह आत्मतत्त्व मेरे लिए सुविज्ञेय नहीं है क्योंकि इसमें देवताओं को भी कई प्रकार के संशय हुए। बड़े बड़े चतुर पण्डितों की बुद्धि भी इस विषय में कुण्ठित हो जाती है। तो फिर आप सरीखा आत्मतत्त्ववित् कुशल आचार्य मुझे और कहां मिलेगा। अतः मैं इस उत्तम अवसर से भरपूर लाभ उठाऊंगा। यह आत्मतत्त्व विज्ञान ही परम निःश्रेयस का अनन्य, निरपेक्ष हेतु है। इसलिए मैं इसके समान अन्य किसी वर को नहीं समझता। मेरी दृढ़ धारणा, आस्था तथा जिज्ञासा इसी वर के लिए है। क्योंकि इसके अतिरिक्त सब अनित्य फल के देने वाले हैं। इसलिए ऐसे अपूर्व नित्य तत्त्व की जिज्ञासा संबन्धी वर को मैं कदापि नहीं छोड़ सकता। कृपया आप इसी वर को प्रदान करके मेरी जिज्ञासा का शमन करें (२२)।

६. भोगैश्वर्य आदि के दोष

नचिकेता के इस प्रकार कहने पर यम पुनः नचिकेता को प्रलोभन देते हुए कहते हैं:—

"शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ १, २३
एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥" १, २४

जब यमाचार्य ने यह समझ लिया कि इस धीर बालक को आत्मतत्त्व की दुर्विज्ञेयता रूपी भीति द्वारा भयभीत करके आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से विचलित नहीं कर सकते तो वे उसे भोगों के प्रलोभन देकर उस की परीक्षा करते हैं कि वह आत्मतत्त्व के जानने का सच्चा अधिकारी है या नहीं। वे कहते हैं—"हे नचिकेता! तुम संसार में अत्यन्त

प्रिय माने जाने वाले पुत्र पौत्रों को मांग लो, जो मानवीय पूर्णायु (सौ वर्ष तक दीर्घजीवी), नीरोग, बलिष्ठ, नीतियुक्त, चतुर, धर्मात्मा, यशस्वी तथा कीर्तियुक्त हों। इस के अतिरिक्त अत्यन्त उपकारी गौ, हाथी, घोड़े आदि पशुओं को मांग लो। और अमित स्वर्ण-राशि तथा संपूर्ण पृथ्वी का निर्द्वन्द्व, निष्कण्टक साम्राज्य मांग लो। तुम अपने आप सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहो, अथवा जितने समय तक जीवित रहना चाहो उतनी दीर्घायु मुझ से मांग लो (२३)। यदि अन्य किसी ऐसे वर की कामना हो तो वह भी मांग लो। मैं तुम्हें प्रसन्नता पूर्वक आशीर्वाद देता हूँ कि तुम जगत् में दीर्घजीवी होवो। धन-धान्य से सदा तुम्हारे भण्डार भरपूर रहें। तुम स्वस्थ रह कर भोगैश्वर्य भोग सको। तुम्हारा साम्राज्य तुम्हारी आयु पर्यन्त बना रहे। रोग तथा आपत्तियां तुम्हारी ओर देख तक न सकें" (२४)। यम पुनः उसे दिव्य भोगों का प्रलोभन देते हैं, क्योंकि वे भांप गये हैं कि नचिकेता इन सब लौकिक भोगैश्वर्यों से विमुख हो रहा हैः—

"ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लंभनीया मनुष्यैः ॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥" कठ० १,२५

"हे नचिकेता! मर्त्यलोक में जिन जिन मनोवाञ्छित कामनाओं की पूर्ति दुर्लभ तथा असंभव है, उन सब को तुम अपनी इच्छा के अनुसार मुझ से मांग लो। मैं प्रसन्नता पूर्वक तुम्हें ये दिव्य अप्सराएं देता हूं, जो तपस्वियों के चित्त को भी अनायास ही हर लेने वाली हैं, इन के वाहन दिव्य रथों को भी स्वीकार करो। साथ ही विविध वाद्य वीणा आदि भी देता हूं। मुझ से दिये हुए इन सब दिव्य भोगों का आनन्द पूर्वक उपभोग करो, और इन अप्सराओं को अपनी परिचर्या में रखो। मेरी कृपा के बिना किसी मनुष्य को इन की प्राप्ति होना संभव नहीं है। अब तुम अपना आग्रह छोड़ कर इन्हें स्वीकार करो। मृत्यु के अनन्तर प्राणी का क्या अवशिष्ट रहता है? वह क्या है? कैसे जाना जा सकता है? इत्यादि प्रश्नों को मुझ से मत पूछो" (२५)। यमाचार्य के इस प्रकार दिव्य भोगों के प्रलोभन देने पर भी परम गम्भीर बालक नचिकेता के शान्त स्वभाव में कुछ विकार नहीं हुआ।

"श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते ॥" कठ० १,२६

ऐहिक तथा पारलौकिक भोगैश्वर्य के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले नचिकेता के समुद्र के समान गम्भीर, हिमालय सदृश स्थिर तथा नीरक्षीर के पृथक् करने में निपुण हंस के समान विवेकी चित्त में इन स्वर्गीय दिव्य भोगैश्वर्यों के प्रलोभन से किञ्चिन्मात्र क्षोभ तथा लालसा उत्पन्न नहीं हुई। किसी कवि ने सत्य कहा हैः—"विकार-हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः" चित्त में विकार उत्पन्न करने वाले अनेक प्रलोभनों के सम्मुख उपस्थित होने पर जिन महान् पुरुषों के चित्त में विकार उत्पन्न नहीं होता वही सच्चे धीर पुरुष कहलाते हैं'। यह उक्ति नचिकेता पर ठीक चरितार्थ

होती है। दृढ़, शान्त तथा निर्भीक वाणी से नचिकेता ने कहा:—"हे प्राणियों का अन्त करने वाले मृत्यु ! जिन आपातरमणीय भोगों के प्रलोभन का जाल आप मेरे सामने फैला रहे हैं, इन की सत्ता अत्यन्त सन्दिग्ध तथा अनिश्चित है। इनके विषय में तो यह भी पता नहीं कि ये कल तक भी रहेंगे या नहीं । इनका उपभोग इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देता है। इन अप्सरा आदि का क्षणिक सुखोपभोग धर्म, वीर्य, बुद्धि, बल, यश आदि के नाश का हेतु है। यह निश्चित रूप से अनेक अनर्थों तथा आपत्तियों का द्वार तथा घर है। और आप जो दीर्घ आयु का प्रलोभन दे रहे हैं उसकी दशा यह है कि जब ब्रह्मा के अनेक कल्प की आयु भी इस अखण्ड काल की अपेक्षा क्षण मात्र से भी अल्प है, तो मेरे सरीखे मनुष्य की आयु की दीर्घता के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है। जब स्रष्टा ब्रह्मा का भी अन्त होता है और वह भी मृत्यु के मुख का ग्रास बनता है तथा मृत्यु के भय से बचा हुआ नहीं है, तो अन्य किसी प्राणी के विषय में क्या कहना !

'येषां निमेषोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ ।
तादृशा पुरुषा यान्ति मादृशां गणनैव का ॥'

'जिनके नेत्रों के खोलने और बन्द करने से जगत् का उदय और अस्त होता है, वे जब काल का ग्रास बनते हैं, तो हम सरीखों की क्या गणना।' बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा महाराजा तथा देवाधिपति इन्द्र भी स्वर्ग की कुछ दिन शोभा देख कर ऐसे नाश को प्राप्त हुए कि अब उनके नाम का भी किसी को पता नहीं। इसलिए हे यमराज, इन सब भोगों तथा अप्सरा आदिकों को आप अपने पास ही रखें। मुझे इनकी कुछ आवश्यकता नहीं, मेरे चित्त में केवल आत्मतत्त्व के जानने की उत्कट अभिलाषा है। उसी को पूर्ण करने की कृपा कीजिए" (२६)। क्योंकि:—

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥" कठ० १,२७

"धन से मनुष्य कभी सन्तुष्ट तथा तृप्त नहीं हो सकता। क्योंकि धन लाभ से कोई भी मनुष्य लोक में तृप्त हुआ नहीं दीखता। यदि हमने आप से परमतत्त्व को जान लिया तो धन आदि भोग तथा दीर्घ आयु सब कुछ हमें इसी में प्राप्त हो जाएगा। इसलिए मेरा वर तो वही है" (२७)।

भोगों द्वारा किसकी कामना शान्त हुई है ? उलटे कामोपभोग से तो चित्त की चञ्चलता बढ़ती जाती है। कहा है:—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥" मनु २,९४

"विषय भोगों की तृष्णा भोगों के सेवन से कदापि शान्त नहीं हो सकती। प्रत्युत जैसे अग्नि में घी की आहुति डालने से अग्नि की ज्वाला बढ़ती है, वैसे ही भोग रूप इन्धन के डालने से तृष्णारूपी अग्नि की ज्वाला बढ़ती है।" महाभारत में ययाति का

उपाख्यान इस विषय का ज्वलन्त उदाहरण है। ययाति कहता है कि पृथिवी का संपूर्ण धन, धान्य, सुवर्ण, पशु तथा युवतियां किसी एक मनुष्य की तृप्ति भी नहीं कर सकीं। यदि किसी व्यक्ति को इस में सन्देह हो तो उसे राजाओं, महाराजाओं और चक्रवर्तियों की दशा तथा चरित्र की ओर ध्यान देना चाहिए। अतः इस अग्नि के समान कभी तृप्त न होने वाली भोगतृष्णा का परित्याग ही स्थिर सुख का हेतु हो सकता है। महाराज ययाति अपने अनुभव को बताते हैं कि "विषयासक्त चित्त से मुझे विषय भोगों को भोगते भोगते पूरे सहस्र वर्ष बीत गये परन्तु मेरी भोगतृष्णा शान्त न होकर प्रतिदिन उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जारही है।" मनु महाराज का कथन है:—

"यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥" मनु० २,९५

"जो मनुष्य अपनी भोगतृष्णा की शान्ति के लिए सब विषयों को प्राप्त करता है तथा जो दूसरा त्याग को तृष्णापूर्ति का साधन मान कर सब विषयों का परित्याग कर देता है। इन दोनों में विषयों का त्याग करने वाला व्यक्ति ही उत्तम है। क्योंकि विषयों को प्राप्त करने वाले की कामना तो शान्त नहीं होती और उसकी हो जाती है।" जैसे ऊपर के श्लोकों में कहा गया है। विषय लोलुप को विषयों के जुटाने में पर्याप्त कष्ट उठाना पड़ता है और उनकी रक्षा, व्यय तथा नाश से भी हताश होना पड़ता है; इतने पर भी तृष्णा की शान्ति नहीं होती, अतृप्ति पूर्व की अपेक्षा भी बढ़ जाती है। इनके परित्याग करने वाला इन सब बखेड़ों से मुक्त हो जाता है। इसलिए विवेकी नचिकेता पुनः कहता है:—

"अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान् अतिदीर्घे जीविते को रमेत॥" कठ० १,२८

"हे भगवन्! किसी के बहुत पुण्य का उदय हो तो वह अजर, अमर, अभय पद को प्राप्त आप सरीखे तत्त्ववेत्ता महानुभावों की शरण में पहुंचता है। ऐसा होने पर भी यदि वह अखण्ड, सच्चिदानन्द स्वरूप परतत्त्व के ज्ञान तथा प्राप्ति द्वारा अपनी पिपासा को पूर्णतया शान्त नहीं करता तो उसे भाग्यहीन, विवेकभ्रष्ट, विषयलोलुप ही समझना होगा। क्योंकि आप सरीखे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ही उस पिपासा की शान्ति करा सकने में समर्थ हैं। ऐसा जानते हुए भी सच्चिदानन्दैकरसस्वरूप आत्मतत्त्व को छोड़ कर, निस्सार, क्षणभंगुर, आपातरमणीय अप्सरा, प्रभुत्व, धन-धान्य आदि भोगों में किस विवेकी की आस्था तथा रमणेच्छा हो सकती है? हां! जिसका सदसद्विवेक और वैराग्य मन्द तथा अस्थिर है वही आप के इन प्रलोभनों में फंस सकता है" (२८)। इसलिए नचिकेता पुनः यम से प्रार्थना करता है:—

"यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत् सांपराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥" कठ० १,२९

हे यमराज! जिस परलोक विषयक, महान् प्रयोजन वाले परात्मतत्त्व के ज्ञान में बड़े बड़े विद्वानों, देवताओं, योगियों तथा तपस्वियों इत्यादि को भी विविध सन्देह

उत्पन्न होते हैं कि देहान्त के पश्चात् क्या तत्त्व शेष रहता है ? उसका क्या स्वरूप है ? इस जन्ममरण के चक्र से कैसे छुटकारा हो सकता है इत्यादि ? मैं आप से नम्रता पूर्वक प्रार्थना करता हूं कि आप मुझे इस आत्मतत्त्व को निर्णीत ज्ञान, साधन सामग्री सहित बताने की कृपा करें। आप मेरे जिस वर को गूढ़, सूक्ष्म तथा दुर्गम बता रहे हैं मैं इस के अतिरिक्त अन्य किसी वर को मांगने के लिए तैयार नहीं हूं। आगे जैसे आपकी इच्छा हो, मेरा वर तो वही है।

७. श्रेय तथा प्रेय परस्पर भिन्न तथा विरोधी हैं

नानाविध भय तथा प्रलोभनों पर भी नचिकेता जब इन में नहीं फंसा और इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया, तब यमाचार्य ने यह निश्चित जान लिया कि इसकी परतत्त्व विषयक जिज्ञासा दृढ़ तथा सच्ची है। और दुर्विज्ञेयता रूपी भय और इहामुष्मिक भोगों के प्रलोभन इसके दृढ़ निश्चय में कोई परिवर्तन नहीं कर सके। वह अपने निश्चय पर अटल रहा। उसकी आस्था, योग्यता तथा जिज्ञासा को देख कर यमाचार्य का चित्त हर्ष से प्रफुल्लित हो गया। योग्य अधिकारी को प्राप्त करके विद्यावंश की वृद्धि तथा रक्षा संभव होती है। इसलिए योग्य अधिकारी को पाकर आचार्य का प्रसन्न होना स्वाभाविक था। यमाचार्य प्रसन्नतापूर्वक कहने लगे:—

"अन्यच्छ्रेयो ऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयते अर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥" कठ० २,१

परमानन्द रूप निःश्रेयस तथा इन्द्रियों के आपातरमणीय विषय-भोगरूप प्रेयस्, ये दोनों अत्यन्त पृथक् पृथक् तथा भिन्न भिन्न हैं। अतः प्रेय किसी प्रकार भी श्रेय नहीं हो सकता। क्योंकि इन दोनों का प्रयोजन ही भिन्न भिन्न है। अधिकारी के भेद से शास्त्र में इन दोनों का उपदेश वर्णित है। परम निवृत्ति तथा संयमित प्रवृत्ति रूपी धर्म दोनों पुरुष को कर्त्तव्य रूप से बांधते हैं। (रुचि तथा अधिकार के अनुसार) ये विद्या तथा अविद्या रूप वाले होने से परस्पर विरोधी हैं। एक ही पुरुष इन दोनों का युगपद् अनुष्ठान नहीं कर सकता। स्वच्छ मन तथा सूक्ष्म बुद्धि वाला विवेकी पुरुष इन दोनों के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करके श्रेय का ग्रहण करता हुआ परमशिव, कल्याणस्वरूप को प्राप्त करता है। परन्तु अदूरदर्शी विमूढ़ शास्त्र-प्रदर्शित भोग-मार्ग के दुष्परिणामों को न समझ कर आपातरमणीय विषय-भोग-मार्ग का अवलम्बन करता है, इसलिए वह पारमार्थिक नित्य, परतत्त्व प्राप्तिरूपी पुरुषार्थ से भ्रष्ट होजाता है।

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥" कठ० २,२

यद्यपि श्रेयस् तथा प्रेयस् इन दोनों मार्गों में से किसी एक को ग्रहण करने में प्रत्येक मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है; तथापि मन्द बुद्धि वाला पुरुष इन दोनों के फल तथा साधन के भेद में विवेक नहीं कर सकता; क्योंकि ये परस्पर मिले जुले हुए होते हैं। इसलिए अविवेकी मन्द बुद्धि वाले के लिए इन दोनों के वास्तविक स्वरूप का समझना अत्यन्त कठिन होता है। परन्तु

सूक्ष्म बुद्धि वाला धीर पुरुष अपनी तीव्र विवेक शक्ति से इन दोनों मार्गों के फल तथा साधन भेद को ऐसे पृथक् पृथक् कर देता है जैसे हंस नीर तथा क्षीर को पृथक् पृथक् कर देता है। इसलिए वह श्रेय को अपना इष्ट मान कर इसी को अपना ध्येय निर्धारित कर लेता है। केवल यत्किञ्चित् मार्ग-विवेक से कुछ लाभ नहीं होता। इसलिए विवेक के पश्चात् उसके अनुसार अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। यह महान धैर्य का काम है। इस पर निरन्तर, निरवच्छिन्न धारा से आचरण करता हुआ धीर पुरुष अन्ततो गत्वा इसके शुभ, स्थिर, शिवरूप फल को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। परन्तु अल्पमति सद-सद् विवेक में असमर्थ होने के कारण स्थूल दृष्टि से योग-क्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति को योग तथा प्राप्त की रक्षा को क्षेम कहते हैं) के निमित्त अर्थात् धन, पुत्र, पशु आदि को प्राप्त करने के लिए प्रेय को ग्रहण करता है। क्योंकि उसकी बुद्धि आपातरमणीय पदार्थों की ओर स्वतः ही आकृष्ट हो कर उसे उन्हीं के योग-क्षेम में प्रवृत्त होने को प्रेरित तथा बाधित करती है।

८. वैराग्य तथा अनन्य श्रद्धा के विना आत्म साक्षात्कार सर्वथा असंभव है

श्रेय तथा प्रेय के भेद के सामान्य निरूपण तथा श्रेय की प्रशंसा के पश्चात् यमाचार्य नचिकेता की प्रज्ञा की स्तुति करते हुए कहते हैं:—

"स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामान् अभिध्यायन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृंकां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः" ॥ कठ० २, ३

"हे नचिकेता! मेरे बार बार प्रलोभन देने पर भी तूने पुत्र पौत्रादि प्रिय संबन्धियों तथा बाजे, गाजे, रथ, अप्सरा आदि प्रिय रूप वाले पदार्थों की, अपनी स्वच्छ, स्थिर, सूक्ष्म बुद्धि से जांच करके इनका परित्याग कर दिया। और यह निर्णय किया कि ये सब रूप तथा संबन्ध से प्रिय लगने वाले पदार्थ अनित्य, निःसार, परिणाम में दुःखदायी तथा तृष्णारूपी ज्वाला की वृद्धि करने वाले हैं। जिस भोग-मार्ग के प्रवाह में अनेक मूढ़ पुरुष प्रवाहित हो कर डूबते चले जारहे हैं, तूने उस घृणित, मूढ़-जनोचित, दुःखरूप, भोग-मार्ग को अपना ध्येय नहीं बनाया अपितु उसे काकविष्ठा तुल्य घृणास्पद समझा है।" वास्तव में तू रहस्य का सच्चा जिज्ञासु है। तेरी वैराग्य निष्ठा प्रशंसनीय है।

"दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥" कठ०२, ४

भोग-मार्ग को शास्त्र-तत्त्वज्ञों ने अविद्या और तापत्रयी के अत्यन्तोच्छेद करने वाले तथा परमानन्द, नित्य एकरस की प्राप्ति कराने वाले निवृत्ति-मार्ग को विद्या कहा है। विद्या तथा अविद्या में तम-प्रकाशवत् महान् भेद है। अविद्या का स्वरूप सदसद् अविवेक है और फल त्रिविध दुःखमय संसार है। और विद्या का स्वरूप सदसद् विवेक तथा फल नित्य सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति है। अतः स्वरूप तथा फल भेद से ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं। इसलिए किसी एक का दूसरे में समावेश भी असंभव है। कोई पुरुष एक समय में दोनों का ग्रहण नहीं कर सकता। किसी एक का ग्रहण करने के लिए

दूसरे का त्याग करना आवश्यक है। यमाचार्य नचिकेता की विवेकशील प्रज्ञा पर मुग्ध होकर प्रसन्नता पूर्वक कहते हैं कि हे वत्स नचिकेता ! निःसन्देह मैं तुम्हें पराविद्या का सच्चा जिज्ञासु, परम पुरुषार्थ का अभिलाषी और औपनिषद् तत्त्व के उपदेश का अधिकारी मानता हूं, क्योंकि अविवेकी मूढ़ पुरुषों की बुद्धि व मन को हर लेने वाले ये अप्सरा आदि भोग तुम्हें श्रेय मार्ग से विचलित तथा च्युत नहीं कर सके"।

"न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥" कठ० २, ६

"जो अविवेकी पुरुष सदा धन-धान्य तथा पुत्र-स्त्री आदि सांसारिक भोगों में ही आसक्त रहते हैं, उनकी बुद्धि पुत्र, दारा, धन आदि भोगरूप अन्धकार से आच्छादित हो जाती है। इसलिए उनको शास्त्रोक्त परलोक तथा उसकी प्राप्ति के साधन आदि का पता नहीं लगता। उनकी यही धारणा होती है कि यह उपस्थित लोक ही सत्य है, इस से परे कुछ नहीं है। इस लोक के पुत्र, स्त्री तथा धन आदि की प्राप्ति द्वारा सुखप्राप्ति ही मनुष्य का परमलक्ष्य है। ऐसा मानने वाले मूढ़, पामर, लौकायतिक मनुष्य जन्म-मृत्यु रूप मेरे जाल में फंसते हैं, बार बार जन्मते और मरते हैं। वे कभी इस चक्र से छुटकारा नहीं पा सकते। कीट, पतंग, कुक्कुर, शूकर आदि अधम योनियों में उत्पन्न हो होकर पञ्च-क्लेश रूप सागर में डूबते रहते हैं"।

"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥" कठ० २,७

"भोगों के प्रलोभन अतिलुभायमान, अलंघनीय तथा विभ्रम उत्पादक हैं; उन्हें लांघ कर ही मनुष्य आत्म-साक्षात्कार कर सकता है इसलिए वह आत्मबोध अति दुर्लभ है। सहस्रों मनुष्यों में से कोई विरला तुम्हारे जैसा दृढ़निश्चयी जिज्ञासु ही आत्म-साक्षात्कार-रूपी फल को प्राप्त करता है। आत्मतत्त्वरूप श्रेयविषयक प्रवचन का श्रवण भी अनन्त जन्मों के पुण्य-बल के विना सम्भव नहीं है। विषयासक्ति, तृष्णा, दैव तथा असंस्कृत अन्तःकरण आदि अनेक प्रतिबंध होने के कारण बहुधा सुविज्ञों द्वारा परतत्त्व-विषयक श्रवण करते हुए भी वह बुद्धि की पकड़ में नहीं आता। इसलिए आत्मतत्त्व-विषयक प्रवचन करने वाला कोई विरला निपुणमति तथा अद्भुत पुरुष होता है। इसका ज्ञाता भी परम आश्चर्य स्वरूप होता है। ऐसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य से शिक्षा प्राप्त करके कोई भाग्यवान पुण्यात्मा ही कृतकृत्य होता है।

"नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुविज्ञानाय श्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥" कठ० २,९

"यह आगम प्रतिपाद्य, आत्मविषयिणी मति तथा स्थिर-जिज्ञासा शुष्कतर्क से प्राप्त नहीं हो सकती। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के विना इसकी उपज अत्यन्त दुष्कर है। इस लिए ऐसा गुरु न हो तो अन्य अनेक गुरु होने पर भी यह तत्त्व सम्यक् प्रकार से बुद्धि पर आरूढ़ नहीं होता। इस प्रकार की आत्मविषयिणी मति तथा जिज्ञासा का

जिसे तुमने दृढ़ता पूर्वक धारण किया है कुतर्क से खण्डन नहीं किया जा सकता । हे वत्स ! तुम्हारी परतत्त्व विषयक यह जिज्ञासा दृढ़ तथा सच्ची है, तुम्हारा उत्साह अदम्य है, तुम्हारी लगन अनन्य है, तुम्हारा विवेक-वैराग्य प्रशंसनीय है, तुम्हारी आत्मश्रद्धा विलक्षण है । हे नचिकेता ! तुम्हारे सरीखा दृढप्रतिज्ञ, सत्यधृति, विवेकी, परापरवैराग्यनिष्ठ, अनन्य श्रद्धालु, आत्मतत्त्व का जिज्ञासु हो तभी ब्रह्मवेत्ता गुरुओं की विद्या सफल होती है"।

यहां तथा अन्य अनेक स्थलों पर उपनिषदों में सम्यक्तया यह वर्णन किया गया है कि ब्रह्म-विद्या के अधिकार के लिये विवेक-जन्य, अविचल वैराग्य का होना अत्यन्त आवश्यक तथा अनिवार्य है । जिस को नचिकेता के समान दृढ़ वैराग्य नहीं है, वह उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं हो सकता । जैसे ऊपर प्रतिपादन किया गया है कि प्रेय (संसारलालसा-भोग रति) तथा श्रेय (आत्मजिज्ञासा) एक ही मनुष्य में एक ही समय में ये दो विरोधी भाव नहीं रह सकते । तात्पर्य यह है कि जैसे सिकता से तेल प्राप्त नहीं किया जासकता ऐसे ही संसार में आसक्ति होने से आत्म-जिज्ञासा और मोक्ष सर्वथा असंभव है ।

दूसरा अध्याय समाप्त ।



तीसरा अध्याय

शम-दम

१. विवेक, वैराग्य तथा षट्-सम्पत्ति का महत्त्व और परस्पर सम्बन्ध

जैसे पूर्व अध्याय में वर्णन किया गया है, कि नित्यानित्य वस्तु-विवेक से मोक्ष-मार्ग की सामग्री का सूत्रपात होता है। नित्यानित्य वस्तु-विवेक दृष्टि का भेद मात्र है। इस दृष्टिकोण के भेद पर आगे के सब प्रयत्न तथा व्यवहार अवलम्बित हैं। अतः जब तक यह दृष्टि उत्पन्न न हुई हो; तब तक मोक्ष के लिए बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों का उपदेश निरर्थक है। इस दृष्टि से इस का बहुत महत्त्व है। इसकी दृढ़ता पर अन्य सब की दृढ़ता अवलम्बित है। यह परम-अध्यात्म रूपी प्रासाद की नींव है, परन्तु है नींव ही, जहां से मोक्ष तथा भोगमार्ग पृथक् पृथक् होते हैं। वहां पर यह परम आदरणीय निर्देशक-स्तम्भ (Signal post) जो दोनों मार्गों के अन्तिम ध्येय (लक्ष्य) की ओर संकेत करता है, जिस के न होने पर पथिक उलटे मार्ग पर पड़ सकता है और जितना ही उस मार्ग पर अग्रसर होता है उतना ही अपने ध्येय से दूर होता है। इसलिए इस पथ में इसका विशेष महत्त्व है। वैराग्य (अनित्य वस्तु से विमुखता) तथा मुमुक्षा (नित्यवस्तु की प्राप्ति की इच्छा) इस विवेक का स्वाभाविक परिणाम है। इसलिए इस विवेक रूपी निर्देशक-स्तम्भ की जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। यह दृष्टि अध्यात्म-पथ के पथिक के मुख को संसार से मोक्ष की ओर फेर देती है। दृढ़ नित्यानित्य वस्तु-विवेक के आधार पर अनित्य, क्षणभंगुर, अस्थिर, सांसारिक भोगों से अरुचि तथा नित्य, अखण्ड, एकरस आनन्द-स्वरूप ब्रह्म की इच्छा स्वाभाविक होती है। इनके लिए विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। ये वैसे निरायास होते हैं, जैसे कि मार्ग पर चलते हुए मनुष्य स्तम्भ को देख कर कुमार्ग का त्याग करते हैं और उपयुक्त-मार्ग को ग्रहण करते हैं। परन्तु क्या सन्मार्ग के विवेकमात्र से मनुष्य अपने प्राप्तव्य धाम में पहुंच सकते हैं? कदापि नहीं! इसके पश्चात् पथिक को उचित तथा उपयोगी सामग्री के सहित मार्ग पर धीरतापूर्वक अग्रसर होना पड़ता है। इसी प्रकार सामान्य-विवेक द्वारा अथवा शब्द-जन्य नित्यवस्तु की प्राप्ति के लिए कुतूहलमात्र से विशेष लाभ नहीं होता। दृढ़ विवेक, वैराग्य के पश्चात् उपयुक्त सामग्री का सम्पादन करके अध्यात्म-पथ पर चलना पड़ता है, तभी जिज्ञासु को सफलता हो सकती है। इस उपयुक्त सामग्री का नाम ही षट्-सम्पत्ति है और इसे अन्तरंग साधन कहते हैं।

२. षट्-सम्पत्ति का सामान्य निरूपण

"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवं-विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति। बृहदारण्यक ४,४,२३

यथार्थ में ब्राह्मण वही है जो शुद्ध ब्रह्म को जानता है। अपने इष्टदेव कार्य-कारणातीत ब्रह्म के समान ही उस की महिमा भी नित्य होती है। उस ब्रह्म में कर्मद्वारा न किसी प्रकार की वृद्धि होती है, न कमी। इसलिए ऐसे नित्य महिमा वाले ब्रह्म के स्वरूप को जानना चाहिए, जिसके जानने वाला पुण्य तथा पाप से लिप्त नहीं होता। ब्रह्मज्ञान की नित्य, निर्विकार, कर्म-प्रभाव रहित महिमा को जानने वाला शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधानयुक्त होकर अपने मन में ही आत्मा का साक्षात्कार करता है तथा संपूर्ण संसार को आत्मरूप ही देखता है। जिन लक्षणों से युक्त जिज्ञासु ब्रह्म का दर्शन कर सकता है उनके सामान्य अर्थ का निरूपण किया जाता है। अन्तःकरण की संपूर्ण सांसारिक तृष्णाओं की निवृत्ति हो जाने का नाम 'शम' है। बाह्यकरण अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त होने को 'दम' कहते हैं। वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा से मुक्त हो जाने पर विधि के अनुसार कर्मत्याग अर्थात् संन्यास का नाम 'उपरति' है। भूख, प्यास आदि द्वन्द्वों की सहनशीलता 'तितिक्षा' कहलाती है। मन की निश्चल एकाग्रस्थिति का नाम 'समाधान' है।

इस प्रकार साधनचतुष्टय के तृतीय अंग षट्-सम्पत्ति के पांच भागों, अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान का स्पष्टोल्लेख उपर्युक्त बृहदारण्यक उपनिषद् के वचन में पाया जाता है। केवल एक अंग (श्रद्धा शब्द) का साक्षात् वर्णन यहां उपलब्ध नहीं होता। परन्तु श्रद्धा का भाव तो यहां स्पष्ट उल्लिखित है ही। श्रद्धा से शून्य तो हमारा कोई लौकिक व्यवहार भी नहीं होता। और आध्यात्मिक कृत्य तो शास्त्रादि में श्रद्धा न होने पर सर्वथा असंभव होता है। इसी लिए उपर्युक्त वचनों में कहा है कि शास्त्र में वर्णित ब्रह्मज्ञान की ऐसी नित्यमहिमा को जानने वाला शमादि-साधन-सम्पन्न होकर ब्रह्मज्ञान के लिए यत्न करे, अर्थात् नित्यमहिमा में श्रद्धा रखने वाला शास्त्रोक्त उपाय का अवलम्बन करे। इस प्रकार श्रद्धा के भाव का उपर्युक्त वचन में समावेश है। यद्यपि श्रद्धा का महत्त्व अन्यत्र उपनिषद् वचनों में भली प्रकार दर्शाया गया है (जैसे श्वेताश्वतर ६, २३; प्रश्नोपनिषद् १, १०; कठ ६, १२; १३; गीता ४, ३९; आदि)। परन्तु षट्-सम्पत्ति सम्बन्धी इस वचन में श्रद्धा के अन्यत्र से अध्याहार की आवश्यकता नहीं है, भावरूप से श्रद्धा का यहां भी उल्लेख है ही, जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के उपर्युक्त वचन में सम्पूर्ण षट्-सम्पति का ही विधान किया गया है। वेदान्त सूत्र (३,४,२७) में भी उपर्युक्त आशय का परामर्श पाया जाता है। षट्-सम्पत्तिरूप अन्तरंग साधन के मूलभूत उपनिषद् वचन का उल्लेख हो चुका, अब क्रमानुसार शम-दम, आदि का निरूपण किया जाता है।

३. शम-दम

शम-दम आदि के विना वैराग्य केवल नाममात्र है। तीव्र वैराग्य होने पर शम-दम स्वाभाविक होते हैं। शम-दम होने से ही तीव्र वैराग्य सिद्ध होता है। सांसारिक पदार्थों के वाचक, कोरे अनित्यत्व आदि दोषों के विचार मात्र से कुछ फल की सिद्धि नहीं होती। ये सब अंग परस्पर एक दूसरे के सहकारी हैं। सामान्य-विवेक तथा उससे उत्पन्न सांसारिक भोगों के प्रति साधारण अरुचि (विराग) उत्पन्न होने पर कुछ यत्न आरम्भ होता है।

परन्तु साधारण अरुचि का नाम उपर्युक्त परिपक्व-वैराग्य नहीं है। साधारण-प्रयत्न का आरम्भ इस स्थिति से होता है परन्तु इससे विशेष फलसिद्धि नहीं होती। गीता के छठे अध्याय के मनोनिग्रह प्रकरण में इस सामान्य-वैराग्य का निरूपण नहीं है। अर्जुन श्री कृष्ण भगवान् को कहते हैं।

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥" गीता ६, ३४

"हे कृष्ण ! (भक्तजनों के पापादि दोषों को अन्तःकरण से बाहर खींचने वाले उन दोषों का मनसे बहिष्कार करने वाले) यह मन केवल अत्यन्त चञ्चल ही नहीं अपितु प्रमथनशील भी है। यह अपने विक्षेप (चञ्चलता) से शरीर तथा इन्द्रियों को कम्पायमान कर देता है; विवश करके अपनी इच्छा (वेग) के अनुसार कुमार्ग में धकेल कर ले जाता है। इसके बल का निरोध कौन कर सकता है ? इसका बन्धन अति दृढ़ है। इसलिए इस मन का निग्रह करने को मैं अत्यन्त बलशाली वायु के निग्रह करने के समान अतिदुष्कर, असंभवप्राय मानता हूँ।" वायु महान् वृक्षों को गहरी जड़ोंसमेत पल में उखाड़ कर फेंक देता है, महान्, गम्भीर समुद्र में हल-चल उत्पन्न कर उसे अशान्त कर देता है, यही दशा मन की है, वह इन्द्रियों तथा शरीर में वेग उत्पन्न कर उन्हें क्षुब्ध कर देता है।" श्रीकृष्ण भगवान् उत्तर देते हैं।

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥" गीता ६, ३५

"हे महाबाहो ! अनन्त पराक्रमी, बलिष्ठ भुजाओं वाले ! आपका वचन यथार्थ है। इसमें कुछ भी संशय नहीं कि मन का स्वभाव चंचल तथा अस्थिर है और कठिनता से वश में आने वाला है परन्तु अभ्यास (चित्तभूमि में शनैः शनैः किसी स्थूल अथवा सूक्ष्म प्रत्यय अर्थात् वृत्ति की धारा को चलाने का निरन्तर नियमपूर्वक यत्न करना) तथा वैराग्य द्वारा चित्त के विक्षेप, चञ्चलता रूपी प्रचार का निग्रह हो सकताहै।" योगदर्शन में भी हम इसी प्रकार का वर्णन पाते हैं। चित्त-वृत्ति-निरोध के उपायों का वर्णन करते हुए पतञ्जलि ऋषि कहते हैं कि अभ्यास तथा वैराग्य से चित्त-वृत्तियों का निरोध हो सकता है। ऋषि अपने वर्णित वैराग्य के दो भेद करते हैं, पर (उत्तम) तथा अपर (निकृष्ट)। अपर (निकृष्ट) वैराग्य वह है जिसके विना समाधि (या एकाग्र भूमि) ही असंभव है, अर्थात् जिस के विना किसी अतिस्थूल विषय में भी चित्त निरन्तर स्थित नहीं हो सकता। यही साधन पाद २, ५४, ५५ में वर्णित प्रत्याहार है।

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" योग १, १२

यह योग का अन्तिम बहिरंग अंग है। अर्थात् प्रत्याहारसिद्धि पर्यन्त साधक वास्तविक योग में प्रविष्ट ही नहीं हुआ होता। प्रत्याहार या अपर वैराग्य मानो योग-प्रवेश का द्वार है। इसके सिद्ध होने से ही वितर्क (स्थूलतम संप्रज्ञात) समाधि के अभ्यास में उसे सफलता हो सकती है। और पर (सर्वोत्तम) वैराग्यसिद्धि के अनन्तर नितान्त सूक्ष्मवृत्ति

(पुरुष, प्रकृति-विवेकख्याति) का भी निग्रह कर द्रष्टा की स्वरूप स्थिति सी होती है। इस अपर वैराग्य का योगदर्शन १, १५ (दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्) सूत्र में निरूपण है। देखो दृष्ट तथा सुने हुए (आनुश्रविक) दोनों प्रकार के विषयों में चित्त की तृष्णा की अत्यन्तनिवृत्ति को वशीकार वैराग्य कहते हैं। भगवान् व्यास योगदर्शन के भाष्य में लिखते हैं कि दृष्ट वे विषय हैं जिनको मनुष्य स्वयं इस जन्म तथा इस लोक में अनुभव करता है जैसे स्त्री, अन्नपान, ऐश्वर्य, राज्यादि। आनुश्रविक वे विषय हैं जिनका केवल शास्त्र में उल्लेख पाया जाता है, उनका यहां साधारण-मनुष्य को अनुभव नहीं होता। वेद अथवा ऋषि-प्रणीत शास्त्रद्वारा ही इनका परोक्ष बोध होता है; इनका साक्षात् अनुभव यथोक्त अधिकारियों को परलोक में होता है। आनुश्रविक विषय तीन श्रेणियों में विभक्त किये गये हैं:—(१) स्वर्ग में इन्द्रत्व आदि के दिव्यभोग (२) वैदेह्य, सूक्ष्म तथा स्थूल देह से वैराग्यद्वारा प्राप्त देवताओं की लीन अवस्था और (३) प्रकृतिलीन अवस्था, यह अवस्था उस मनुष्य को मरने के पश्चात् प्राप्त होती है, जिसे प्रकृति-पुरुष विवेक तो न हुआ हो। जिससे कि वह संसार चक्र से मुक्त हो जाए, परन्तु 'मैं हूं' इस अहंकारमात्र में भी जिसको हेय-बुद्धि के कारण वैराग्य हो गया हो; इसलिए वह देहत्याग के अनन्तर प्रकृति में लीन हो जाता है। स्वर्ग के दिव्यभोग, विदेह तथा प्रकृतिलय की अवस्थाएं मानवीय भोगों से अत्यन्त रमणीक हैं। परन्तु सभी भोग परिणाम में विष के समान होते हैं। इन सभी भोगों के भोक्ता को कालान्तर में सुख की अपेक्षा महान् त्रिविध-दुःख भोगना पड़ता है। जिन धीरपुरुषों का विषय-दोष-दर्शन रूपी वैराग्य इतना परिपक्व होता है कि इन अत्यन्त मनोहर, दिव्य तथा मानवीय भोगों की अनायासप्राप्ति भी उनके चित्त में कुछ विकार उत्पन्न नहीं करती, उनकी ऐसी तृष्णा-निवृत्ति का नाम ही वशीकार-वैराग्य है। परन्तु जिनका वैराग्य सामयिक होता है, अर्थात् अपने प्रियपदार्थों—पुत्र, स्त्री, अप्सरा आदि के वियोग या नाश से होता है, ऐसा आतुरवैराग्यमात्र या जिनका वैराग्य विषयों की अनुपलब्धि के समय में ही होता है और जिन पर 'अंगूर खट्टे हैं' की उक्ति चरितार्थ होती है, इस प्रकार का नाममात्र का वैराग्य जले हुए बीज के समान कुछ फल उत्पन्न नहीं कर सकता; वह कुछ काल के पश्चात् स्वयं नष्ट हो जाता है। अथवा ऐसा मनुष्य कुछ थोड़ा बहुत तप, त्याग आदि करता है और उसके द्वारा भोगसिद्धि होने पर उसी में आसक्त हो जाता तथा उन्हीं का लम्पट बन जाता है। सफलता तो उसी सच्चे दृढ़ वैराग्य-वान् जिज्ञासु को मिलती है, जिसके सामने नचिकेता के समान महान् भोगों के प्रलोभन उपस्थित होने पर तथा अनेक, अनन्त, रमणीक, मनोहर, दिव्य-विषयभोग प्राप्त होने पर भी, उसके मन में कुछ तृष्णा, लालसारूपी विकार उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत जो इन्हें तृण के समान त्याग देता है। ऐसा वशीकार-वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है जो सब रुकावटों को दबा देता है, परन्तु अपने आप यत्किञ्चित् भी किसी प्रतिद्वन्द्वी भोगैश्वर्य के प्रलोभन आदि के वश में नहीं आता, वह संपूर्ण प्रलोभनों पर शासन करता है परन्तु ऐसा महान् बलशाली वशीकार-वैराग्य अकस्मात् ही उत्पन्न नहीं होता। यह तो इस अपर (निकृष्ट) वैराग्य की पराकाष्ठा है। इसके लिए धैर्यपूर्वक, दीर्घकाल तक, निरन्तर प्रयत्न की आवश्यकता होती है। इसकी तीन पूर्वावस्थाएं होती हैं, यतमान, व्यतिरेक तथा एकेन्द्रिय (१) जब साधक पुण्य-सञ्चय के प्रताप से इन्द्रिय-विषय-भोगों

के दोषों को समझने के योग्य होता है, तो वह इस महान् दुष्कर-कार्य में दृढ़निश्चय सहित प्रवृत्त होता है। इस उत्साह तथा यत्न के आरम्भ की प्रथमा अवस्था का नाम 'यतमान-वैराग्य' है। (२) कुछ काल यत्न करने पर वह भिन्न भिन्न इन्द्रियों तथा विषयों के बलाबल का विवेक करता है। मनुष्यमात्र की रूप रसादि विषयों में से हर एक में एक सी आसक्ति नहीं होती। किसी को स्वादु भोजन का चस्का होता है, तो कोई रूप को अधिक आकर्षक समझता है। रूप आदि के सामान्यतया आकर्षक होने पर भी भिन्न २ साधकों को भिन्न भिन्न रूपों में रुचि विशेष होती है। अतः किन्हीं विषयों के विरोध में साधक विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं करता। परन्तु कई विषयों में वह अपने आप को नितान्त विवश पाता है। उनका पाश तथा शासन अति बलिष्ठ है, जिसका उसके मन पर पूरा राज्य होता है। अथवा इस प्रकार कहा जा सकता है कि वह विशेष विषय, साधक के विरोधी दलस्वरूप-मोह, आसक्तिरूपी प्रजा का राजा है। जिसकी छत्र-छाया में अन्य साधारण प्रलोभन भी साधक को दबा लेते हैं। अतः इस प्रकार के अति बलवान्, प्रधानइन्द्रिय का एवं उसके प्रलोभन-स्थल रूप आदि का परिज्ञान आवश्यक है। और उस पर विजय पाना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना इन्द्रियों की विजय कुछ फल उत्पन्न नहीं कर सकती। क्योंकि एक ही उन्मत्त इन्द्रिय सब प्रयत्नों को धूलि में मिला देती है। इस प्रकार अधिक बलवान् विषय का विवेक तथा उसके वश करने के लिए प्रयत्न को 'व्यतिरेक-वैराग्य' कहते हैं। (३) एकेन्द्रिय वैराग्य का साधक दीर्घकाल तक धैर्य से विचार, हठ आदि योग्य उपायों द्वारा निरन्तर युद्ध करने पर बाह्य पांचों इन्द्रियों पर विजय पा लेता है। अब तृष्णा, आसक्ति में इतना बल नहीं रह गया कि वह उसे बाह्य व्यवहार में प्रवृत्त कर सके। अब वह बाह्येन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन नहीं करता। परन्तु मन में सूक्ष्म राग है। विषयों का दर्शन तथा चिन्तन मन में कुछ धीमी सी गति उत्पन्न करते हैं। उनके भोग की मन्द सी लालसा मन में उत्पन्न होती है, परन्तु उसमें इतना बल नहीं होता कि वह शरीर तथा इन्द्रियों में क्षोभ उत्पन्न कर सके। परन्तु साधक यदि यहां पर ही सन्तुष्ट हो जाय तो उसको पूर्ण शान्ति नहीं हो सकती और न वह अभ्यास आदि का अन्य कोई उपयोगी उपाय ही कर सकता है। क्योंकि यही विक्षिप्तचित्त की दशा है। यह मानसिक वासना अधिक काल तक चित्त को निरन्तर स्थिर नहीं रहने दे सकती। मन में तृष्णारूपी बीज अभी जीवित है, यद्यपि वह निर्बल है, परन्तु प्रमाद से पुनः बल प्राप्त करके सम्पूर्ण शरीर तथा इन्द्रियों पर पहिले के समान ही प्रभुत्व जमा सकता है। अतः यहां पर बहुत सावधानी की अपेक्षा है। इस वासना को मनरूपी भूमि से भी निर्मूल करना अत्यावश्यक है। इस अवस्था में दम तो सिद्ध है परन्तु शमसिद्धि का अभाव है। इस अवस्था का नाम 'एकेन्द्रिय-वैराग्य' है।

शम के भी पूर्णतया सिद्ध हो जाने पर वशीकार-वैराग्य सिद्ध होता है। जैसे मस्त हाथी तृण समूह को अपने पैरों तले रौंद देता है, उसी प्रकार साधक जब सब प्रलोभनों को व्यर्थ कर देता है, तब ऐसी वैराग्य की स्थिति होने पर पातञ्जल योग में वर्णित समाधि आरम्भ हो सकती है।

हठयोग की षट्-क्रिया वस्ती, धौती आदि अथवा प्राणायाम द्वारा चित्त का रजोगुण तथा विक्षेप कुछ शान्त होते हैं। इस अवस्था को ही कई अनभिज्ञ साधक समाधि

समझने लगते हैं। आजकल योगविषयक यह भ्रान्ति साधकों में बहुत फैली हुई है। यमनियमों के पालन द्वारा व्यवहार तथा मन को निर्मल नहीं किया जाता; वशीकार-वैराग्य की उपेक्षा की जाती है और केवल हठयोग आदि के उपर्युक्त साधनों द्वारा योग-साधना की धृष्टता की जाती है। उपवास आदि द्वारा मन के रजो-गुण रूप शक्ति की केवल तात्कालिक कमी से चित्त असमर्थ होकर अपनी चञ्चलता को इस समय त्याग देता है। यद्यपि इस सस्ते मार्ग से बहिर्मुखी संस्कारों तथा विषयभोग की वासनाओं में कुछ कमी नहीं होती। इस क्षणिक चित्त की स्थिरता तथा शान्ति को पातञ्जल योग में वर्णित किसी प्रकार की समाधि नहीं कही जा सकती। ऋषि ने (योगदर्शन १, १२, में) वृत्तिनिरोध के उपायों में असंदिग्ध रूप से उपर्युक्त वैराग्य तथा अभ्यास का विधान किया है। इसलिए साधकों को इस भ्रान्ति से भली भांति सचेत रहना चाहिए।

४. शम का तात्पर्य

अन्तःकरण का निग्रह अर्थात् सांसारिक पदार्थ-विषयक बुद्धि-व्यापार अथवा मानसिक-चिन्तन का त्याग तथा अपने अधिकार के अनुसार जिज्ञासु का अपने मन को श्रवण, मनन, निदिध्यासन में ही लगाए रखना और सांसारिक पदार्थों में केवल उतना ही मनोयोग देना जितना श्रवण आदि के लिए अनिवार्य हो, शम कहलाता है। इस प्रकार शास्त्र में शम के दो अर्थों का वर्णन है, एक अभावात्मक तथा दूसरा भावात्मक। (१) शमयुक्त मन में संसारमात्र के चिन्तन, विषयभोग की लालसा वा चिन्तन का नितान्त अभाव होता है। अतः संसार की अपेक्षा से शम का स्वरूप अभावात्मक है। इसमें तथा वशीकार-वैराग्य में कोई अन्तर नहीं है। (२) यदि जिज्ञासु अपने अधिकार के अनुरूप उचित श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन में ही अपने मन को सर्वदा लगाए रखे। अथवा सांसारिक पदार्थों तथा व्यवहारों में उतना ही मनोयोग दे, जो कि शरीर-यात्रा के लिए अत्यन्त आवश्यक है; जिस के विना श्रवण आदि साधनों का अनुष्ठान भी असंभव है; तो मन की ऐसी दशा को भी शम कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में शम के प्रथम भाव में तो कोई न्यूनता नहीं आती। क्योंकि ऐसी दशा में संसारचिन्तन का अभाव तो विद्यमान होता ही है और साथ ही उसके विरोधी आत्म-चिन्तन रूपी धारा का भाव भी मन में रहता है। अतः इस को हम अभाव तथा भावात्मक भी कह सकते हैं। इस में वशीकार-वैराग्य तथा अभ्यास (आत्म-चिन्तन) दोनों का समावेश है। इसलिए यह अधिक उपयोगी, वेदोक्त-साधना की दृष्टि से अधिक भाव-पूर्ण तथा उपादेय है।

५. दम का अर्थ

शम की तरह दम के भी दो अर्थ हो सकते हैं। (१) अभावात्मक—बाह्यइन्द्रियों को विषयभोग की दृष्टि से विषय सेवन से पृथक् रखना। (२) भावात्मक—बाह्यइन्द्रियों को खान-पान आदि के लिए केवल उतना ही उपयोग में लाना जिससे शरीर का निर्वाह हो सके और ब्रह्म-प्राप्ति रूपी परमलक्ष्य सिद्धि के साधन श्रवण, मनन आदि के लिए उपयुक्त सामर्थ्य बनी रहे। तथा इनका उपयोग श्रवणादि के सहायक रूप से ही करना। जिन इन्द्रिय-व्यापारों का अन्तिम लक्ष्य की सिद्धि से किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो, ऐसे व्यर्थ तथा

हानिप्रद व्यापारों (चेष्टाओं) से पृथक् रहना। इस प्रकार जहाँ प्रथम भाग इन्द्रियों का केवल विषयभोगरूप (परमलक्ष्य सिद्धि में बाधा) का त्याग है; वहां द्वितीय भाग में उपर्युक्त इन्द्रिय-दुरुपयोग के त्यागसहित इन्द्रियों का श्रवण मनन के लिये सदुपयोग भी सम्मिलित है।

जब यह उपनिषद्-शिक्षा का अधिकारी सब इन्द्रियों को उनके अर्थों विषयों से पृथक् कर लेता है, विषयों की ओर नहीं जाने देता जैसे कि कछुआ भय के समय अपने संपूर्ण अंगों को भीतर सिकोड़ लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो सकती है, अन्यथा पद-च्युत हो जाती है। इस विषय में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। क्योंकि ये इन्द्रियां अति बलवान् हैं। ये विवेकी तथा यत्नशील मनुष्यों के मन में भी अत्यन्त वेग तथा चञ्चलता उत्पन्न कर देती हैं और बलात् विषयभोग में प्रवृत्त कर देती हैं। जो मन विषयों में व्यापार करने वाली इन्द्रियों के पीछे लग जाता है, वह उसकी बुद्धि के आत्मानात्मविवेक को ऐसे हर लेता है, जैसे वायु नाव को बलात् सन्मार्ग से कुमार्ग में ले जाकर यात्रियों का सर्वनाश कर देती है। (गीता २, ५८; ६०; ६७.)

हिरण, हाथी, पतंगा, भ्रमर तथा मछली ये प्राणी कान (बांसुरी), स्पर्श (कागज़ की हथनी), चक्षु (दीपक का रूप), घ्राण (पुष्पगंध) तथा रसना (रस-आटे की गोली) में से क्रम से एक एक इन्द्रिय के वश में होने से सर्वनाश को प्राप्त होते हैं। फिर जो मनुष्य अकेला इन पांचों के ही वश में है, वह कैसे बचेगा। एक भी बलवान् इन्द्रिय महान् अनर्थ कर सकती है। यदि सब इन्द्रियों में से कोई एक भी इन्द्रिय वेग से विना रोक थाम के विषय की ओर स्वच्छन्द रूप से विचरे तो वही पुरुष के तत्त्व-ज्ञान का नाश कर देती है। जैसे किसी पात्र में यदि एक छोटा सा अति क्षुद्र छेद भी हो तो वह ही सारे जल को बहा देता है।

उपर्युक्त शास्त्र तथा महापुरुषों के अनुभवपूर्ण वचनों से यह तथ्य असंदिग्ध रूप से निर्धारित होता है कि यद्यपि इन्द्रियां संसार-यात्रा के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं; इनके बिना, मनुष्य अपने इहलौकिक तथा पारलौकिक हित साधन में असमर्थ हो जाता है, उसका जीवन अपने तथा दूसरों के लिए भाररूप हो जाता है; तथापि इन्द्रियों का यह महत्त्व तभी तक है जब तक ये मनुष्य के अधीन हों, मनुष्य इनका स्वामी हो। और ये इन्द्रियां सहज ही विवेक द्वारा निर्धारित लक्ष्य की ओर चल पड़ें। परन्तु जब इनका प्रवाह सांसारिक विषयों की ओर विना किसी रोकथाम (brake) के चलता है, जब ये अपने अधिकारोचित सेवक के स्वभाव तथा कार्य को त्याग कर स्वामी के पद को छीन कर उस पर आरूढ़ हो जाती हैं, मनुष्य पर शासन करने लगती हैं, पथिक को विवेक-पथ से भ्रष्ट कर विषय भोग रूपी कुमार्ग में बलात् ले जाती हैं, उस समय ऐसी उन्मत्त, विषयलोलुप इन्द्रियां महान् अनर्थ का हेतु बन जाती हैं; और तब मनुष्य का जीवन साक्षात् नरक का रूप धारण कर लेता है। किसी अनुभवी वैद्य ने सत्य कहा है कि मनुष्य अपने दांतों से कब्र खोदता है। अर्थात् रसना इन्द्रिय के अधीन होकर अनुचित और अमर्यादित आहार का सेवन करता है और इस लिए अनेक रोगों में ग्रस्त हो कर अन्त में मृत्यु के मुख में चला जाता है। किसी कवि ने कैसे सुन्दर रूप से इस विषय का वर्णन किया है

कि हिरण आदि श्रवणादि एक एक इन्द्रिय के वश में हो कर अपने प्राणों तक से हाथ धो बैठते हैं। इसलिए जहां ये इन्द्रियां सेवक रूप से शरीर-यात्रा के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं; वहां यही उन्मत्त तथा स्वतन्त्र होने पर प्राणी के सुख, संपत्ति तथा जीवन के हेतु प्राणों को भी क्षण भर में हर लेती हैं। सांसारिक धन, धान्य, भूमि, ऐश्वर्य, मान, राज्य तथा दीर्घायु आदि भी उन शूरवीरों को ही सुख से प्राप्त होते हैं जिन की इन्द्रियां वश में होती हैं, जो इन्द्रियों को उपर्युक्त मर्यादा में चला सकते हैं, इन्द्रियों के दास तो पग-पग पर ठोकरें ही खाते हैं।

श्रेय तथा प्रेय अत्यन्त भिन्न तथा परस्पर विरोधी हैं। जब इन्द्रियों के दास को सांसारिक वैभव, मानादि ही दुर्लभ हैं; तो उसको आध्यात्मिक शान्ति तथा आनन्द की क्या आशा हो सकती है। इन्द्रियों के पीछे चलने वाला मन अत्यन्त चञ्चल तथा अशान्त रहता है। उसकी भोग द्वारा कदापि तृप्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत भोग से उसकी लालसा प्रतिदिन बढ़ती जाती है। और ऐसा पामर प्राणी दिन-रात तृष्णा की ज्वाला में जला करता है।

जो मन बहिर्मुखी है, सदा इन्द्रियों तथा उनके विषयों के पीछे मारा मारा फिरता है; वह अत्यन्त सूक्ष्म, अन्तर्तम, आनन्द-स्वरूप परमात्मतत्त्व की रेखा को कैसे निहार सकता है। इन्द्रिय भोग तथा आत्मानन्द, तम तथा प्रकाश के समान अत्यन्त विरोधी हैं।

किसी नौका के जल में डूबने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह कई स्थलों से टूटी फूटी हो अथवा उसके पेंदे में अनेक बड़े बड़े छेद हों, प्रत्युत एक क्षुद्र छिद्र भी उसको डुबा देने के लिए पर्याप्त है। अन्तर केवल इतना है कि ऐसी दशा में नौका में जल भरने के लिए समय कुछ अधिक चाहिए; समय पाकर डूब तो वह अवश्य जाएगी ही। इसी प्रकार मनुष्य के अधःपतन तथा सर्वनाश के लिए यह जरूरी नहीं कि वह सब इन्द्रियों का दास हो; एक ही उन्मत्त तथा अवश हुई इन्द्रिय इसको आध्यात्मिक लक्ष्य से भ्रष्ट करने के लिए पर्याप्त है। अन्य इन्द्रियों पर इसकी विजय पाना अन्ततः इसके किसी काम नहीं आएगा। एक ही बलवान् तथा स्वतन्त्र इन्द्रिय किये कराए पर पानी फेर देती है। इसलिए परमानन्द तथा आध्यात्मिक जीवन के अभिलाषी को चाहिए कि वह बहुत साव-धानी से सम्पूर्ण इन्द्रियों पर अपना अखण्ड शासन स्थापित करे।

मनुष्य में दैवी तथा पाशविक अर्थात् आसुरी स्वभाव मिले जुले पाये जाते हैं। यद्यपि मनुष्यमात्र में दैवी वृत्तियों के विकास के लिए अवकाश ज़रूर होता है। उस में शक्ति तथा बीज रूप में यह विद्यमान अवश्य होते हैं। परन्तु साधारणतया जन्मकाल से ही पाशविक स्वभावों का प्रभुत्व होता है, जो दैवी स्वभाव के बीज को पनपने नहीं देता। शिक्षा तथा अपने श्रम के विना मनुष्य खड़ा होना भी नहीं सीख सकता। इसी प्रकार पाशविक वृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिए सामाजिक-शिक्षा, महान्-प्रयत्न तथा अदम्य-धैर्य की आवश्यकता होती है। इन्द्रियों के विजय करने का कार्य किसी राजनीतिक युद्ध से अधिक कठिन है। नीतिनिपुण विद्वान्, शास्त्रनिष्णात पण्डित, जगद्विख्यात राजा महाराजा, शत्रुओं का मान मर्दन करने वाले शूरवीर तथा सहस्रों के साथ अकेले

लड़ने वाले योद्धा इन्द्रियों की दासतारूपी कड़ियों में जकड़े हुए होते हैं। इन निकटतम शत्रुओं को जीतना किसी विरले, भाग्यवान्, धीरपुरुष का ही काम है। इस युद्ध में विजय पाना दिनों, महीनों या वर्षों का काम नहीं है, यह तो जन्म-जन्मान्तर का खेल है। जो धीरपुरुष चोट पर चोट खाता है, परन्तु इन के साथ किसी प्रकार की संधि या सहयोग करना स्वीकार नहीं करता, वही इन को जीत कर सच्चा, स्थिर स्वराज्य प्राप्त कर सकता है। इन उन्मत्त इन्द्रियों के साथ असहयोग (अर्थात् विषय-लालसापूर्वक इनका उपयोग न करना) ही यथार्थ उपाय है। जो यहां सफलता प्राप्त कर सकता है, वह कहीं विफल-मनोरथ नहीं होता; बाह्य साम्राज्य उसके लिए एक खेल सा हो जाता है।

६. शम

परन्तु मन की अशुद्ध वासना को निर्मूल किये विना दम की पूर्णता असंभव है। विषयों का चिन्तनमात्र भी महान् अनर्थ का हेतु है। शब्द आदि विषयों का मन से चिन्तन करने पर उन में प्रीति तथा आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति से तृष्णा, तथा तृष्णा का प्रतिघात होने से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध से सत्यासत्य-विवेक का नाश हो जाता है। फिर शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश की स्मृति का अवसर नहीं होता और न इष्टानिष्ट-विचार करने की योग्यता बुद्धि में रहती है। तब उसके सर्वनाश होने में क्या सन्देह है ? (गीता २, ७३)

जो व्यक्ति हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन द्वारा इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता है वह दम्भी है। दम्भमात्र से क्या सिद्धि होगी। (गीता ३, ६)

मन के विषय में प्रमाद तो नहीं करना चाहिए, परन्तु संस्कार-जन्य मानसिक चिन्तन का नितान्त बन्द करना बहुत धैर्य का कार्य है। कई वार साधक को माया वञ्चना में डालती है और वह सोचता है कि मन चिन्तन तो छोड़ता नहीं, कई वार विरोध के कारण सामान्य दशा से भी अधिक वेगवान् हो जाता है। अतः केवल बाह्य इन्द्रियों को हठ से रोकना निष्फल तथा दम्भ मात्र है। ऐसा मान कर वह बाह्यइन्द्रिय-दमन को भी त्याग देना चाहता है। परन्तु यह उस की भूल है। जैसे पहले वैराग्य-प्रकरण में एकेन्द्रिय वैराग्य के सम्बन्ध में लिखा गया है कि मन से विषयचिन्तन या संस्कार-मात्र का उन्मूलन कर देना वैराग्य की अन्तिम अवधि है, किन्तु यहां से आरम्भ नहीं हो सकता। आरम्भ तो बाह्येन्द्रियों से ही होगा। शनैः शनैः धैर्य से विचारपूर्वक निरन्तर प्रयत्न करने से मन भी अन्ततः शुद्ध हो जायगा। ऐसी दशा में घबरा कर मन की चाल में नहीं आ जाना चाहिए। परमहंस स्वामी सियाराम जी ने कहा है—"हठ से विषय-सेवन का त्याग करो एवं विचार से संस्कारों को छिन्न-भिन्न करो।" अतः हठ तथा विचार दोनों उपयोगी हैं। शुद्ध, दृढ़ वैराग्य तथा केवल त्याग में यही अन्तर है। किसी वस्तु के पास न होने के कारण उसका उपयोग न करना तो त्याग नहीं कहलाता। अन्यथा एक-एक दाने के लिए तरसने वाले, इतस्ततः भटकने वाले भिखमंगे, कंगले भी त्यागी कहलाते। विषयों की प्राप्ति का अवसर होने पर भी जो उन का ग्रहण नहीं करता उसे ही त्यागी कहा जा सकता है। ऐसे मनुष्य भी कभी २ दूसरों पर अपने त्याग का प्रभाव डाल कर अधिक धन आदि बटोरने के लिए ऐसा करते हैं। अथवा यह त्याग मान-प्रतिष्ठा के लिए भी हो सकता है। सांसारिक मनुष्य

अपने नाम के लिए क्या-क्या त्यागने के लिए उद्यत नहीं हो जाते। परन्तु यह सब प्रकार का त्याग, त्याग नहीं है, दम्भमात्र है। इस से इस लोक में भी स्थिर ऐश्वर्य या प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती और परलोक में तो यह त्याग का दम्भ महान् अनर्थकारी सिद्ध होता ही है। भगवान् कृष्ण ने ऐसे नाममात्र के त्याग की ही उपर्युक्त गीता के श्लोकों में निन्दा की है। परन्तु ऐसे सुविज्ञ सज्जन भी होते हैं, जो शुद्ध भावना से विवेक के बल पर भोग के अनेक दोषों का चिन्तन करते हुए विषयों का ग्रहण तथा भोग नहीं करते। अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की भी कुछ परवाह न करते हुए तप और त्याग को ही अपना धन समझते हैं। वे इन सांसारिक भोगों को महान् अनर्थ का हेतु जान कर इन को प्राणों के शत्रु मानते हुए इन से दूर भागते हैं। यह इन्द्रिय-दमन की पराकाष्ठा है; इस में दम्भ का लेश भी नहीं है। परन्तु जन्म-जन्मांतर की वासना का मूल बहुत गहरा होता है; विषयों की लालसा अभी मन में है, अभी विषयभोग में सुख-बुद्धि का नितान्त अभाव नहीं हुआ, जो कि त्याग की पराकाष्ठा है। क्योंकि सुख-बुद्धि नितान्त शिथिल नहीं हुई, अतः यह सच्चा शुद्ध त्याग ही है, वशीकार-वैराग्य नहीं। अभी शम पूरा सिद्ध नहीं हुआ। इसी अवस्था का वर्णन गीता में है:—

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ गीता २, ५९

"यद्यपि विषय अर्थात् विषयभोग के साधनभूत इन्द्रियां, दमनरूप कष्टमय तप में स्थित देहाभिमानी मनुष्य की भी (जो विचार अथवा ईश्वरभजन का आश्रय नहीं लेता; अथवा जिसके ये साधन अभी परमफल उत्पन्न नहीं कर सके) विषयोपभोग से हठपूर्वक निवृत्त रहती हैं; ये तो केवल उसी प्रकार शिथिल सी जान पड़ती हैं जैसे अन्न का आहार न देने से, (निराहार कर देने से) शरीर दुर्बल हो जाता है और इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं। परन्तु मन से विषयों की तृष्णा (राग) नहीं जाती। वह सूक्ष्मराग (तृष्णा) भी परमार्थ-रसस्वरूप ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार से निवृत्त हो जाता है। परमरस के अनवच्छिन्न निरायास प्रवाह के विना यह विषयरस का अनादिस्रोत शुष्क नहीं होता। यही शम की परमावधि है। यहां पहुंच कर पुरुष नितांत निर्भय हो जाता है। यही इन्द्रियों की परमविजय है। यही सच्चा प्रत्याहार है, जब कि इन्द्रियां अपने स्वामी मन के नितांत विषयरस से रहित होने के कारण अपनी पूर्व की रजोगुण-प्रेरित चञ्चलता को त्याग कर परम उपरामता को प्राप्त होती हैं। जैसा कि योगदर्शन में पतञ्जलि मुनि ने वर्णन किया है। स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ योग० २,५४

"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ गीता ३, ३३
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ॥" गीता ३, ३४

गीता के उपर्युक्त श्लोकों में प्रकृतस्वभाव की प्रबलता तथा इन्द्रियों का अपने विषयों में सम्यक्-स्थित रागद्वेष केवल प्राकृत रजोगुण-प्रधान-अज्ञानी अथवा शास्त्र-पण्डितमात्र के विषय में है। ऐसी अवस्था में ही शास्त्र का उपदेश है कि इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में रहने वाले ऐसे स्वाभाविक रागद्वेषों के वश में नहीं होना चाहिए। इनके वश में होकर स्वधर्म-परित्याग अथवा अधर्म का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। "योगदर्शन (२, ३३, ३४) में वर्णित और परधर्मप्रतिपक्षभावना (अर्थात् मोह के वश होकर शास्त्र-विरुद्ध आचरण करने से अनन्तदुःख तथा अज्ञान फल होता है) के पुनः-पुनः मनन से इन्द्रियों के विषयों में, रागद्वेष के वश में नहीं आना चाहिए। प्रकृति के वशवर्ती न होकर शास्त्रानुगामी होना चाहिए। क्योंकि ये रागद्वेष इस साधक के श्रेय-मार्ग में भयंकर बाधारूप हैं। इससे कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए। नहीं तो प्राणपण से की हुई, गाढ़े पसीने की कमाई क्षणभर में लुट जाएगी।" यह अमूल्य चेतावनी रजोगुण-प्रधान मन तथा इन्द्रिययुक्त साधक के लिए है। उसे इस पर अवश्य कटिबद्ध हो जाना जाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अन्तःकरण तथा इन्द्रियों का यह स्वाभाविक धर्म है जो इनके होते हुए कभी नाश नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तब तो ज्ञान, ध्यान आदि सब निरर्थक हैं। यदि शरीर के रहते यह विषय-युद्ध सर्वदा बना रहना हो और किसी प्रकार से हट ही न सकता हो तो यह दशा अत्यन्त शोचनीय होगी। यह संसार ऐसा अनर्थरूप होगा, जिससे जीते जी छुटकारा पाने की कोई संभावना न रह जाएगी। फिर तो ज्ञान-ध्यान के स्थान में अफीम के एक तोले का अधिक महत्त्व होगा और वह अनिवार्य होगा, क्योंकि तब उसीसे अशान्ति का नाश होने की सम्भावना हो सकेगी। कई चतुर व्यक्ति अपनी तथा सामान्य भोले मनुष्यों की वञ्चना करते हुए कहा करते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी के व्यवहार एक जैसे ही होते हैं। इस प्रकार के कोरे शब्दज्ञान से परमध्येय की सिद्धि नहीं हो सकती; यह तो महान् अनर्थ करने वाला ही होता है। परन्तु जैसे ऊपर कहा गया है कि ये रागद्वेष रजोगुण-युक्त अन्तःकरण तथा इन्द्रियों में ही स्वाभाविक होते हैं। परन्तु जब साधक गुरु तथा शास्त्र की शरण में आजाता है और उपयुक्त साधना के पश्चात् उसके मन में उस स्थिति का उदय होता है, जब चित्तप्रसाद की निर्मलधारा स्वच्छन्द रूप से निरन्तर बहने लगती है तथा अन्तः-करण में मूल सत्त्वगुण का प्रचण्ड प्रकाश हो जाता है, तब वहां अज्ञान रूपी तिमिर तथा उसकी सन्तान रागद्वेषादि का ढूंढे पता नहीं चलता। ये रागद्वेष उस स्थिति में शशशृङ्ग तुल्य हो जाते हैं। यहीं पर अद्वैत-ज्ञान का स्वरूप भासने लगता है। इस स्थिति में यदि संसार दीखता भी है तो अत्यन्त निराला; इसका पहला लुभायमान स्वरूप छिप जाता है। यह अत्यन्त नीरस तथा तुच्छ भासता है। उस वास्तविक नीरस दिखाने वाली स्थिति के विना सांसारिक विषयों की तुच्छता कोरे तर्क से समझ में नहीं आ सकती। इस विस्मय-कारी मनोदशा के विषय में वैराग्य के परमोपदेष्टा श्री भर्तृहरि महाराज ने ठीक ही कहा है:—

"यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः ।
किं जातमधुना येन यूयं यूयं वयं वयम् ॥" भर्तृ० वै० श० ६५

"कि हे मित्र ! पूर्वकाल में ऐसी बुद्धि थी कि तुम हम थे और हम तुम थे। अर्थात्

इतनी आसक्ति तथा प्रेम था कि भिन्न भिन्न शरीर होते हुए भी (ज्ञानविवेक दृष्टि से नहीं अपितु मोहवश) अभेद ही प्रतीत हो रहा था। परन्तु अब पता नहीं, क्या कारण है कि तुम तुम भासते हो और हम हम भासते हैं अर्थात् वह अज्ञान ग्रन्थि जिसने अनात्म को आत्मरूप बना रखा था छिन्न-भिन्न हो गयी है और याथातथ्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है।"

"बाले लीलामुकुलितममी मन्थरा दृष्टिपाताः।
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एव श्रमस्ते॥
सम्प्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते।
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः॥" भर्तृ० वै० श० ६६

"हे सुन्दरि! अब तू लीला से अपनी आधी खुली आंखों से मुझ पर क्यों कटाक्ष-बाण चलाती है? अब तू काममद उत्पन्न करने वाली दृष्टि को रोक ले; तेरे इस परिश्रम से तुझे कुछ लाभ नहीं होगा। क्योंकि अब हम पहले जैसे नहीं रहे। अब हम ने वन में एकान्त रह कर भगवद्-भजन में ही आयु व्यतीत करने का निश्चय कर लिया है। इसी लिए अब हम विषयसुखों को तृण से भी तुच्छ समझते हैं॥ १॥

"रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारितैः
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि।
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते॥" भ० वै० श० १००

अरे कामदेव! तू धनुष्टंकार सुनाने के लिए क्यों बार २ हाथ उठाता है। अरे कोकिल! तू मीठी-मीठी सुहावनी आवाज़ में क्यों कुहू-कुहू करता है, हे काम-परायणे युवति! तू अपने मनमोहक मधुरकटाक्ष मुझ पर क्यों चलाती है, अब तू मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती, क्योंकि अब मेरे चित्त ने भगवान् शिव के चरणकमल चूम कर अमृतपान कर लिया है।

ऐसी अवस्था में यह प्रतीत नहीं होता कि दिन-रात विषयरूपी कण्टकों में घसीट कर लोहू-लुहान करने वाली इन्द्रियां कहां चली गई हैं। मानो अब वे शरीर में हैं ही नहीं, अब विषयों में रागद्वेष कहां? मनु महाराज ने कहा है:—

"श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥" मनु २,६८

"स्तुति तथा निन्दा वाक्य, मधुरगीत तथा कर्कशशब्द को सुनकर; दुकूल, दुशाला आदि नरमस्पर्श तथा खुर्दरे कम्बल आदि दुःखदायी स्पर्शवालों को छूकर; मनोहर अथवा घृणित रूप को देखकर; स्वादु या अस्वादु भोजन को खाकर; सुगन्ध तथा दुर्गन्ध को सूंघ कर; जो मनुष्य न हर्ष करता है और न ग्लानि, वही सच्चा जितेन्द्रिय है।" साधारण प्राकृतजन की तरह सुन्दररूप को देखकर वह अति प्रसन्न नहीं होता इसके लिए उसके

मन में किसी प्रकार का मोह, आकांक्षा या तृष्णा उत्पन्न नहीं होती। और कुरूप को देखकर उसे घृणा नहीं होती एवं न सामान्य साधक के समान स्वादु मिष्टान्न से उसे द्वेष ही होता है। उसक मन में इन लड्डू, मालपुआ आदि स्वादिष्ट पदार्थों के लिए कोई आसक्ति नहीं रही जिस के कारण उसे लोभ-मोह के वश होकर परमध्येय से च्युत हो जाने तथा कुपथ में चलकर पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाने का भय हो। इसीलिए उसे इस प्रकार की किसी सावधानी की आवश्यकता नहीं रहती कि वह सामान्य रोटी को भी गंगाजल से धोकर खाए और साधक के समान (उसके स्वाभाविक, उचित तथा अत्यन्त उपयोगी त्याग से प्रेम और विषयों से द्वेषभाव के समान) स्वादु पदार्थों से घृणा करे। क्योंकि स्वादु समझे हुए पदार्थों को त्यागने तथा रूखे, सूखे, नीरस, स्वादशून्य अन्नादि के ग्रहण करने में उसकी उपादेय बुद्धि नहीं है, जैसे कि साधक को हुआ करती है। वह साधक तथा प्राकृत जन के विवेक और मोहयुक्त राग-द्वेष से मुक्त है; हेयोपादेयबुद्धि से शून्य है। वह सामान्य आवश्यकता के अनुसार जैसा स्वादु या अस्वादु अन्न उसे मिल जाता है, खा लेता है। वह सब प्रकार के भय से मुक्त हो चुका है। ये विषय उसके परमार्थ का कुछ बना या बिगाड़ नहीं सकते। ऐसा मनुष्य ही इन्द्रियों तथा विषयों का सदुपयोग कर सकता है। गीता में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं:—

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥" गीता २,६४

प्राकृतजन की इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति रागद्वेषपूर्वक होती है, परन्तु साधक अथवा सिद्ध स्थित-प्रज्ञ इन रागद्वेषों से रहित होकर श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा आवश्यकतानुसार, शास्त्रमर्यादापूर्वक रूपादि विषयों का ग्रहण करता हुआ, पूर्णतया वशीभूत इन्द्रियों द्वारा राग (तृष्णा) तथा द्वेष से मुक्त होकर आत्म-प्रसाद (प्रसन्नता-स्वस्थता) को प्राप्त करता है।

"प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥" गीता २,६५

प्रसादमयी इस स्थिति से आध्यात्मिक आदि सब दुःखों का नाश हो जाता है। और प्रसन्न चित्त वाले की बुद्धि स्वतः, सम्यक् प्रकार से निज स्वरूप में स्थिर हो जाती है।" ऐसे सिद्ध, परमरस से तृप्त पुरुष की अखण्ड तूष्णींस्थिति को प्राकृत जन कैसे समझ सकते हैं। संसार का संपूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी उसके मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। उस पर किसी विधि-निषेध का अंकुश नहीं है। उसके लिए स्वरूप से मनोहर पदार्थों का त्याग आवश्यक नहीं। फिर भी वह लोकहितार्थ, साधकोपयोगी त्याग तथा तप का ही जीवन व्यतीत करता है अन्यथा अबोध साधक उसका अनुकरण कर के परमपुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाएंगे।

"यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥" गीता ३, २१

श्रेष्ठ पुरुष जिन-जिन कर्मों का आचरण करते हैं, उनके अनुयायी भी उन-उन कर्मों को करते हैं। और वह प्रधानमनुष्य जिस लौकिक अथवा वैदिक कार्य को प्रमाण मानता है साधारण मनुष्य भी उसी को अपना प्रमाणभूत मानते हैं। अतः—

"सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥" गीता ३, २५

हे अर्जुन! कर्मफल में आसक्त, अतिदीन पुरुष अनित्यफल स्वर्गादि की सिद्धि के लिये जिस प्रकार विहित कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष कर्मफल (लोक स्तुति निन्दा आदि) से अनासक्त होते हुए भी लोकसंग्रह के उद्देश्य से विहित कर्तव्य (आचार-व्यवहार) में प्रवृत्त हो।

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥" गीता ३, २६

कर्म-फल में आसक्त जो ज्ञानी, नित्यानित्य-अविवेकी हैं और इस गूढ रहस्य को नहीं समझ सकते; विवेकी को चाहिए कि वह उन मन्दमति पुरुषों की कर्म-फल में उत्कृष्टता मानने वाली बुद्धि में भेद उत्पन्न न करे; उन्हें इस कर्म-पथ से, कर्म की निन्दा करके, विचलित न करे। क्योंकि वेद-निन्दक चार्वाक भी तो कर्म-फल तथा परलोकादि में श्रद्धा नहीं रखते और इस लिए कर्म के होने वाले निश्चित परलोक आदि फलों की तो वे भी निन्दा करते ही हैं। और ज्ञानी पुरुष जो नित्यानित्य का मर्म जानते हैं; वे यह तो मानते हैं कि पुण्य-पाप आदि कर्मों का स्वर्ग-नरक आदि फल अवश्य होता है। फल की तथ्यता को स्वीकार करते हुए भी वे जानते हैं कि कर्मफल नाशवान् है अतः इन कर्मों से परमश्रेय (मोक्ष तथा परमानन्द की) विष्णुपद की उपलब्धि नहीं होती। अतः वे मोक्ष-धर्म श्रवण-मननादि में प्रवृत्ति कराने के लिए प्रवृत्ति-मार्ग के कर्म तथा इनसे होने वाले फलों की निन्दा करते हैं। चार्वाकों (माद्दापरस्तों) प्रकृति के पुजारियों तथा तत्त्ववेत्ताओं की कर्मनिन्दा में समानता ही है; परन्तु दोनों के दृष्टिकोण में दिन-रात का अन्तर है। चार्वाक की कर्म-निन्दा शास्त्रदृष्टि से च्युत कर के मनुष्य को स्वाभाविक पाशविक-प्रवृत्ति में प्रेरित करती है और इस प्रकार तिर्यक् नरक आदि महान् दुःखप्रद योनियों का कारण बनती है। यह अवनति की ओर लेजाने वाली है; क्योंकि मध्यमगति की अपेक्षा अत्यन्त निकृष्ट, हेयमार्ग तथा गति की प्रशंसा करती है। वे लोग इस प्रकार की चर्चा करते हैं और उनकी कर्मनिन्दा का स्वरूप इस प्रकार का है जैसे– "एह जग मिट्ठा, अगला जग कै डिट्ठा" जो कुछ है यही जग है आगे का लोक किस ने देखा है। जिन लोगों की बुद्धि वित्त, भोग तथा विषयलालसा से उपहत है, वे लोग चर्मचक्षु से दीखने वाले इस वर्तमान लोक को ही परमसत्य मानते हैं। मृत्यु के अनन्तर शास्त्रवर्णित परलोक आदि के सम्बन्ध में उनकी ऐसी धारणा होती है कि यह सब कुछ भोले-भाले मनुष्यों के श्रमोपार्जित धन को उड़ाने और धोखा देने के लिए धूर्त लोगों की कूटनीति है। इसलिये यह विधिनिषेधरूपी वेद-प्रतिपादित कर्म, कर्मफल आदि सम्बन्धी नास्तिकों की निन्दा अति नीचगति का कारण है। परन्तु तत्त्ववेत्ताओं की कर्म आदि की निन्दा उत्कृष्ट दृष्टि से है

उनका लक्ष्य परलोक का नितान्त तिरस्कार करके ऐहिक भोगों की प्रशंसा करना नहीं है। प्रत्युत उनका यह निर्णीत सिद्धान्त है कि परलोक के भोग इस लोक के भोगों की अपेक्षा अधिक रमणीक, उत्कृष्ट तथा चिरस्थायी होते हैं। परन्तु इस पर भी वे इस लोक के समान ही नाशवान् तथा अन्त में दुःख के कारण होते हैं। इसलिए उनकी इहलौकिक तथा पारलौकिक भोगों की निन्दा परमोत्कृष्ट, सर्वोत्तम, एकरस-स्थिति की प्राप्ति के उद्देश्य से है। क्योंकि श्रेय (निरपेक्ष भूमानन्द) तथा प्रेय (विषयाधीन क्षणिक स्थूल बाह्य सुख) दोनों का एक बुद्धि या एक पुरुष उपभोग नहीं कर सकता। अतः उनकी कर्म तथा परलोक की निन्दा इस परमोत्कृष्ट पद के लिए, उन्नति के लिए है। परन्तु जो पुरुष चिरकाल से आसुरी भावों में वर्तता हुआ, कालचक्र के प्रभाव से थोड़े समय से ही शास्त्र-विहित मार्ग में प्रवृत्त हुआ है, वह परलोक के भोगों के अनित्यत्व आदि दोषों को समझने में असमर्थ होता है। वह उपर्युक्त तात्त्विकदृष्टि की कर्म-निन्दा, तथा भोगप्रधान नास्तिकों की कर्म-निन्दा, तथा सूक्ष्म भेद को न समझता हुआ अत्यन्त निकृष्ट मार्ग में प्रवृत्त हो सकता है। इसलिए परमार्थ दृष्टि वाले को व्यवहार तथा वार्तालाप में बहुत सावधान रहना चाहिए कि कहीं जन साधारण जो अभी उत्कृष्ट ज्ञानमार्ग पर चलने में असमर्थ है; उसके वचनों या व्यवहारों से उसके तात्पर्य को अन्यथा विपरीत समझ कर शास्त्र-पथ, मध्यमगति से च्युत न हो जावें। अतः फल पर दृष्टि न रखते हुए वह स्वयं शास्त्रानुसार आचरण करता हुआ सामान्य जनों को भी अधिकारोचित शास्त्र के कर्म-मार्ग में प्रवृत्त करे। गीता के इस उपदेश को दृष्टि में रखते हुए ज्ञानी के लिए तप तथा त्याग आदि का मार्ग ही उचित है। भोगादि का मार्ग कदापि उपादेय नहीं है। अतिसूक्ष्म आत्मतत्त्व के बोध के लिए शम तथा दम द्वारा मन को निर्मल तथा बुद्धि को सूक्ष्म करना अनिवार्य है। जो मन इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों के ग्रहण में संलग्न है; बाह्य विषय जिसकी वृत्ति को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं या जिसका मन अनुभूत विषयों में आसक्ति के कारण विषय उपस्थित न होने पर भी अत्यन्त एकान्त देश में उनका चिन्तन नहीं छोड़ता अर्थात् जो मनुष्य शम-दम सम्पत्ति से युक्त नहीं है, वह अतिसूक्ष्म परमतत्त्व विषयक चिन्तन नहीं कर सकता। तत्-सम्बन्धी चर्चा उसे कभी भाग्यवश प्राप्त हो जाए तो झट निद्रा उसको अभिभूत कर लेती है। अतः शम-दम की आवश्यकता साधक के लिए अनिवार्य है।

तीसरा अध्याय समाप्त



चौथा अध्याय

उपरति

१. उपरति का प्रयोजन

उपरति षट्-सम्पत्ति का तीसरा अंग है। शम-दम का विधान बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के निरोध के लिए है। क्योंकि अन्तर्तम, अतिसूक्ष्म, मन इन्द्रियों के अगोचर तत्त्व में इनका कुछ उपयोग नहीं (केनोपनिषद् १,३,४)†। प्रत्युत इन्द्रियों की विषयलोलुपता उस विष्णुपद की प्राप्ति में बहुत बड़ा प्रतिबन्ध है; (कठ ३, ५–७)‡ शम का विधान मन के संकल्प-विकल्प रूपी व्यवहार के विरोध के लिए है। उपरति का विधान मनुष्य की कर्मेन्द्रियों के बाह्य व्यवहार के निरोध के लिए है।

२. उपरति का तात्पर्य

अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धि [अर्थात् विषय आदि भोग वासनारूपी मल के धुल जाने पर] हो जाने पर नैमित्तिक कर्मों के सहित नित्यकर्मों के भी विधि-अनुसार त्याग का नाम उपरति है। अन्तरंग साधन श्रवण-मनन आदि [तथा शम-दम आदि या सत्य-अहिंसा आदि सामान्य धर्म जो जिज्ञासु के लिए स्वाभाविक हैं] और उन श्रवण-मनन आदि साधनों के लिए शरीरयात्रार्थ भिक्षाटन आदि कार्यों के अतिरिक्त अन्य संपूर्णकर्मों का शास्त्र-नियमानुसार त्यागरूपी संन्यास का ही यह विधान है। अर्थात् अकर्मा संन्यासी का मुख्यरूप से इस उपनिषद्-विद्या में अधिकार है। तप तथा ईश्वर के प्रसाद से—श्वेताश्वतर ऋषि ने उस अनादि, अनन्त, महद्ब्रह्म का साक्षात्कार किया और ऋषि-समुदाय से सेवित इस परमपवित्र ब्रह्मतत्त्व का सम्यक् प्रकार से विरक्त तथा पूज्यतम परमहंस संन्यासियों को उपदेश किया। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६, २१) §। जिस दिन भोगों से दृढ़ वैराग्य हो जावे, उसी दिन (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम अथवा वानप्रस्थाश्रम से) संन्यास ग्रहण करले। अर्थात् संन्यास ग्रहण करने में मुख्यहेतु वैराग्य ही है अन्य आश्रम वानप्रस्थादि नहीं। जब संपूर्ण वस्तुओं से मन में वैराग्य हो जावे तब ही विद्वान् संन्यास ले, अन्यथा पतित हो जाता है *। और वैराग्य हो जाने के दिन से संन्यास

---

† न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो। न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ॥
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ केन १,३

‡ यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ ३,६
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ३,७

§ तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम् ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६, २१

* यदा मनसि सञ्जातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु। तदा संन्यासमिच्छन्ति पतितः स्याद्विपर्ययात्।

में ही अधिकार है, गृहस्थ में नहीं; क्योंकि § गृहस्थ तो जाया, पुत्र, वित्त, कर्म तथा कर्म-साध्य मनुष्य, पितृ तथा देवलोक पाङ्क्तलक्षण काम्य ही है, भोग-कामना की गति यहीं तक है। यहां यह आक्षेप हो सकता है कि क्या गृहस्थ भोगकामनामय ही है। विचार से देखें तो यह आक्षेप यथार्थ ही है। क्योंकि यदि जायापुत्रादि-भोगों की लालसा न हो तो ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में अन्य किस लक्ष्य से प्रवेश करेगा। भोग के अतिरिक्त गृहस्थाश्रम में अन्य ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों की अपेक्षा और क्या विलक्षणता है ? अतः इस गृहस्थाश्रम का भोग ही स्वरूप तथा लक्षण कहा जा सकता है। चाहे वह प्राकृत जनों की तरह उच्छृङ्खल न हो कर शास्त्रोक्त आदेश के अनुसार ही हो। भोग-कामना के बिना गृहस्थ में प्रवेश नहीं हो सकता और कामना निवृत्त हो जाने पर त्याग भी स्वाभाविक होता है। इसी तथ्य का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् ४, ४, २२ * में भी है। अतः केवल उपरतियुक्त संन्यासी का ही उपनिषद्रूपी ब्रह्मविद्या में अधिकार है, कर्मी (कर्मनिष्ठावान्) का नहीं।

३. कर्म देवता के पुजारियों के चार भेद

१. असुर, २. भौतिक विज्ञानवादी, ३. साधारण धर्म में श्रद्धा रखने वाले, ४. वर्णाश्रम सम्बन्धी शास्त्रोक्त धर्म में श्रद्धा रखने वाले।

आजकल तमोगुण तथा रजोगुण-प्रधान युग में कर्ममात्र का उपर्युक्त प्रकार का सच्चा तिरस्कार सहज नहीं है। क्योंकि कर्म रूपी देवता के ही अनेक प्रकार के पुजारी इधर उधर दीखते हैं और उन्हीं की प्रधानता है। इस लिए कर्म सम्बन्धी त्यागरूपी सत्य को समझना-समझाना सहज नहीं है। इस सत्य के विरोधियों की नीचे लिखे प्रकारों से भिन्न-भिन्न श्रेणियां बन सकती हैं:—

१. पहली श्रेणी उन लोगों की है जो धन भोग के मद से इतने उन्मत्त हैं कि बलात्कार तथा कुटिल नीति से अपने स्वार्थ को सिद्ध करना ही उन्होंने अपना लक्ष्य बना लिया है। वे दूसरों के धन, जन तथा स्वत्व की कुछ परवाह नहीं करते; और धर्म (न्याय) का प्रयोग केवल अपनी रक्षा के लिए करते हैं; कि दूसरे उनके विषय भोगों की सामग्री को अन्याय से न लें। अथवा दूसरों की वञ्चना के लिए अपने न्याय का ढिण्ढोरा पीटते हैं।

२. दूसरी श्रेणी भौतिक विज्ञानवादियों की है। इस युग में भौतिक विज्ञानवाद ने अनेक आविष्कार किये हैं, जिनके द्वारा सामान्य मनुष्य की सामर्थ्य तथा सुख-सामग्री में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। जल, अग्नि, वायु, विद्युत् आदि भूतों के सदुपयोग में भौतिक विज्ञानवाद का अभिमान निर्मूल नहीं है। ये

§ एकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति ।
स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते ॥ बृहदारण्यक उपनिषद् १, ४, १७

* एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ॥ बृहदारण्यकोपनिषद् ४, ४, २२

अपने तप तथा मस्तिष्कबल के द्वारा भूमि को स्वर्ग बना देने की आशा से परिश्रम में लगे हुए हैं। ये लोग अपने भौतिक पुरुषार्थ (कर्म) का निरादर कैसे सहन कर सकते हैं। ये लोग श्रेणी एक तथा तीन में विभक्त हो सकते हैं। परन्तु भौतिकविज्ञान की समकालीन अधिक सफलता के कारण बिना आधार के ही प्राचीन धर्मों की अवहेलना करते और उन धर्मों के आधार के बिना अपने आपको आशावादी (Optimist) कहते हैं। और भोग-त्याग या भोगविरोधी विचार को दुःख या निराशावाद (Pessimism) का नाम देकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। उन्हें अपने भोगवाद का, जिसे ये आशावाद कहते हैं, अभिमान है, ये लोग मनुष्यों के स्वभाव के दो भाग करते हैं:—(क) बहिर्मुखी (Extrovert), वे शूरवीर हैं जो संसार की विरोधी जड़-चेतन शक्तियों का विरोध करते हैं। कठिनाइयों से घबराते नहीं हैं, प्रत्युत उनको विजय करने की आशा और जीवन को स्वर्गमय बना देने की आशा रखते हैं। (ख) अन्तर्मुखी (Introvert), वे निर्बल स्वभाव वाले भीरु व्यक्ति जो संसार की विपत्तियों से भय-भीत हुए निराशावाद (Pessimism) की शरण लेते हैं और यह समझते हैं कि इन दुःखों से छूटने का कोई रास्ता नहीं है। बहिर्मुखी जनों की रोचक विभागमात्र से प्रशंसा करते हैं। इस चमत्कारी सफलता के कारण भौतिकविज्ञानवाद को पृथक् श्रेणी में रखा गया है।

(३) तीसरी श्रेणी उन लोगों की है जो सामान्य धर्म के महत्त्व को हृदय से अनुभव करते हैं और दूसरों को भूखे, प्यासे, नंगे, रोगी और दुःखी देखकर उन पर दया करते हैं। अपनी आवश्यक वस्तुओं का भी दूसरों के दुःख दूर करने में प्रसन्नतापूर्वक त्याग करते हैं। और अपने धन, बल, सामर्थ्य का यही सदुपयोग समझते हैं।

(४) यह श्रेणी उन लोगों की है जिनको तृतीय भाग के अन्तर्गत सर्वसामान्य धर्म (जिसके लिए विशेष किसी आगम-वेदादि के निर्देश की अपेक्षा नहीं होती) के अतिरिक्त शास्त्रवर्णित वर्णाश्रम आदि धर्मों तथा भविष्य में होने वाले उनके फलादि में श्रद्धा है और उनके महत्त्व में विशेष आग्रह है। वे केवल शास्त्रोक्त कर्म के बल पर अक्षय सुखोपलब्धि की आशा रखते हैं। अथवा समकालीन ज्ञान-कर्म-समुच्चय के पक्षपाती हैं।

विभाग संख्या (१) तो अत्यन्त पशुबुद्धि वाले आकारमात्र के मनुष्य हैं। वे इतने सूक्ष्म रहस्य को, जोकि सत्त्वगुणी देवताओं के लिए भी दुर्विज्ञेय है, कैसे समझ सकते हैं। संसार में कौन सा ऐसा सामान्य भौतिक इन्द्रियगोचर तत्त्व है जो प्रत्येक व्यक्ति को समझाया जा सकता है। हर स्थल में योग्यता की अपेक्षा है। ये लोग अपने व्यावहारिक जीवन में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" के सिद्धान्त को मानते हैं; परन्तु खुलकर इसका समर्थन नहीं कर सकते। अपने मनोगत भावों को व्यक्त करने का भी जिन्हें साहस नहीं, जिनकी अपनी अन्तरात्मा ही अपने विचार का तिरस्कार कर रही है; उनके विशेष खण्डन की आवश्यकता नहीं।

४. भौतिक विज्ञानवादका विवेचन तथा अर्वाचीन बहिर्मुखी विचारधारा का दुष्परिणाम

भौतिक-विज्ञान के आविष्कार यद्यपि चमत्कारी हैं तथापि इसी के बल-बूते पर

निर्वाह नहीं हो सकता। बहिर्मुखी (Extrovert) जड़-चेतन शक्तियों के विजयाभिमान ने सारे संसार को इस समय नरक बना दिया है। अग्नि, जल, विद्युत् आदि के आविष्कारों से भूमि को स्वर्ग तो क्या बनाना था ? भौतिक सामग्री परिमित है, उसकी लोलुपता में युद्ध अनिवार्य है। इसीलिए अनेक वायुयान, जलयान, ऐटमबम, टैंक, रेडियो, रडर आदि अनेक आविष्कार एक दूसरे के सर्वनाश की सामग्री बन गए हैं। लाखों व्यक्ति इनके कारण अपने उपयोगी अंग खो बैठे हैं; सदा के लिए परतंत्र, दीन, हीन बन गये हैं। जिनके प्राण बच गये हैं, वे भी पिता पुत्र से, पत्नी पति से, पृथक् हुए अनाथ अवस्था में कहीं के कहीं पड़े हुए हैं; रहने को घर नहीं, शीत से बचने के लिए वस्त्र नहीं, क्षुधानिवृत्ति के लिए अन्न नहीं और सामान्य आवश्यकताओं के लिए भी व्याकुल हो रहे हैं। यह सर्वव्यापी जनसंहार ही धन, विषयलोलुपता तथा बहिर्मुखी (Extrovert) ईर्ष्यालु, युद्धप्रिय, शूरवीरता का स्वर्गमय परिणाम है। इसके खण्डन के लिए अधिक श्रम की अपेक्षा नहीं है। यह समकालीन संसार की दुर्दशा ही इस पाशविक-भाव, भौतिक-वाद के दुष्परिणामों का व्याख्यान रूप है।

५. झूठी अन्तर्मुखता

इसमें सन्देह नहीं कि संसार में बगुला-भक्त भी बहुत होते हैं; वे दूसरों को ठगने के लिए भक्ति तथा न्याय का ढोंग रचते हैं। इसी प्रकार निर्बल मनुष्य भी प्रायः किसी शत्रु के हानि पहुंचाने पर जब अपनी निर्बलता के कारण किसी प्रतीकार के करने में असमर्थ होता है तो अपनी निर्बलता तथा भीरुता को छिपाने के लिए क्षमारूपी सात्विकी देवी के नाम की शरण लेता है। और जब संसार के भोग उसे प्राप्त नहीं होते तो भोगों के दोषों का व्याख्यान करता है। परन्तु इतने मात्र से संसार के भोग-प्रवाहों में बहने को शूरवीरता का पद देना और भोगों के त्याग पर निर्बलता का आरोप करना उचित नहीं। सांसारिक ऐश्वर्य, उन्नति, विद्या, राज्य, मान आदि के लिए भी संयमित जीवन अनिवार्य होता है। इन्द्रियों का दास तो सांसारिक भोग भी प्राप्त नहीं कर सकता और पग-पग पर ठोकर खाता है।

६. सच्चे अन्तर्मुखी की अद्वितीय शूरवीरता

द्वेष का विरोधी द्वेष नहीं, प्रेम है।

परन्तु क्या कोई विचारवान् इस सचाई से इन्कार कर सकता है कि बाह्य शत्रुओं को विजय कर भोगों को प्राप्त करने तथा भोगने की अपेक्षा किसी इन्द्रियरूपी शत्रु का विजय करना अधिक कठिन है।

'बड़े मूज़ीको मारा नफ्से अम्मारा को गर मारा।
निहंगो अज़दहाओ शेरेनर मारा तो क्या मारा ॥'

इन्द्रियों का विजय करना किसी निर्बल, भीरु का काम नहीं; इसके लिए महान् धैर्य की आवश्यकता है। वह अन्तर्मुखी (Introvert) इसलिए नहीं कि बाह्य शत्रुओं को विजय नहीं कर सकता। वह अपने शत्रुओं का मदमर्दन करने में भली प्रकार समर्थ है।

परन्तु उसकी अन्तरात्मा जागृत हो चुकी है। वह बहिर्मुखी की तरह बाहर ही बाहर नहीं देखता। वह जानता है कि बाहर के शत्रुओं की अपेक्षा भीतर के काम, क्रोधादि शत्रु महान् अनर्थ के हेतु हैं और बाह्य उपद्रवों के भी मूल यही हैं। क्योंकि केवल बाह्य स्थूल-शक्ति के भरोसे पर शत्रुओं को कौन मार सकता है। वही अनन्त अदम्य शक्ति हर मनुष्य के भीतर है। उसको अनन्त काल के लिए कौन दबा सकता है। वह बहिर्मुखी बुद्धि अन्यत्र भी विद्यमान है, जो समय पाकर शक्ति का संचय करके शत्रु के उन्मूलन करने में तत्पर हो जाती है। अतः अत्यन्त भयप्रद, मृत्युप्रद, सर्वस्वहर युद्ध का अन्त नहीं होता। इस बहिर्मुखता ने अभी भीतरी मूलशत्रु का अनुभव नहीं किया, जो बाहर अनन्त शत्रु उत्पन्न कर देता है। बुद्धि तथा शूरवीरता के अभिमानी ने अभी यह नहीं समझा कि शत्रुता का विरोधी प्रेम है। शत्रुता, शत्रुता की विरोधी नहीं है। शत्रुता से तो शत्रुता बढ़ती है, घटती नहीं। प्रेम का राज्य तो मन पर होता है। It is better to rule by love than fear. यदि राज्य ही करना है तो भय की अपेक्षा प्रेम का राज्य सहज, स्थिर (नित्य) तथा सुखद है। इस भीतरी शत्रु को अनुभव करना सूक्ष्म, सात्त्विक बुद्धि का काम है और इसका विरोध निर्बल व्यक्ति नहीं कर सकता। सच्चा अन्तर्मुखी (Introvert) तो महान् बलशाली होता है।

यदि कोई हानि पहुंचाए तो क्रोधवश तत्काल उसे दण्ड दे देना सुगम है; यह कोई शक्ति का प्रमाण नहीं है। प्रत्युत इस क्रोधरूपी नित्य भीतर रहने वाले शत्रु को विजय करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। ऐसे अवसरों का अनुभव सभी मनुष्यों को होता है। और इस सत्य को एक भी ऐसा अवसर सम्यक् प्रकार से प्रकट कर सकता है।

७. अन्तर्मुखी महापुरुष सुकरात, यसुमसीह आदि

क्या सुकरात, यसुमसीह, बुद्धादि निर्बल अन्तर्मुखी (Introvert) थे। जिन्होंने "अपने भीतरी शत्रुओं के संहार के उपदेश में" जीवन व्यतीत कर दिया। और संसार की वित्त तथा मोहरूपी निद्रा को भंग करने के लिए अपने परमप्रिय प्राणों तक का बलिदान कर दिया; परन्तु अन्याय, अत्याचार के विरोध में किसी प्रलोभन तथा भय के कारण एक पग भी पीछे नहीं हटे। उन्होंने केवल उपदेश से नहीं अपितु अपने आचरण और व्यवहार में यह सत्य पूर्णतया चरितार्थ किया कि अपने प्राणों के घातकों के साथ भी परमप्रेम का व्यवहार करना चाहिए। हजरत यसुमसीह के नीचे लिखे सुनहरी वचन स्मरणीय हैं:—

१. वे लोग भाग्यशाली हैं और प्रभु की उन पर कृपा है जो नम्र भावना वाले हैं क्योंकि वे ही स्वर्ग के अधिकारी हैं।

२. यदि तुम्हारी दायीं आंख पाप करती है तो उसे निकाल कर बाहर फेंक दो; क्योंकि यह तुम्हारे लिए हितकर है कि तुम्हारे शरीर का एक अंग नष्ट हो जाये, न कि उसके कारण तुम्हें तुम्हारे संपूर्ण शरीर सहित नरक का दुःख भोगना पड़े।

३. तुमने सुना है, ऐसा कहा गया कि आंख के बदले में आंख और दांत के बदले में दांत निकाल लेना उचित है; परन्तु मैं तुम्हें आदेश करता हूं कि बुराई का बदला

बुराई से मत दो; प्रत्युत यदि कोई तुम्हारे दाईं गाल पर चपत मारे तो तुम उसके सामने दूसरी कर दो।

४. कोई आदमी दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता; यह निश्चित है कि वह एक से प्यार करेगा और दूसरे से घृणा करेगा या एक को अपनाएगा और दूसरे से पृथक् हो जाएगा। तुम ईश्वर और कुबेर (धन का अधिपति देवता) दोनों की आज्ञाओं का पालन नहीं कर सकते। (ईसा के गिरिप्रवचन से उद्धृत)

भगवान् बुद्ध के नीचे लिखे वचन भी मननीय हैं:—

१. जितनी हानि किसी मनुष्य को उससे वैर करने वाला पहुंचा सकता है, या जितना दुःख उसे उसका शत्रु दे सकता है, उससे अधिक क्लेश उसे उसका मन टेढ़े मार्ग पर चल कर देता है।

२. जितना लाभ मनुष्य को उसका अपना मन सीधे मार्ग पर चल कर पहुंचा सकता है, उतना उसके माता पिता बन्धु नहीं पहुंचा सकते।

३. इस संसार में द्वेष द्वेष से शान्त नहीं हो सकता। इसे शान्त करने का उपाय अद्वेष या वैरत्याग है। यह प्राचीन नियम (सनातन धर्म) है।

४. जिस पुरुष ने अपने आप पर शासन कर लिया, वह सहस्रों वैरियों को सहस्रों बार जीतने वालों से भी बड़ा विजेता है।

५. दूसरों पर शासन करने की अपेक्षा अपने आप पर शासन करना उत्तम है। यदि एक पुरुष अपने आप पर विजय प्राप्त कर लेता है और संयम से रहता है, तो कोई शक्ति भी उसकी विजय को निष्फल नहीं कर सकती। (धम्म पद)

अन्तर्मुखी (Introvert) की दृष्टि में बहिर्मुखी (Extrovert) के समान मूढ दीनता, इन्द्रिय तथा स्वार्थविवशता, भयंकर परतन्त्रता का नाम शूरवीरता नहीं है। वह दूसरों के धन, जन का अपहरण करने में अपनी विजय नहीं समझता; दूसरों को बलात् दास बनाने में ही अपने पाशविक बल का उपयोग नहीं करता। वह स्वतन्त्रता तथा सच्चे मानवीय बल का रहस्य दासता की जंजीरों को काटने में ही समझता है। और अपने प्रेम से दूसरों के मनरूपी सिंहासनों पर राज्य करता है। यही नहीं, वह बाह्य दासता के मूल कारण भीतरी दासता अर्थात् धन, भोग का मोह तथा इन्द्रियरूपी महाबलवान्, दुर्धर्ष शत्रुओं को विजय करने में ही अपनी चतुरता तथा बल का सदुपयोग समझता है। उसे निर्बल कौन कह सकता है, वह तो महा शूरवीर है।

८. अर्वाचीन कर्म-महत्त्व की भ्रान्ति का मूल भोग-प्रधान जीवन है

कर्मदेवता के पुजारियों के जितने भी विभाग ऊपर किये गये हैं जो इस सिद्धान्त की अवहेलना करते हैं कि संन्यास (विधिवत् कर्मत्याग) द्वारा ही ब्रह्म-विद्या सफल हो सकती है; उन सब में मौलिक भ्रान्ति संसार के अपार रमणीक पदार्थों के संबंध में है। शरीर का निर्वाह या शीतोष्णता और क्षुधापिपासा आदि की निवृत्ति तो इन पदार्थों से ही होगी; परन्तु इनको सद्रूप (Positive) सुख का साधन तथा परम अथवा एकमात्र उपाय

मानना, रजोगुण के कारण चपल हुई इन्द्रियों से भ्रमित कलुषितबुद्धि का काम है; जो इनके वास्तविक सच्चे स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाती। प्रत्युत गीता में वर्णित (१८,३२) तामसिक-बुद्धि असंदिग्ध रूप से सत्य को असत्य तथा असत्य को सत्य ही मानती है। इसी मिथ्याज्ञान में उसका आग्रह है। काम, क्रोधादि महाक्लेशस्वरूप भावों को ही वह सुखरूप समझती है। वे कामकामी भोगों की कामना करते रहने को ही अपना ध्येय तथा जीवन आधार मानते हैं। जो राजनीति (Politics) में कामनाओं के बढ़ाने को ही परमश्रेय समझते हैं, वे आरम्भ में विषयों के अमृत के समान बाह्य मनोहर रूप से प्रभावित होकर उनके परिणाम में होने वाले दुःखरूपी विषैले फल को नहीं समझते (गीता१८,३८)†। शास्त्र तथा महापुरुषों के अनेक वार सहस्रशः उपदेश करने पर भी अपने दुराग्रह को न छोड़ कर अपने मिथ्याज्ञान के साथ चिपटे रहते हैं। उलटे ऐसे महामना तत्त्वदर्शियों को दुःखवादी (Pessimist) तथा अपने-आप को सुखवादी (Optimist) कहने में कुछ संकोच नहीं मानते। विषयमोहरूपी अविद्या में पड़े हुए अपने आप को सुविज्ञ चतुर पण्डित मानते हैं (कठ० २, ५)‡। परन्तु उनकी चतुराई का चित्र चक्रवर्ती भर्तृहरि ने इस प्रकार खींचा है, "कि मेंढक सर्प के मुख में है परन्तु भोगांध फिर भी मच्छरों के पीछे लपकने की चेष्टा कर रहा है।" ये विचार किसी भूखे, कंगले, दरिद्री के मुख से नहीं निकले; ये उस निर्मलहृदय व्यक्ति के उद्गार हैं, जिसने चक्रवर्ती राज्य के सुखों को दीर्घकाल तक भोग कर उन्हें निःसार समझा और तिनके तथा मल-विष्ठा के समान त्याग दिया। चक्रवर्ती राज्य ही नहीं जिन्होंने महान् पुण्यों के परिणाम में प्राप्त होने वाले देवेन्द्र आदि के सुखों में वही दोष देखे (मुण्डक १,२,१२) §। आपातरमणीय भोगों में क्षणिक सुख मान लेने के पश्चात् भी, इन नाशवान् पदार्थों के योगक्षेमरूपी दोष से दिनरात चिन्तातुर रहते हुए भी यदि मेंढक के समान प्रमादवश उस चिन्ता को नहीं देख सकते, तो वह चिन्तारूपी मृत्यु हमें छोड़ तो नहीं देती (कठ० २,६) §। महान् से महान् पद प्राप्त करके भी क्या चिन्तारूपी पिशाचिनी से किसी का छुटकारा हुआ है? एक राजा ने अपने दीर्घकालीन राज्य की डायरी की परीक्षा करके लिखा था कि "उसके संपूर्ण जीवन में केवल दस दिन ऐसे थे जो कुछ चैन या सुख से बीते थे।" क्षणिक सुख के प्रलोभन में इसके परिणाम में होने वाले दुःखों को भूले रहना ही कोई सुखवाद (Optimism) नहीं है। और इसके तत्त्व को जान कर मरणपर्यन्त अन्त न होने वाले दुःख से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना कोई दुःखवाद (Pessimism) नहीं है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि दारुण भूख के

† विषयेन्द्रियसंयोगाद् यदग्रे अमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ गीता १८,३८

‡ अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अंधेनेव नीयमाना यथान्धाः॥ कठ० २,५

§ परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन॥ मुण्डक १,२,१२

§ न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ कठ० २,६

समय रूखा-सूखा अन्न भी पक्वान्न के समान स्वादु प्रतीत होता है; और क्षुधा मन्द होने तथा रोग की दशा में मिष्टान्न से भी घृणा हो जाती है। कामाग्नि से सन्तप्त मनुष्य अपनी पत्नी का आलिंगन कर उस ज्वाला के शान्त होने पर क्षण भर के लिए शान्ति (आनन्द) का अनुभव करता है; परन्तु क्षणभर में वेग शान्त हो जाने पर परममनोहर चन्द्रमुखी भी कुरूप और भयानक भासने लगती है। अरे विषयमद में मतवाले! जरा मोह की पट्टी को अपने विवेकरूपी चक्षुओं से उतार और इस सचाई को देख कि ये सब प्रिय भोग केवल एक महान् तृष्णारूपी रोग के क्षणिक प्रतीकार हैं। तू क्यों इस कड़वी कुनीन को, जिसके ऊपर थोड़ा मीठा लपेटा हुआ है, परमसुखरूप समझ रहा है। (वैराग्य शतक)। * इसमें केवल यही दोष नहीं है कि ये विषय-भोग तृष्णारूपी अग्नि की क्षणिक शान्ति के उपाय हैं, तृष्णा के इस भोगरूपी प्रतीकार में कुछ भी बुद्धिमत्ता नहीं है क्योंकि यह तृष्णारूपी अग्नि भोगरूपी घृत के डालने से शान्त न होकर अधिकाधिक प्रचण्ड हो जाती है। (मनु)। और अन्त में भोग इन्द्रियों तथा शरीर के तेज को हर लेते हैं। (कठ०)। कुछ विचार कर के देखा जाय तो यही प्रमाणित होता है कि इन्द्र को अप्सराओं के रमण में जो आनन्द मिलता है वह एक कुत्ते को कुतिया के रमण से मिलने वाले आनन्द की अपेक्षा विलक्षण या अधिक किसी प्रकार नहीं है। फिर इतने महान् श्रम के फल में क्या विशेषता हुई। यदि ये भोग ही परम सुख हैं तो देवेन्द्र तथा कुत्ते में क्या अन्तर है? तत्त्वज्ञों की निर्मल दिव्य-दृष्टि के अनुभव का इतना दिग्दर्शन ही पर्याप्त है। क्या भोगों से सुखों की दुराशा कभी किसी की पूरी हुई है? आजकल के भौतिकविज्ञान के सिनेमा आदि आविष्कारों के भोगों से कहां तक किसी की तृप्ति हुई है? यह चिरकाल तक इनका उपभोग करने वाले भली प्रकार जानते हैं।

६. लोक में विख्यात दुःखवादी ही वास्तव में सुखवादी है

क्या इस इन्द्रियभोग सुख की दुराशा का नाम ही आशावाद है? और क्या संयमी, विचारशील, देवस्वभाववाले मनुष्यों का इन अनन्त दुःखों के जनक, क्षणिक, भ्रान्ति-जन्य तथा प्रतीकाररूप सुखों के दास न बनना ही दुःखवाद-निराशावाद (Pessimism) है? वितृष्णा तथा अनासक्ति का सुख मीठे जल के अगाध समुद्र के तुल्य है और भोग-सुख एक क्षारीय-बिन्दु के समान है; इस रहस्य को निर्मल हृदय वाला श्रद्धालु ही कुछ ग्रहण कर सकता है, विद्याभिमानी अविद्वान् नहीं।

सांसारिक सुखों से तृष्णाहीन होने के अनन्तर ही उस अखण्ड, भूमा, परमरस-स्वरूप की उपलब्धि होती है। इन्द्रियों की स्वाभाविक बाह्यविषयों की ओर प्रवृत्ति का निरोध कर अन्तर्मुखी (Introvert) होने से उस अन्ततम, सच्चिदानन्दस्वरूप, परमात्म-तत्त्व के दिव्यानन्द का पान हो सकता है। अतः यह मार्ग बाह्य, स्थूल, रजोगुणी दृष्टि वालों

---

* तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीतमधुरं।
क्षुधार्तः सञ्छालीन् कवलयति शाकादिवलितान्॥
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूम्।
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥ भर्तृहरि वै० श० ९२

के लिए (Pessimism) दुःखवाद है और तात्त्विक दृष्टि से यही आशावाद (Optimism) है ! (गीता २,६९) * । यही तो प्राणिमात्र की स्वाभाविक इच्छा है कि त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति हो ।

१०. श्रेय-प्रेय भेद (कर्म-अकर्म)

यह भोगसुख का इतना लम्बा विवेचन करने की इसलिए आवश्यकता हुई है क्योंकि कर्मत्याग या उपरति आदि के विषय में हमारी धारणा भ्रांत होती है और उसका कारण होता है यह कि हम आपातरमणीय (प्रेय) मार्ग के वास्तविक मूल्य को मोह के कारण दृढ़ता तथा असंदिग्ध रूप से नहीं आँकते । और भोग के विषय में यह सच्ची धारणा—"ये विषय-भोग तुच्छ हैं, क्षणिक सुख के पश्चात् अनन्त दुःख के देने वाले हैं;" ही आध्यात्मिक प्रासाद की नींव की आधारशिला है। इस स्वतःसिद्ध सिद्धान्त (Axiom) के याथातथ्य रूप में निर्धारित करने से उपर्युक्त साधन आदि विषयों की विवेचना भ्रांत प्रतीत होने लगती है। प्रेय के सम्बन्ध में निम्नलिखित स्वतःसिद्ध (सत्त्वप्रधान अन्तः-करण वालों के लिए) सिद्धान्त को जो स्पष्ट रूप से हृदयंगम नहीं कर लेता और जिसे यह सत्य सूर्य के समान अत्यन्त स्पष्ट नहीं दीखने लग जाता वह इस अध्यात्मरूपी भवन में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं है । यदि वह किसी प्रकार प्रविष्ट हो भी जाय तो टकरा कर नष्ट हो जाएगा, उभयभ्रष्ट हो जाएगा और उसका कुछ फल नहीं होगा । इसका पहले भी वर्णन हो चुका है ।

सिद्धान्त—(क) प्राणिमात्र तथा प्राकृतजन को चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचररूप रसादि विषय जो तत्क्षण अत्यन्त रमणीक, सुखद, प्यारे तथा प्रेयरूप भासते हैं, ये हमारे श्रेय (परम इष्ट, सदा सुखदायी) नहीं हैं, अर्थात् इनका यह क्षणिक सुख पूर्वकालीन तथा उत्तरकालीन अनन्त आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःख मिश्रित होता है । ऐसे क्षणिक सुख को कौन विचारवान् अपना इष्ट बना सकता है ।

(ख) जो हमारा परम इष्ट है, वह लेशमात्र दुःख के संयोग से रहित, परम-एकरस, स्थिरसुख है । वह विषयसुख से भिन्न होने के कारण इन्द्रियों के अगोचर है। अतः तमोरजोगुण प्रधान प्राकृत जन, जिनकी इन्द्रियगोचर पदार्थों में ही आस्था अर्थात् श्रद्धा होती है, जिनका परमसत्य सांसारिक विषय ही हैं और वे ही उनको स्वभावतः प्रिय हैं, उस एकरस तत्त्व को नहीं समझ सकते । उनकी बुद्धि के लिए वह तत्त्व अगम्य है। जो तत्त्व उनकी कल्पना में भी नहीं आसकता उसमें उनको प्रीति कैसे हो सकती है ?

(१) उपर्युक्त प्रेय तथा श्रेय के स्वरूप, साधन तथा फल की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न तथा विरोधी हैं ।

(२) एक ही मनुष्य (अथवा बुद्धि) दोनों को नहीं अपना सकती । तमोगुण तथा रजोगुणप्रधान बुद्धि को प्रेय स्वाभाविक रूप से प्रिय होता है और सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि को

* या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ गीता २, ६९

इसी प्रकार श्रेय प्रिय होता है। इन दो में से एक का ग्रहण तथा दूसरे का त्याग अनिवार्य है। जो प्रेय का अभिलाषी है वह श्रेय का अधिकारी नहीं हो सकता। (कठ०)

(३) प्रेय अस्थिर, परिणामी, कर्मजन्य है, इसके योगक्षेम के लिए कर्म आवश्यक है। बिना कर्म के इसकी प्राप्ति नहीं होती तथा कर्मजन्य होने से यह निश्चितरूप से नाशवान् है।

(४) श्रेय—परमात्मतत्त्व, भूमा, अखण्ड, सच्चिदानन्द, एकरस, निर्विकार है अतः उस पर किसी कर्म का यत्किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। और कर्म का उसमें यत्किंचित् भी उपयोग नहीं।

श्रेय तथा प्रेय का विवेचन अति दुर्गम है। साधारणतया मनुष्य में तमोगुण तथा रजोगुण की प्रधानता होती है। शास्त्र में उपदिष्ट साधनों पर अनन्त श्रद्धा से दीर्घकाल तक अभ्यास करने से सत्त्वगुण की प्रधानता सम्पादित होती है। प्रेय का भी कुछ कम विस्तार नहीं है, इस सम्बन्ध में शास्त्रों में भू आदि अनेक लोकों का वर्णन आता है।

११. अन्न, धन, वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं के दान की विवेचना

उपर्युक्त चार तथ्यों को भली भांति बुद्धि में सुस्थिर कर लेने पर अन्य उपरति आदि सम्बन्धी विचार अत्यन्त सरल तथा असंदिग्ध हो जाता है, जैसे दो और दो निश्चित चार होते हैं। और जब तक उपर्युक्त (क) तथा (ख) दो तथ्यों का निर्मल श्रद्धा तथा बुद्धि द्वारा दृढ़ निश्चय नहीं हुआ, तब तक अन्य वक्ष्यमाण परम अध्यात्मसम्बन्धी साधन आदि विषयक विचार कभी बुद्धि-गम्य नहीं हो सकता।

ब्रह्मसूत्र के तीसरे साधन अध्याय के चतुर्थ पाद में यज्ञ, दान आदि बहिरङ्ग साधन, शम-दम आदि सामान्य अन्तरंग साधन तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि प्रधान अन्तरंग साधनों का विवेचन किया गया है। उपर्युक्त दो तथ्यों के आधार पर यह सब प्रश्न स्वतः ही सुगमता से हल हो जाते हैं।

भौतिक विज्ञानवाद के चमत्कारी आशावाद की सफलता का विचार हो चुका। सामान्य धर्म, दया, अहिंसा दानादि के उपयोग का विचार भी प्रजापति के उपदेश में हो चुका है। शरीर के लिए अन्न, जल, वस्त्र आदि की आवश्यकता अनिवार्य है; और आज कल के घोर कलियुग में सामान्य दया, दान, उपकार आदि की महिमा करने वालों की संख्या तो कम नहीं; परन्तु इनको आचरण में लाने वाले तो विरले ही भाग्यवान् होंगे। हां! अनाथों, अबलाओं, निर्बलों तथा देशजाति के नाम पर, भोलेभाले सहायता देने के अधिकारी सज्जनों का धन उड़ाने वाले तो सर्वत्र बड़ी संख्या में सुलभ हैं। अतः अन्न, वस्त्र, औषध आदि के दान की अत्यन्त आवश्यकता है; परन्तु अन्न, जल, वस्त्रमात्र से मनुष्य की परमतृप्ति कहां हो सकती है ? अत्यन्त रमणीक भोग भी तो प्रेयमात्र ही हैं तथा शारीरिक आवश्यकता से अधिक घोर दुःखरूप नरक के हेतु हैं; अनेक पाप, तृष्णा तथा मलिनवासना के कारण हैं। अतः सामान्य जन की दृष्टि से भले यही परमध्येय हो, और इनका दान प्रशंसनीय हो। परन्तु जिसको श्रेय तथा प्रेय का दृढ़ विवेक हो चुका है उसकी दृष्टि में ऐसे आपातरमणीय सुन्दर भोगों का भोगार्थ प्रदान ऐसा ही है

जैसा कि किसी शराबी को शराब की बोतल प्रदान करना। जैसे शराब के दोष के भय-प्रदर्शन तथा शराब छोड़ देने के फलादि के प्रलोभन द्वारा उसके हाथ की बोतल को छीन लेना ही वास्तव में परोपकार है, वैसे ही श्रेय तथा प्रेय के सम्यग्-विवेकी को इन भोगों के प्रदान में परोपकार नहीं दीखता; अपितु इन सर्परूपी विषयों के भोग का त्याग करने में ही परोपकार दीखता है। परन्तु इसका रहस्य मनुष्य अपनी अपनी शक्ति के अनुसार ही समझ सकता है। अतः ये सामान्य धर्म भी परमार्थदृष्टि से इतने विशेष महत्त्व के नहीं रहते। राज्य, सेना, पुलिस, तार आदि की सुव्यवस्था सामान्य शारीरिक व्यवहार के लिए आवश्यक है; परन्तु लक्ष्य की दृष्टि से एक सामान्यसाधनरूप ही है, परम साध्य नहीं है। इसलिए कहा है कि सब दानों में ब्रह्मज्ञान ही विशेष है "सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते" (मनु ४.२३)। यह श्रेय ही सब का परम इष्ट है। वर्णाश्रमधर्म के फल तथा उपयोग के विवेचन के प्रसंग में यह विचार अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

१२. शास्त्रोक्त वर्णाश्रमधर्म-विवेचन

शास्त्रोक्तकर्म परोपकार का परम इष्ट में प्रयोग

कर्म तथा सामान्य विद्या द्वारा जो लोक तथा फल देहपात के अनन्तर प्राप्त होते हैं, वे सब नाशवान् हैं। इस (तथ्य नं०३) का विस्तार से निरूपण प्रजापति के उपदेश में देवता-शिक्षा के सम्बन्ध में हो चुका है। अतः फल की दृष्टि से भी कर्म परम महत्त्व की वस्तु नहीं। (तथ्य नं० ४ के आधार पर भी) श्रेय, परम, अखण्ड, एकरस तत्त्व की उपलब्धिरूप ब्रह्मविद्या में कर्म का साक्षात् कुछ उपयोग नहीं है।

इसी सिद्धान्त का विशद वर्णन उपनिषद् में आया है।

"स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषो अन्तर्हृदय-आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति।" (बृ० उ० ४,४,२२)

"वह महान्, अजन्मा, आत्मा अत्यन्तबलशाली तथा सामर्थ्यवान् देवताओं (ब्रह्मा-इन्द्रादि) का भी शासनकर्ता है। वह सब का ईश्वर तथा अधिपति है। शास्त्र-विहित कर्म द्वारा उसके स्वरूप अथवा धर्म में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती, न ही शास्त्र-प्रतिषिद्ध कर्म से उसमें किसी प्रकार की न्यूनता ही आती है। इस उपनिषद्-प्रतिपादित आत्मलोक की इच्छा से प्रव्रजनशील मनुष्य (इन अस्थिर पदार्थों में रमण न करने वाले उदासीन) संन्यास धारण करते हैं। अर्थात् भोग के साधन कर्मों का सर्वथा त्याग कर देते हैं; क्योंकि पूर्वसमय के विद्वान् (आत्मतत्त्ववेत्ता) अपरब्रह्मविद्या, तीन लोक (मनुष्य, पितर, तथा देव) प्रजा तथा उनके साधन कर्म, जिनका वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् (१,५,१६) में है, की कामना नहीं करते अर्थात् उसके साधन का अनुष्ठान नहीं करते हैं; तथा बहुत प्रसन्न तथा प्रफुल्लितमुख से यह घोषणा करते हैं कि हम परमार्थ

दर्शियों का तो यह आत्मलोक है जो भूख, प्यास, तथा साधु, असाधु कर्मजन्य विकाररहित है। अतः पुत्रैषणा, (पुत्र द्वारा प्राप्त मनुष्यलोक, चक्रवर्तिराज्यपर्यन्त तथा पुत्रोत्पत्ति का साधन जाया) वित्तैषणा (अर्थात् धन द्वारा कर्मसाध्य पितृलोक) लोकैषणा (देवलोक तथा प्रतिष्ठा, स्तुति) से व्युत्थान अर्थात् वैराग्य को प्राप्त होकर भिक्षाव्रत (संन्यास) को धारण करते हैं। जहां पर इन तीन में से कोई एक तृष्णा होती है वहां पर अन्य दो तृष्णाएं भी अवश्य होती हैं, चाहे कई कारणों से व्यक्त न भी हों।

"अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति । सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको, विद्यया देवलोको, देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्मात् विद्यां प्रशंसन्ति ॥" बृ० १,५,१६

तीन ही लोक हैं—मनुष्यलोक, पितृलोक तथा देवलोक। पुत्र से (अन्य किसी कर्म से नहीं) मनुष्यलोक की, कर्म से पितृलोक की तथा विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है। देवलोक ही सर्वलोकों से श्रेष्ठ है। इसलिए विद्या की प्रशंसा करते हैं। अतः कर्म और अपरविद्या की गति इन नाशवान् लोकों तक है, परमश्रेय तक नहीं। इसलिए कर्म तथा अपरविद्या का त्याग कर संन्यास ग्रहण करते हैं।

ब्रह्मसूत्र (३,४,१५-२५) में भी इसी भाव का उल्लेख है। विद्या कर्मनाशक है।
उस शुद्ध अवर (शबल) परमात्मा के दर्शन से हृदयग्रन्थि (अविद्या, चित् जडग्रन्थि,
अनात्म अहंकार) टूट जाती है तथा आत्म, अनात्मविषयक अनेक संशय निवृत्त हो जाते
हैं। और इसके सञ्चित तथा क्रियमाण सब कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् ज्ञान के अनन्तर
कर्म किसी प्रकार का इष्टानिष्ट अदृष्ट उत्पन्न नहीं करते। (मुण्डक २,२४)। गीता में भी
भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि "हे अर्जुन! जैसे सम्यक् प्रदीप्त अग्नि काष्ठ को
जला कर भस्म कर देती है ऐसे ही ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है अर्थात्
सञ्चित तथा क्रियमाण कर्मों को निर्बीज कर देती है" जैसे भुना हुआ दाना अङ्कुरित नहीं
होता वैसे ही यह कर्म भी फल नहीं देते। (गीता ४,३७) इस प्रकार क्योंकि ज्ञान कर्म
का नाशक है इसलिए कर्मविद्या का अंग नहीं हो सकता। यही भाव ब्रह्मसूत्र (३,४,१६) में
भी पाया जाता है। ज्ञानी कर्म न भी करे तो उसे कोई प्रत्यवाय की प्राप्ति नहीं होती (गीता
२,४०) (बृहदारण्यक ४,४,२३), (छां० ४,१४,३)

१३. ब्रह्मविद्या में संन्यासी का ही अधिकार है

ऊर्ध्वरेता अर्थात् संन्यासियों के लिए ही ब्रह्मविद्या का विधान है ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि। ब्र० सू० ३,४, २६ तथा अनभिभवं च दर्शयति ब्र० सू० ३,४,३५। ब्रह्मविद्या का गीतोक्त "तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी" होने का साधन भी भली प्रकार संन्यासियों से ही बन पाता है। धर्म के तीन स्कन्ध हैं। यज्ञ, अध्ययन, दानरूपी गृहस्थ प्रथम स्कन्ध है। तपस्वरूप वानप्रस्थ (अथवा संन्यास) दूसरा स्कन्ध है। आचार्यकुल में जीवनपर्यन्त रहने वाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी तीसरा स्कन्ध है। ये तीनों पुण्यलोक को प्राप्त होते हैं। परन्तु निरन्तर ब्रह्मविचार में रत रहने वाला ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी अमृतपद को प्राप्त होता है। अर्थात् अन्य तीनों आश्रमों के केवल पुण्यकर्म के प्रभाव से अमृतलोक की प्राप्ति नहीं

होती, उनका फल नाशवान् है। पुनरावृत्ति से रहित अमृतपद तो ब्रह्म में ही अनन्यस्थिति तथा प्रेम से होता है (छान्दोग्य २,२३,१)। न कर्म से, न प्रजा से और न धन से ही अपितु इनके त्याग से ही कई अमृतपद को प्राप्त हुए हैं। (कैवल्य ३,३) जिस दिन वैराग्य हो जाए उसी दिन संन्यास ग्रहण करे। कर्मत्यागरूप संन्यास ब्रह्मविद्या में उपयोगी है। (ब्र० सू० ४, २२)। नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों के अनुष्ठान से होने वाले विक्षेप, श्रवणादि के प्रतिबन्धक हैं, अतः उनका त्याग सहायक है। (ब्र० सू० ३,४,२१ तथा गीता ६,३) *

१४. "संन्यासी का ही ब्रह्मविद्या में अधिकार है" इस पर आक्षेप तथा उत्तर

१. ईशोपनिषद् २. जीवनपर्यन्त कर्मविधान

यहां पर यह आक्षेप होता है कि उपनिषदों में अनेक ऐसे वचन आते हैं जो कर्म तथा विद्या का समुच्चय, जीवनपर्यन्त कर्म का विधान तथा कर्म का विद्या में उपयोग—इनका प्रतिपादन करते हैं। उनकी क्या संगति होगी ? ईशोपनिषद् के दूसरे मन्त्र में आया है:— "हे मनुष्य तू सौ वर्षपर्यन्त अर्थात् जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र, दानादि कर्म करता रह; इस प्रकार तुझे कर्म लिप्त नहीं करते। इससे भिन्न कोई दूसरा मार्ग तेरे लिए नहीं। ब्रह्मसूत्र (३,४,७) में भी इसी पूर्वपक्ष का वर्णन है और (१३,१४,१५) में इस आक्षेप का उत्तर है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४,२२,२३) (गीता ४,३३) आदि में त्याग का विधान है। इसलिए ये उपर्युक्त वाक्य अज्ञानीविषयक हैं। यदि ईशोपनिषद् के उपरोक्त वाक्य ज्ञानीपरक माने जायें तो इन में विद्या का माहात्म्य वर्णित है कि ज्ञानी कर्म से लिप्त नहीं होता। यह मन्त्र कर्म की आवश्यकता के विधान के लिए नहीं है कि ज्ञान के अनन्तर यदि कर्म न किया जाए तो मोक्ष का कुछ प्रतिबन्धक उत्पन्न हो जाता है।

दृढ़ वैराग्य होने पर ही संन्यास का अधिकार है इसके लिए अन्य आयु आदि का नियम नहीं है। अतः वैराग्य का अभाव होने के कारण यदि कोई मनुष्य संन्यास के लिए अशक्त है, अनधिकारी है तो उसका गृहस्थाश्रम में रहना अनिवार्य है। शास्त्र का विधान है कि क्षण भर के लिए अनाश्रमी न रहे अर्थात् अपने अधिकार के अनुसार मनुष्य को किसी न किसी आश्रम में अवश्य रहना चाहिए और उस आश्रम के लिए शास्त्रप्रतिपादित धर्म का पालन करते रहना चाहिए। अन्यथा कर्म तथा ब्रह्म उभयमार्ग से भ्रष्ट हो जाएगा। और शास्त्र ऐसे उभयतोभ्रष्ट व्यक्ति के अन्त्यज के समान त्याग का विधान करता है। अथवा ये वचन भी विधिरहित कर्मत्याग की निन्दा द्वारा विधिपूर्वक त्याग (संन्यास) का ही विधान करते हैं। ब्रह्मविद्यारूप उपनिषद् में उपर्युक्त वैराग्य उपरति आदि के बिना किसी का अधिकार नहीं है। परन्तु कई लोग मिथ्या नाममात्र के जिज्ञासाभासमात्र से कुतूहलवश गृहस्थ में ही उपनिषद् का श्रवण-मनन आरंभ कर देते हैं और उसमें कर्म-निन्दा को देख कर, उसके वास्तविक रहस्य को न समझ कर जिसके समझने की साधन-चतुष्टय के अभाव के कारण उनमें योग्यता नहीं होती,

* स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ ब्र० सू० ३,४,२१

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ गीता ६,३

कर्म का त्याग कर देते हैं। ऐसे ही कई वेदान्त के शिक्षक भी अपने गृहस्थी शिष्यों को कर्मत्यागमात्र का उपदेश देते हैं और उपनिषद् आदि मनन करने वाला गृहस्थी यदि यज्ञादि कर्म करता है तो उसकी निन्दा करते हैं। ऐसा करने वाले बहुत भूल करते हैं। क्योंकि यदि वैदिक कर्मों का ब्रह्म-विद्या में कुछ उपयोग नहीं तो लौकिक कर्म सन्तानोत्पत्ति, पालन, शिक्षा, धनोपार्जन आदि का भी तो उस में कुछ उपयोग नहीं है। वैदिक कर्मों का निष्कामभाव से अनुष्ठान तो चित्त-शुद्धि आदि का साधन भी है। और ये लौकिक वाणिज्यादि कर्म कामप्रयुक्त होने से केवल विक्षेपकारक और प्रबल प्रतिबन्ध रूप ही हैं, अतः इनका त्याग अत्यावश्यक है। यदि धन, प्रजा आदि इहलौकिक पदार्थों में राग तथा कर्तव्य भासता है, तो उस राग की पूर्ति के लिए शास्त्रोक्त वर्णाश्रमोचित धर्म भी कर्तव्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में किया गया त्याग परमार्थदृष्टि-जन्य नहीं; प्रत्युत प्राकृतजन-दृष्टि अनुसारी है। जो लौकिक पदार्थों का भोग तो करता है, परन्तु उनके लिए शास्त्रोक्त नियमों का पालन नहीं करता, यह शास्त्र से बाह्यदृष्टि है। गृहस्थोचित नियतकर्म का मोह से किया गया त्याग तामसिक है (गीता १८,६)। तथा शरीर के क्लेश के भय से किया गया त्याग राजसिक होता है (गीता १८,७)। अतः इस प्रकार के त्याग का कुछ फल नहीं होता। कई चतुर बुद्धि वाले मनुष्य इस प्रकार कहते हैं कि "हमारा धनोपार्जन आदि कर्म तो संन्यासी के शरीर निर्वाह के लिए की जाने वाली भिक्षा के समान है; इसलिए अन्य आश्रमोचित वैदिककर्मों के त्याग में कोई दोष नहीं;" परन्तु यह आत्मवञ्चनामात्र है, इसका लाभ कुछ नहीं। इस प्रकार का कथन अपने स्वच्छन्द व्यवहार के समर्थन में शास्त्रवाक्यों का दुरुपयोग करना मात्र है। भिक्षा के बिना न तो शरीर का निर्वाह हो सकता है और न श्रवण मनन आदि आत्म-लोक प्राप्ति के साधन ही हो सकते हैं। परन्तु वित्त, प्रजा आदि के बिना तो शरीरनिर्वाह भी नहीं हो सकता है। उपर्युक्त बृहदारण्यक उपनिषद् (४,४,२२) आदि में आत्मलोक की प्राप्ति के लिए वित्त, प्रजा आदि के त्याग तथा भिक्षा (संन्यासी के लिए) का विधान है। इसलिए इस प्रकार से शास्त्रों के वाक्यों का अर्धजरती-न्यायानुसारी अर्थ उपर्युक्त नहीं है। उपरति के वैदिक कर्म के त्याग-भाग को स्वीकार करना परन्तु लौकिक कर्मत्याग भाग को स्वीकार न करना तथा गृहस्थ के धन, प्रजा संबन्धी व्यवहार को तो ग्रहण करना और गृहस्थोचित विहितधर्म वैदिक यज्ञ, संध्या आदि का ग्रहण न करना यह तो प्राकृत नास्तिक जनों की दृष्टि है। यह दृष्टि तो शास्त्रोपदेश के बिना भी सब को प्राप्त ही है। और इससे प्राकृत जन-गति, निकृष्ट-तिर्यक्-कीट-पतंग आदि योनियों तथा नरक आदि की प्राप्ति ही हो सकती है। अनेक कामना-युक्त होने से श्रवणादि की अनधिकार चेष्टा बोधादि फल को उत्पन्न नहीं कर सकती। यदि किसी प्रकार किसी विरले गृहस्थी को वेदान्त श्रवणादि का अधिकार मान भी लिया जाए, तो उसको भी आश्रमोचित कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। यदि उसे जीवन-पर्यन्त भी किसी कारणवश गृहस्थ में ही रहना पड़े, तो भी वह कर्म का त्याग न कर, कर्म करता हुआ ही जीवन व्यतीत करे यही इस ईशोपनिषद् के मन्त्र का तात्पर्य है। ऐसे ही साधारण भक्तगृहस्थों को भी अवश्य वर्णाश्रममर्यादा का पालन करना चाहिए। (गीता १०) तथा अन्य इसी प्रकार के वचनों के आधार पर अनन्यभक्ति तथा नाममहिमा के वचनों से प्रेरित होकर यज्ञ, दान, तप का त्याग नहीं

करना चाहिए। यदि नाममात्र के महत्त्व में ऐसी अनन्य श्रद्धा हो तो तदुपयुक्त संन्यास आश्रम को ग्रहण कर लेना उचित है। ऐसी अनन्यश्रद्धा वाले के लिए कामोपभोग के निमित्त कर्म कहां रह जाते हैं। क्या जनकादि ने ऐसा ही व्यवहार किया था ? उन्होंने तो गृहस्थ में रहते हुए भी यज्ञ, दान, तप आदि का त्याग नहीं किया। इसलिए इस प्रकार की बातों से भोलेभाले सज्जनों में बुद्धि-भेद कर उन्हें उभयभ्रष्ट नहीं करना चाहिए। "अपना वर्णाश्रमोचित धर्म विशेष गुणरहित होने पर भी दूसरे के विशेष गुणयुक्त कर्म से भी श्रेष्ठ है।" गीता के इस वचन का ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि धर्म-अधर्म का निर्णय तो अधिकार के आधार पर ही किया जाना है; अधिकार से भिन्न व्यवहार ही तो शास्त्र की दृष्टि से पाप हो जाता है। इसलिए गृहस्थ में यज्ञादि कर्मों का त्याग तथा संन्यास में यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान पाप होता है। वर्णाश्रममर्यादा से रहित धर्म तो भयप्रद है, अवनति का हेतु है। इस अन्धपरम्परा का चक्कर इस कलियुग में धर्म के नाम पर चल रहा है।

१५. विद्या-अविद्या-समुच्चय का विधान तथा उसका उत्तर

ईशोपनिषद् में वर्णित है–"जो विद्या और अविद्या (कर्म) को एक साथ जानते हैं अर्थात् उनका आलम्बन करते हैं, वे अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।" यहां भी विद्या और अविद्या का समकालीन-समुच्चय अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि विद्या के साथ ही यदि यज्ञ, दानादि का अनुष्ठान मरणपर्यन्त अनिवार्य हो तो उपर्युक्त संन्यासाश्रम के विधायक वचनों का विघात हो जाता है। अर्थात् दो में से एक वाक्य का अप्रामाण्य हो जाएगा। इसलिए इस मन्त्र का वही उपर्युक्त अर्थ हो सकता है जिससे संन्यासाश्रम का ही खण्डन न हो जाय। इसी विचार की दृष्टि से गीता के उन वचनों का अर्थ करना चाहिए, जिन में संन्यास का खण्डन सा प्रतीत होता है (गीता ४,३–५;८;६,२०; १४,१६;२०; ६,१;२; १८,४;७;१०;११)। क्योंकि गीता का तात्पर्य कभी ऐसा नहीं हो सकता जो वेदशास्त्रविहित ब्रह्मविद्या के लिए संन्यास का अपलाप करता हो। इस विषय में गीता के (५,६;११; ६,३; ८,४;४५;६०) श्लोक विशेष उपयोगी हैं। "पारमार्थिक संन्यास योग के विना दुष्प्राप्य है। फल-निरपेक्ष ईश्वर-समर्पित, कर्मयोग से युक्त मुनि (ईश्वर के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करने वाला) शीघ्र ही ब्रह्मनिष्ठा (संन्यास) को प्राप्त होता है" (गीता ५,६)। इस प्रकार यहां पर योग के परमार्थलक्ष्योपयोगी संन्यास का उपाय रूप से वर्णन किया गया है; क्योंकि कर्म तथा कर्म-फलासक्ति से मलिनान्तःकरण वाले मनुष्य के लिए परमश्रेय की अभिलाषा (जिज्ञासा) ही असंभव है। इसलिए योगारूढ़ होने के लिए कर्म आवश्यक है तभी योगी ममत्वरहित होकर फलविषयक संग को त्याग कर काया, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों द्वारा केवल बुद्धि की शुद्धि के लिए कर्म करता है (गीता ५,११)। निष्काम भावना से अनुष्ठान किये हुए यज्ञ, दान, तथा तप विचारवानों को पवित्र करने वाले हैं (गीता १८,५)।

इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के अक्षयपद की महिमा के साधारण श्रवणमात्र से ही कोई संन्यासाधिकार को नहीं प्राप्त कर सकता। क्योंकि हर एक व्यक्ति संपूर्ण बाह्य-स्थूल लौकिक तथा वैदिक कर्मों को स्वरूपतः त्याग (संन्यास) करके निरन्तर श्रवण, मनन

आदि में संलग्न नहीं रह सकता। चिरकाल तक लौकिक तथा दिव्यफलभोगार्थ शास्त्र-विहित स्थूलकर्मों में संलग्न रहने के कारण जिस का चित्त विक्षिप्त है, वह एकान्त में निरन्तर सूक्ष्मतम आत्मतत्त्व के चिन्तन में मन को कैसे स्थिर कर सकता है। अतः उसके लिए कर्म का स्वरूपतः त्यागरूप संन्यास असंभव है। उसके लिए तो यही विधान श्रेष्ठ है कि वह उस स्थूल कर्म को ही सांसारिक फल के उद्देश्य से नहीं, प्रत्युत निष्काम भाव से, ईश्वर की पूजा के लिए, ईश्वरार्पण बुद्धि से करे। यही योगदर्शनोक्त नियमों के अन्तर्गत ईश्वरप्रणिधान है। इसका प्रयोजन वहीं पर इस प्रकार वर्णित है कि विक्षिप्त-चित्त जो राग-द्वेष आदि क्लेशों के कारण झट-पट समाधियोग में प्रवृत्त नहीं हो सकता ईश्वरप्रणिधान (कर्मयोग) आदि द्वारा उसके क्लेश तनु (सूक्ष्म) हो जाते हैं। इनका बल क्षीण हो जाता है; अतः समाधि की योग्यता प्राप्त हो जाती है। अर्थात् कर्मयोग का विधान संन्यास के अपलापार्थ नहीं, प्रत्युत कर्मयोग द्वारा चित्त की शुद्धि तथा सूक्ष्मतासम्पादन द्वारा परमार्थ-संन्यास (ब्रह्मनिष्ठा) प्राप्ति के लिए है।

गीता के विशद कर्मयोग के वर्णन का आधार बृहदारण्यकउपनिषद् (४,४,२२) आदि उपनिषद् शिक्षा ही है, जहां कर्मयोग, संन्यास तथा उनके सम्बन्ध का स्पष्ट निर्देश है। उस अजन्मा, सर्वान्तर्यामी, अविकारी (जिस पर सुकृत तथा दुष्कृत से कुछ अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता) परमात्मा की तीव्रजिज्ञासा (आत्मशुद्धि) के लिए यज्ञ, दान, तप (शरीर में रोग न उत्पन्न करने वाला सामान्य) गृहस्थोक्त (सकाम) कर्म का निष्कामभाव से आचरण करते हैं। अन्ततः इसी आत्मलोक की इच्छा से संन्यास (गृहस्थकर्मत्याग) धारण करते हैं।

१६. विद्या-अविद्या के समुच्चय का तात्पर्य निष्कामकर्म द्वारा आत्म-शुद्धि का सम्पादन

अब ईशोपनिषद् में आए हुए विद्या-अविद्या-समुच्चय-संबन्धी वर्णन का भाव स्पष्ट समझ में आसकता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष अविद्या (शास्त्रोक्त अग्नि-होमादि कर्म) के अनुष्ठान से मृत्यु (स्वाभाविक कर्म तथा उनके फल में मिलनेवाले नीच-लोक, तथा मलिन अन्तःकरण) को पार कर विद्या (शबल-ब्रह्मोपासना अथवा शुद्धज्ञान) की प्राप्ति करते हैं; वे देवलोक अथवा परमात्मरूपी अमृतत्व को लाभ करते हैं। परन्तु जो केवल कर्म को ही परमश्रेय मानते हुए आचरण करते हैं, उनका ऐसा व्यवहार, परम इष्ट-सम्बन्धी अज्ञानरूपी तम को नित्यप्रति बढ़ाता है। और जो लोग अविद्या (निष्काम कर्म) द्वारा चित्तशुद्धिसम्पादन किये बिना, अधिकारी न होते हुए भी ब्रह्मविद्या सम्बन्धी उपनिषदों में आए हुए अविद्या (कर्म) की निन्दा (कि इसका फल नाशवान् लोक प्राप्ति है) को श्रवण करके अपने अधिकारोचित वर्णाश्रमधर्मानुसार उचित-कर्म का त्याग कर देते हैं; और मलिन, विक्षिप्तचित्त होने से ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त कर नहीं सकते केवल ब्रह्मनिष्ठा का ढोंग करते हैं, इस प्रकार विद्या में ही वाचक तत्परता दिखाते हैं, वे उपनिषद्-प्रतिपादित तत्त्व के साक्षात्कार के लिए अनधिकार चेष्टा करते हैं। वे अविद्या (कर्मानुष्ठान) में रत मनुष्यों की अपेक्षा भी अधम गति को प्राप्त होते हैं; क्योंकि वे विद्या अथवा कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली दोनों गतियों से पतित हो जाते हैं, उभयभ्रष्ट हो जाते हैं। जो लोग केवल अविद्या में रत हैं वे कर्म से मिलने वाले लोकों को तो प्राप्त करते ही हैं।

१७. संन्यासाधिकार

इस विवेचन से हमें साररूप से यह शिक्षा प्राप्त होती है कि गृहस्थ में यज्ञ, दानादि के निष्काम आचरण द्वारा जबतक मनुष्य का चित्त शुद्ध न हो जावे, उसकी मलिन वासनाएं (अधर्म तथा भोग की प्रवृत्ति) नष्ट न हो जांय, और उसे दृढ़ वैराग्य न हो जाय, उसे मोह के वश होकर संन्यास ग्रहण नहीं करना चाहिए। संन्यास भीरु तथा निर्बल का काम नहीं है। जो लोग सांसारिक भोगों के योगक्षेम कर सकने में असमर्थ हैं, इससे ही भय खाते हैं, इस कार्य के लिए ही उचित श्रम नहीं कर सकते वे संन्यास के दुष्कर इन्द्रियविजय, तुल्यनिन्दास्तुति आदि कर्तव्यों का आचरण कैसे कर सकते हैं। इस आत्मलोक को बलहीन नहीं प्राप्त कर सकता (मुण्डक)। अनधिकारी के संन्यासग्रहण का परिणाम महान् अनिष्टकारक होता है। थोड़े ही समय में आतुर वैराग्यशिथिल हो जाता है और उसे दिन-रात गृह, स्त्री, बाल-बच्चों के स्वप्न आते हैं। जो साधारण भजनपाठ घर पर होता था, ऐसे विक्षिप्तचित्त से वह भी नहीं बन पाता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चित्त के शनैः शनैः निग्रह करने में ही अनुकूलता है। बलात् एकदम उसकी गति के रोकने से वासना अदम्य वेग को धारण करती है; उस वेग का सहन कर सकना साधारण मनुष्य का काम नहीं है। अतः वह अब शनैःशनैः घर लौटने के बहाने खोजता है, और आरूढपतित हो जाता है। जिसका कि शास्त्र में कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। अथवा वहीं पर एक प्रकार का गृहस्थ रचता है। एक महान् विशाल भवन बनाता है। दिन-रात शिष्य तथा भक्तरूपी प्रजा (सन्तान) की वृद्धि में संलग्न रहता है। ऐसे केवल कषायवस्त्रधारण करने रूपी संन्यास का ही गीता में खण्डन है। "जो निरग्नि है अर्थात् जिसने यज्ञ, अग्निहोत्र का केवल त्याग कर दिया है अथवा वेदोक्त अन्य क्रियाओं या वाणीप्रयोग का त्याग कर के अक्रिय होने का जिसने स्वांग रच लिया है, वह संन्यासी नहीं है (गीता ६,१)। कषाय आदि लिङ्ग ही धर्म का कारण नहीं है (मनु)। वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा का त्याग ही संन्यास है। (बृ० उ० ४,४,२२)

आजकल ईश्वरकोटि के कृत्रिम ब्रह्मज्ञानी बहुत दिखाई देते हैं। भोले भक्तों की वञ्चना करने के लिए वे जनक आदि को झट उदाहरणरूप में उपस्थित करते हैं, परन्तु ऐसा करते हुए वे यह भूल जाते हैं कि राजा जनक गृहस्थाश्रमी थे। जब इस प्रकार इसका कोई उत्तर नहीं बन पाता है तो तत्त्ववेत्ता सन्तों के शास्त्रोक्त दो प्रकार के विभाग को प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं और कहते हैं कि हम तो केवल ब्रह्मनिष्ठ नहीं ईश्वरकोटि के ब्रह्मज्ञानी हैं। परन्तु इस वञ्चना से महान् पतन होता है। वे इस प्रकार अपना अनिष्ट साधन करते हैं तथा ब्रह्मविद्या अथवा सच्चे महात्माओं में भी अश्रद्धा उत्पन्न करने का हेतु बनते हैं।

१८. उपसंहार

उपरति [कर्मत्यागरूपी संन्यास] का रहस्य दुर्गम होने के कारण इसका विवेचन कुछ अधिक होगया है। अतः अधिक विस्तार की अपेक्षा होते हुए भी यहीं समाप्त कर दिया जाता है। केवल पूर्वोक्त का संक्षेप कुछ पंक्तियों में नीचे दे दिया जाता

है। श्रेय तथा प्रेय, प्रकाश तथा अंधकार के समान एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। प्रेय के त्याग के विना श्रेय का ग्रहण असंभव है। मनुष्यलोक, पितृलोक तथा देवलोक सब प्रेय के अन्तर्गत हैं। ये सब लोक कर्मजन्य तथा नाश होने वाले हैं। एकरस, निर्विकार, सच्चिदानन्द तत्त्व ही परमश्रेयरूप है। चक्रवर्ती राजा, देवेन्द्र तथा ब्रह्मादि को मिलने वाला सुख भी इस आनन्द की तुलना नहीं कर सकता। यह अनादि, अनन्त, भूमा कर्म से न बढ़ता है और न घटता है अतः इस के लिए कर्म का कुछ उपयोग नहीं है, प्रत्युत कर्म विक्षेप का कारण होने से विरोधी है। अतः कर्म ब्रह्मविद्या के साधनों श्रवणादि के अनुष्ठान तथा ज्ञानी के जीवन्मुक्ति के आनन्द में प्रतिबंधक है। गृहस्थ, प्रजा आदि अनेक कामना-प्रधान है (याज्ञवल्क्य ४, ५)। अतः कर्मजन्य दिव्यभोगों के दोषों के निरन्तर मनन तथा निष्काम कर्म द्वारा जिस का चित्त दृढ वैराग्य को प्राप्त हुआ है, उसका संन्यास में ही अधिकार है, गृहस्थ में नहीं। कर्म से यहां सकाम अग्निहोत्रादि गृहस्थ-धर्म अभिप्रेत हैं। जाति, देश आदि के सामान्य लौकिक हितसाधना के जो कर्म हैं, वे सकाम की अपेक्षा प्रशंसनीय हैं। परन्तु संन्यास का विधान इसलिए नहीं है कि मानो संन्यासी इन कर्मों को करने के लिए ही बना है। औषधालय, अनाथ-विधवा आश्रम, पाठशाला तथा लौकिक व्यवस्था सम्बंधी संस्थाओं के कार्यों का सञ्चालन तो अन्य आश्रमों में भी हो ही सकता है। संन्यास का मुख्य उपयोग तो ब्रह्म-विद्या उपार्जन में है। यही परमश्रेय है। परोपकार की दृष्टि से भी, इस ब्रह्मविद्या का योग्य अधिकारियों को प्रदान करना परम परोपकार है। समयानुसार अन्य धर्म, आचारादि की शिक्षा देना आदि कर्म, तत्त्वज्ञानी को किसी प्रकार लिप्त नहीं कर सकते। परन्तु अपना तथा पराया परमहित ब्रह्मविद्या में ही है। जिन में इसकी योग्यता—दृढवैराग्य आदि—नहीं, वे गृहस्थ में आश्रमोचित कर्मों का निष्कामभाव से अनुष्ठान करते हुए, यथोचित संध्या-वंदन, भजन तथा गीतादि ग्रन्थों का स्वाध्याय करें, कर्म-खण्डन-प्रधान ग्रन्थों के पठन-पाठनमात्र से उभयभ्रष्ट होने का दारुण भय है। संन्यास धारण करके त्याग, तप का जीवन बिताते हुए श्रेय का ही संपादन करना श्रेयस्कर है। राजाओं के समान भोगसामग्री, शिष्य और भक्तोपार्जन करने मात्र द्वारा अपनी तथा दूसरों की वञ्चना नहीं करनी चाहिए। (श्रेयसाधन में अशक्त होते हुए) संन्यास तथा शास्त्रविद्या को केवल वित्त, मान, प्रतिष्ठा आदि एषणाओं की पूर्ति के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए। कर्मत्यागी गृहस्थी तथा वित्तादि-संग्रह-लोलुप संन्यासी दोनों शास्त्रविरुद्ध आचरण करने वालों की तीसरी गति को प्राप्त होंगे। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि गृहस्थाश्रमविषयक मनु के आशय को न समझ कर गृहस्थाश्रम को सर्वथा परम श्रेष्ठ मान कर, परम ब्रह्मनिष्ठा के लिए संन्यास की आवश्यकता का तिरस्कार करने तथा संन्यास को अशक्त वृद्धावस्था के लिए ही उपयुक्त समझने से सच्चिदानन्द परमात्मा की अनुपलब्धि होगी और उस से महान् विनाश के सिवाय और कुछ आशा नहीं हो सकती। (केन० २,५, बृ० ३,८,१०)

चौथा अध्याय समाप्त

पांचवां अध्याय

तितिक्षा

१. तितिक्षा का तात्पर्य तथा प्रयोजन

षट्-सम्पत्ति का चतुर्थ अंग तितिक्षा है। दम के द्वारा बाह्य-ज्ञानेन्द्रियों की विषय-लोलुपतारूपी विक्षेप का निवारण होता है। शम के द्वारा मन के संकल्प-विकल्परूपी (अन्तरतम सूक्ष्म आत्मतत्त्व के साक्षात् में) प्रतिबन्ध की निवृत्ति होती है। उपरति (विधिपूर्वक संन्यास) से गृहस्थ-धर्मविषयक शास्त्रोक्त अनेक बहु आयास, वित्तव्यय आदि साध्यकर्मरूप विक्षेप का अभाव होता है। शीतोष्ण, भूख-प्यास आदि शारीरिक तथा प्राणकोष के विक्षेप भी परमलक्ष्य की सिद्धि में महान् अनर्थ के हेतु हैं, अतः इनकी निवृत्ति के लिए तितिक्षा का विधान है। शीतोष्ण आदि द्वन्द्व मनुष्य के अपने अधिकारोचित श्रवण, मनन के लिए अपेक्षित जीवन की निरन्तरता में बाधा डालने वाले हैं; उन द्वन्द्वों की सहनशक्ति का नाम तितिक्षा है। इसके बिना श्रवण, मनन आदि की निरवच्छिन्न धारा का चलना असंभव होता है। यही संन्यासी का एकमात्र कर्त्तव्य है। तितिक्षा तप का ही दूसरा नाम है।

२. गीता तथा उपनिषदादि में तप की महिमा

योगदर्शन, गीता तथा उपनिषदादि शास्त्रों में तप की महिमा तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में अनेक वचन आते हैं (छां० २,२३,१; मु० उपनि० १,५; के० ४,८; प्रश्न १,१०, १२; तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली ३,२,६)।

वरुण ने अपने पुत्र भृगु को जो ब्रह्मसम्बन्धी उपदेश के लिए उनकी शरण में आया था उपदेश किया कि ब्रह्म ही सब भूतों तथा प्राणियों के उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश का कारण है। भृगु ने क्रमशः चार वार अन्नमय से लेकर विज्ञानमय कोष तक इन कोषों को ही ब्रह्मरूप में ग्रहण करने की भूल की। और वरुण ने चारों वार उसे पुनः तप द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा करने का उपदेश किया। भृगु ने तप किया (स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा व्यजानात्) तथा तप से उसने ब्रह्म को जाना—ये वचन इस प्रकरण में पांच वार आए हैं। इससे तप की अत्यन्त निकटतम साधकता सूचित की गई है। अन्य कई स्थलों (प्रश्न १, २; १०) पर आत्मान्वेषण में श्रद्धा, ब्रह्मचर्य तथा तपरूपी साधनों का तथा केवल तप का वार वार विद्या के साधनरूप से कथन है। संसार में भी देखा जाता है कि बिना उग्र तप के कोई लक्ष्य सिद्ध नहीं होता। तप सब स्थानों पर अनिवार्य होता है; तप से ही तो सच्ची जिज्ञासा की परीक्षा होती है।

३. तितिक्षा का ब्रह्मविद्या में उपयोग

शरीर के होते हुए सुख-दुःख का होना अनिवार्य है। गृहस्थी तथा धनियों को दुःख-विरोधी सब उपाय होते हुए भी, तथा सुख के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर भी, प्रारब्ध के प्रबल वेग से, रोगादि होते ही हैं। परन्तु जिस यति ने धन-जन का इस

दृष्टि से त्याग कर दिया है कि ये संग्रह, उपार्जन, रक्षा आदि विक्षेपों से युक्त हैं और इन विक्षेपों की निवृत्ति इनके त्याग से ही संभव है। तथा एकान्त जङ्गल में निर्विघ्न श्रवण आदि करने के लिए जिसने आसन जमाया है, उसके पास इन शीतोष्ण, सुख-दुःख आदि शरीर में अनिवार्य रूप से होने वाले द्वन्द्वों के प्रतिकार के लिए निश्चिन्त तितिक्षा के विना और उपाय ही क्या है ? मुमुक्षु के पास तितिक्षा के विना और कौन रक्षक है ? इस कवच को वज्र भी भेदन नहीं कर सकता। इसी को पहिन कर निर्भय भिक्षु महान् विघ्नों को तृण के समान जीत लेते हैं ? अन्यथा पथभ्रष्ट होने में क्या विलम्ब है ? तितिक्षा, प्रारब्ध तथा ईश्वरविश्वास से रहित मुमुक्षु की दशा का ही सन्त कबीर जी ने चित्र खींचा है:—

मन के मारे वन गया, वन तज बस्ती मांह।
कह कबीर क्या कीजिए, यह मन माने नांह॥

योग, स्वराज्य, लक्ष्मी, सुख, भोग आदि में रहने वाले विघ्नों के कारण इनकी सिद्धि तितिक्षा (सहनशक्ति) के विना नहीं हो सकती। इसके विना जिज्ञासु वृक्ष के पत्तों की तरह पग-पग पर पतित होता है। जो मुमुक्षु सामान्य शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि को सहन नहीं कर सकता, उसकी वृत्ति का शरीर की ओर ही सदा व्युत्थान होता रहता है, और इनकी निवृत्ति की चिन्ता में तथा उपाय में ही उसके समय तथा बल का अपव्यय हो जाता है। उसकी बुद्धि श्रवण-मनन आदि के सूक्ष्म विषय, आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकती। यदि उसको वाचक-ज्ञान का होना मान भी लिया जाए तो भी निदिध्या-सन तथा निष्ठा तो तितिक्षा के विना कदापि सिद्ध नहीं हो सकती। अतः मुमुक्षु यति को असंग, अकेला, स्वतंत्र रहकर तितिक्षा तथा त्याग से निर्वाह करना चाहिए। उसे सुख-जीवी (आराम तलब) नहीं होना चाहिए। संसार में दो दोष ही तो ऐसे हैं जो गृहस्थियों के लिए भी महान् अनर्थ, अनन्त चिन्ता तथा अधर्म का कारण हो रहे हैं—(१) विषय-भोगलालसा तथा (२) बैठे-बिठाये, दूसरों के परिश्रम के आधार पर, विना स्वयं परिश्रम किये जीवनयात्रा निर्वाह करने की मलिन पापमय इच्छा। इसी को वैभव और स्वतंत्रता माना जाता है। यदि यति भी इन्हीं दोषों में लम्पट हो जाय तो फिर वह इसके अनिवार्य फल अनन्तचिन्ता, आत्मपदभ्रष्टता से कैसे बच सकता है ? इसलिए श्रवण-मनन आदि उपायों के सम्पादन के लिए तितिक्षा परमावश्यक है।

निन्दा-स्तुति की चिन्ता भी परमलक्ष्य की सिद्धि में महान् दुर्जय प्रतिबन्धक है। इसको सहन करने की शक्ति के विना मनुष्य संसारी लम्पट मनुष्यों के संकेतमात्र पर बन्दर के समान नाचता है। क्रोध तथा द्वेष के कारण झगड़ों की दलदल में आमरण फंस जाता है और अध्यात्मलक्ष्य तथा मार्ग का सर्वथा त्याग कर देता है।

जो व्यक्ति शरीर के साधारण दुःखों को भी सहन नहीं कर सकता, अधीर हो जाता है, वह इन्द्रियों तथा मन के महाबलशाली वेग को कैसे सहन कर सकेगा ? जिन्हें सहन करना ही परमतप है। प्राणों का निरोध, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि परमतप धैर्य-तितिक्षा के विना नहीं हो सकते।

४. तप के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि तथा समाधि की योग्यता

ब्राह्मण मुमुक्षु के लिए तप तथा विद्या परम हितकारी हैं। तप से पाप तथा भोगवासनारूपी मल का नाश होता है। विद्या द्वारा अमृतरस का पान करता है (श्वेताश्वतर भूमिका); यज्ञ, दान तथा तप विवेकियों को पवित्र करने वाले हैं (गीता १८,५), निष्काम वेदाध्ययन, यज्ञ, दान तथा रोग उत्पन्न न करने वाले तप से अन्तःकरण की शुद्धि होने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है (बृ० उ० ४,४,२२)। तप-माहात्म्य तथा अन्य पापशुद्धि के उपायों के लिए देखो (मनु० ११,२३४–२४४)।

ऐसे शुद्ध अन्तःकरण वाला जिज्ञासु ही श्रवण का अधिकारी है। यह गीता शास्त्र जो तेरे लिए कहा गया है तपरहित को कभी नहीं कहना चाहिए (गीता १८,६७)। तपरहित को विद्या सफल नहीं होती (योगदर्शन २,१ व्यासभाष्य)। तपरहित को योग-सिद्धि नहीं होती। अनादि कर्म-क्लेश-जन्य वासनासमूह चित्रित तथा विषयजाल सम्प्रयुक्त अशुद्धि (जो रजो, तमो, मलयुक्त होने से योग का अन्तराय—विघ्न रूप है) तप के विना शिथिल नहीं होती। जैसे अशुद्ध मलिन वस्त्र को भट्टी में चढ़ा कर फिर शिला पर पीटने से वह शुद्ध होता है; इसी प्रकार तप आदि योग-क्रिया के अनुष्ठान से (अविद्या—अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) क्लेश तनु (सूक्ष्म) होते हैं, तथा शुद्ध चित्त समाधि के योग्य होता है क्योंकि सूक्ष्म हुए-हुए रागादि-क्लेश ध्येय विषय के अतिरिक्त अन्य कोई वृत्ति उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं (योगदर्शन २,२)

५. तप का स्वरूप

योगदर्शन (२,३२) के भाष्य में भगवान् व्यास ने तप का निरूपण किया है, तथा उसके फल का पुनः ४३वें सूत्र में प्रतिपादन किया है। तप के अनुष्ठान से अन्तःकरण की तमोरजोरूप अशुद्धि के आवरण के नाश से कायासिद्धि (अणिमादि) तथा इन्द्रिय-सिद्धि (दूर-श्रवणादि) उत्पन्न होती हैं। सिद्धियों का आत्मदर्शन में स्वरूपतः कुछ उपयोग नहीं, परन्तु ये अन्तःकरण की सूक्ष्मता तथा शुद्धता का एकलिंग मात्र हैं, जिसके विना गूढ, सूक्ष्म आत्मदर्शन नहीं हो सकता (कठ०)। इस प्रकार तप, तितिक्षा, द्वन्द्व सहने की शक्ति का अनेक प्रकार से ब्रह्मविद्या में अनिवार्य उपयोग है; अतः तितिक्षा को जिज्ञासा-अधिकार की आवश्यक सामग्री षट्-सम्पत्ति में उपयुक्त स्थान दिया गया है।

६. तप के स्वरूप तथा मर्यादा के विषय में विचार

परन्तु तप के शुद्ध स्वरूप तथा उचित मर्यादा का ज्ञान भी आवश्यक है, अन्यथा लाभ के स्थान में हानि होने की संभावना है।

तप के सम्बन्ध में ऐसी दृष्टि होनी चाहिए कि यह साधन मात्र है, इसे लक्ष्य ही नहीं बना लेना चाहिए। कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतों तथा काष्ठाकार मौन का भगवान् व्यास ने (योगदर्शन २,३२ के भाष्य में) उल्लेख किया है। मनु आदि अन्य ग्रन्थों में भी इनका विधान प्रायश्चित्तरूप से आता है। और योगदर्शन २,४३ के अनुसार तप के फल भी सिद्धि आदि अवश्य होते हैं; इन्हें शास्त्रविरुद्ध कहना भूल है। जब चित्त रजस् तथा तमोगुण प्रधान होने के कारण परम सात्त्विक साधन ओ३म् के जप और ध्यान में नहीं लगता

तब इस प्रकार के स्थूल, कठोर तप से मन का रजोगुण क्षीण हो जाता है, चञ्चलता का वेग कम हो जाता है, और ध्यान आदि सूक्ष्म साधना की योग्यता हो जाती है। परन्तु धनी लोग जैसे निन्यानवें के चक्कर में पड़े रहते हैं, इसी प्रकार साधक को भी आयुभर इन तप आदि के चक्कर में नहीं पड़ जाना चाहिए। योगदर्शन में कहा है कि ऐसे तप में विक्षिप्तचित्त का अधिकार है अतः विक्षेप की निवृत्ति के अनन्तर ऐसे तपों का अनुष्ठान उपयुक्त नहीं।

कायेन्द्रिय-सिद्धियां आत्मदर्शन में प्रतिबन्धक हैं, अतः इनको लक्ष्य में रखकर भी तपों के अनुष्ठान उपयुक्त नहीं हैं। ब्रह्मविद्या में तो इनका द्वन्द्व-सहिष्णुता में ही उपयोग है क्योंकि इस सहिष्णुता के अभाव में, जैसे ऊपर कहा गया है, श्रवण, मनन आदि साधनों का अनुष्ठान असम्भव है, अतः शुद्धचित्त वाले के लिए ऐसे उग्र पुरश्चरण करने की आवश्यकता नहीं। उसको सामान्य सहिष्णुता चाहिए। ऐसे उग्र पुरश्चरण आदि तप तो ध्यानरूपी योग तथा श्रवणादि साधनों में बाधक ही हैं। इनमें समय तथा शक्ति का व्यर्थ अपव्यय होता है। क्योंकि इनसे शरीर कृश तथा रोगी होता है अतः अन्तरंग साधनों के अनुष्ठान में भी ऐसे चान्द्रायण आदि अनुष्ठान प्रतिबन्धक हैं। इसीलिए विविदिषा-साधन रूप से जहां (बृ० ४,४,२२) तप का वर्णन है वहां "अनाशकेन तपसा" कहा है अर्थात् तप ऐसा उग्र न हो जो शरीर में धातु-वैषम्य करके उसका उच्छेद ही करदे। ऐसे उग्र तपों को गीता (१८,१९) में भी तामस अर्थात् त्याज्य कहा है। नियत समय और परिमाण आदि का ध्यान रखते हुए आहार-व्यवहार करने से, सब कार्यों में संयम पूर्वक रहने से और नियत उपयुक्त काल में निद्रा तथा जागरण से योग सब सांसारिक दुःखों के क्षय का हेतु बनता है अन्यथा सर्वनाश का (गीता ६,१७)। अतः आहार, वस्त्र, स्थान, एकान्तवास, मौन आदि को परमार्थ लक्ष्य की दृष्टि से (किसी भोगादि के विचार से नहीं) शरीर की उपयुक्त मात्रा में ग्रहण करना ही तप है।

यदि प्रारब्धवश उचित सामग्री न मिलती हो तथा अन्य रोगादि से पीडित हो तो चिन्तारहित होकर, चित्त-क्षोभ के विना प्रारब्ध तथा ईश्वर में विश्वास रख कर, ऐसे कष्ट को तप-भाव से सहना ही परमफल ब्रह्मलोक देने वाला तप है। (बृ० उ० ५,११,१)।

इन्द्रियदमन तथा मन की एकाग्रता ही ब्रह्मविद्या का उपयुक्त तप है, परन्तु सर्वोत्तम तप निन्दा-स्तुति में समभाव से वर्तना है (मनु २,१६२)। ब्राह्मण (यति) विष के समान सम्मान में कदापि प्रीति न करे, प्रत्युत घृणा करे और सर्वलोक में अपमान की अमृत के समान इच्छा करे, दूसरे के द्वारा किये गये अपने अपमान को क्षमा कर के खेद न करे, मानापमान सहिष्णुता का यही विधान है।

स्तुति यति के लिए मृत्यु के समान है। सर्वसाधारण बाह्य उग्रतप को महत्त्वपूर्ण समझते हैं। अतः ऐसा तप अधिक प्रतिष्ठा का कारण बन जाता है, इसलिए ऐसा बाह्य उग्रतप न करना ही श्रेयस्कर है। जब इस प्रकार के तप करने वाले की प्रतिष्ठा होती है तब जनता हर समय वहां एकत्र होने लगती है, हर समय वहां मेला सा लगा रहता है, अपना साधन सब भंग हो जाता है, ब्रह्मनिष्ठता तथा जीवनमुक्ति असंभव हो जाती है।

इसलिए गंगा आदि नदियों में बहुत देर तक खड़े रहना अथवा धूप में खड़े रहना, तथा अत्यन्त नग्न रहना आदि व्यवहार परम श्रेय में उपर्युक्त कारण से भी सामान्यतः बाधक हो जाते हैं। अतः साधारण वृत्ति से रहना ही उचित है, यथासंभव वस्त्रादि की आवश्यकताएं कम रखे। गीता (१७,१४–१६) में तप के (क) १ कायिक, २ वाचिक, ३ मानसिक, तथा (ख) १ सात्त्विक, २ राजस, ३ तामस भेदों का वर्णन भी विचारणीय है:—

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥" गीता १७,१४–१६

"देव, द्विज, गुरु तथा विद्वान् जनों की सेवा और शौच (स्वच्छता), सरलता ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा का पालन—ये सब शारीरिक तप कहलाते हैं। अपनी वाणी द्वारा दूसरे को उद्वेग उत्पन्न न करने वाले, सत्य, प्रिय तथा हितकारी वाक्यों का उच्चारण करना शास्त्र-सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय तथा अभ्यास यह वाणी का तप है। मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन, आत्मनिग्रह, भावों की शुद्धि ये सब मानस-तप कहे जाते हैं।"

"श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥" (गीता १७,१७–१९)

"उपर्युक्त शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक तीनों प्रकार के तपों का जब फलाशा से रहित युक्त (संयमी) पुरुषों द्वारा परमश्रद्धापूर्वक सम्पादन किया जाता है तब वह तप सात्त्विक होता है। और अपने सत्कार, मान, पूजा की भावना से दम्भपूर्वक किये गये तप को जिसका फल चञ्चल तथा नाशवान् होता है, राजस कहते हैं। मूढता का ही जिसमें आग्रह है और क्लेश-पूर्वक जो तप किया जाय या जो दूसरों को दुःख देने के लिए ही किया जाता है वह तामस-तप कहलाता है। अतः शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वों की सहनशीलतारूपी मर्यादित, विचारयुक्त तितिक्षा ब्रह्मविद्या के साधन श्रवणादि के सम्पादन के लिए अनिवार्य है। इससे शरीर तथा प्राणों के विक्षेप, शीतोष्णस्पर्श तथा क्षुधा-पिपासा की भी निवृत्ति होती है।

पांचवां अध्याय समाप्त



छठा अध्याय

श्रद्धा

१. श्रद्धा का महत्त्व

षट्-सम्पत्ति का पांचवां अंग श्रद्धा है। अवाङ्मनसगोचर अखण्ड परमात्मा में अचल श्रद्धा के विना, इतनी महान् तथा आयाससाध्य उपर्युक्त शम-दम आदि सामग्री का सम्पादन असम्भव है। श्रद्धा ही साधन में प्रवृत्ति का मूल कारण है। इसी बात को बताने के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् (४,४,२३) में षट्-सम्पत्ति के पांचवें अंग का यद्यपि शब्दतः स्पष्ट उल्लेख नहीं, तथापि उस वाक्य में 'एवंवित्' शब्द का तात्पर्य श्रद्धा ही है। एवंवित् अर्थात् परमात्मा को एकरस, निर्विकारी, कर्म से अप्रभावित, अमृतस्वरूप जान कर (दृढ निश्चय तथा श्रद्धायुक्त हो) शम-दम आदि सम्पन्न होने के अनन्तर आत्मा का आत्मा में साक्षात्कार करे। दृढ आशा तथा श्रद्धा से युक्त ही ऐसा प्रयत्न कर सकता है। श्रद्धा ही वह परम बल है जिसके आधार पर दुर्जय शत्रुओं अर्थात् मलिन वासनाओं तथा अन्य प्रतिवन्धों का दमन करते हुए आत्मसाक्षात्‌रूप फल प्राप्ति तक अनन्त धैर्य के साथ, साधक निरन्तर साधनों में संलग्न रह सकता है। श्रद्धा ही वह सूत्र है जिसके आधार पर शम-दम आदि सब साधन सुव्यवस्थित रहते हैं, अन्यथा बिखर जाते हैं। श्रद्धा ही जिज्ञासु की माता के तुल्य रक्षा करती है। इसी परम श्रद्धा के आधार पर इन्द्र ने एक सौ एक वर्ष तक तप किया।

२. श्रद्धासाधनविषयक शास्त्रवचन

"सम्यक् ज्ञान के लिए, ऐसे शास्त्र तथा गुरु द्वारा, जो शुष्क तार्किक नहीं है, कही हुई यह बुद्धि (श्रद्धा) जिसको तुम ने प्राप्त किया है तर्क द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है। तू बड़ा ही सत्यधारणा वाला है। हे नचिकेता! तेरे समान प्रश्न करने वाला योग्य अधिकारी मिलना चाहिए। (कठ०) यह सत्यधारणा ही श्रद्धा है। पुरुष तो श्रद्धामय ही है (गीता १७,३)। श्रद्धाशून्य कोई नहीं है। परन्तु असत्य में तामसिक तथा राजसिक श्रद्धा से क्या लाभ। (कठ० २,६। ६,१२;१३)। वह आत्मा न तो वाणी से, न मन से, न नेत्र से ही प्राप्त होता है। ऐसे स्थिर मति (श्रद्धा) वाले से भिन्न, आगम आदि में श्रद्धारहित नास्तिक को उस रूपादि से रहित परमात्मतत्त्व की उपलब्धि कैसे हो सकती है। आत्मा की उपलब्धि नीचे लिखे दो रूपों में होनी चाहिए (१) "वह है" ऐसे श्रद्धारूप से तथा (२) तत्त्व भाव—साक्षात्कार, हस्तामलकवत् प्रत्यक्षरूप। इन दोनों प्रकार की उपलब्धियों में से जिसे "है" इस प्रकार की उपलब्धि है अर्थात् आत्मा के अस्तित्व में जिसकी परम श्रद्धा है उसीको उस आत्मा के स्वरूप का प्रकाश होता है (कठ० ६,१२;१३)

३. गुरु तथा ईश्वर में अनन्य-श्रद्धा तथा वर्तमान समाज को चेतावनी

श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्त में उपनिषद्-शिक्षा के अधिकार का वर्णन करते हुए शिष्य की चेतावनी के लिए बहुत सुन्दर शब्दों में वर्णन आया है। जिस जिज्ञासु की देव (परमात्मा) में परा भक्ति (अनन्य-श्रद्धा) है, ईश्वर प्राप्ति ही जिसका एक मात्र ध्येय है,

जिसके विना वह अपने जीवन को निस्सार समझता है, संसार के किसी पदार्थ, यहां तक कि देवेन्द्रत्व आदि में भी जिसे कुछ भी प्रेम नहीं, तथा जिसे परमात्मा में अखण्ड शिला के समान अखण्ड श्रद्धा है और ऐसे ही गुरु में भी अर्थात् गुरु और ईश्वर के वाक्यों में समान श्रद्धा है उनको ही परम प्रमाण मानता है। उसको ही उपनिषद्-वर्णित अर्थ (तत्त्व) का प्रकाश हो सकता है, अन्य को नहीं। इन वाक्यों द्वारा ऋषि ने बहुत गम्भीर अर्थ का निरूपण किया है। आजकल की उच्छृङ्खल कोरे तर्क की अभिमानिनी बुद्धि इसके महत्त्व को नहीं समझ सकती। परमतत्त्व मन तथा वाणी का विषय नहीं है, रूप-रस आदि रहित है, जो लोग बाह्य इन्द्रियों को ही इसकी उपलब्धि का द्वार और परम प्रमाण मानते हैं, वे इसे क्या समझेंगे? क्योंकि यह सूक्ष्मतम तथा अन्तरतम तत्त्व है, इसलिए इसके याथातथ्य-बोध के लिए अत्यन्त सूक्ष्म, निर्मल बुद्धि की अपेक्षा है। ऐसी बुद्धि का सम्पादन शास्त्र तथा गुरु द्वारा उपदिष्ट साधन के परमश्रद्धापूर्वक दीर्घकालीन अनुष्ठान से ही हो सकता है। यदि शिष्य अपनी स्थूलबुद्धि द्वारा गृहीत तत्त्व को ही सत्य मानता है तो शास्त्र और गुरुवचन तो खण्डित हुआ ही पड़ा है। क्योंकि यदि शिष्य तथा गुरु की बुद्धि को किसी स्थूल लौकिक विषय में समान ही समझा जाय तो गुरुशिष्यभाव की आवश्यकता ही क्या है? गुरु की बुद्धि को प्रमाण मान कर ही शिष्य गुरु की बुद्धि द्वारा गृहीत तत्त्व (तथ्य) को अपनी बुद्धि द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा करता है। यदि किसी प्रश्न का उत्तर उसकी बुद्धि को नहीं जंचता या उसकी बुद्धि ऐसा परिणाम निकालती है जो गुरु (अध्यापक) अथवा पाठ्यपुस्तक द्वारा निर्णीत परिणाम से भिन्न होता है तो वह पुस्तक या अध्यापक को ही भ्रान्त नहीं मान लेता, अपितु पुनः-पुनः विचार करता है और तब तक अपनी बुद्धि को ही भ्रान्त मानता है जब तक कि वह गुरु द्वारा उपदिष्ट तथ्य का याथातथ्य ग्रहण नहीं कर लेती, क्योंकि गुरु और पाठ्यपुस्तक प्रमाण हैं। शिष्य की बुद्धि पाठ्यपुस्तकानुसारी नहीं तो वह भ्रान्त सिद्ध होती है। धैर्य से विचारते रहने का ही यह परिणाम होता है कि शिष्य अन्त में उस तथ्य को समझ लेता है और कुछ काल के पश्चात् विद्वान् पण्डित बन जाता है। यदि शिष्य गुरु और पुस्तक को ही भ्रान्त कहकर उपराम हो जाय तो उसकी क्या गति होगी। यदि स्थूल विषय में ऐसी दृढ धारणा (श्रद्धा) की आवश्यकता होती है, तो सूक्ष्मतम आत्मविषयक उपनिषद् तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के वाक्यों में कितनी महती श्रद्धा की अपेक्षा है। यदि गूढ, सूक्ष्म, तत्त्व का अपनी बुद्धि से ही निर्णय करना चाहे तो उसके सामान्य अस्तित्व का निर्धारण करना असम्भव है, उसके वास्तविक स्वरूप तथा साक्षात्कार का तो कहना ही क्या है? अतः इन्द्र के समान गुरु के इष्टदेव-विषयक उपदेश में अनन्यश्रद्धायुक्त होकर अन्वेषण करते रहने पर ही शास्त्र तथा गुरु-वाक्य का गूढ रहस्य हृदयङ्गम कर, शोक-मोह से छुटकारा पा, परम अमृत का भागी बनता है, अन्यथा विरोचन के समान शरीर का पुजारी होकर जन्म-मरण के चक्कर में ही पड़ा रहना होगा।

४. योगदर्शन में वर्णित स्वरूपस्थिति के लिए श्रद्धा का उपयोग

योगदर्शन (१,२०), गीता (१८,६७;४,३९;४०;१७,२८) और प्रश्न (१,२;१०) श्रद्धा के महत्त्व तथा उपयोगिता का ही निरूपण करते हैं। पतञ्जलि ऋषि स्वरूपस्थिति के

लिए उपादेय असंप्रज्ञात समाधि के उपायों में प्रथम स्थान श्रद्धा को देते हैं, क्योंकि श्रद्धा ही क्रमानुसार शेष सब उपायों की माता है। श्रद्धा (ईश्वर, वेद, गुरु तथा गुरु-उपदेश में परम विश्वास) कल्याणकारिणी जननी के समान योगी की रक्षा करती है। सत्यासत्य-विवेक युक्त सात्त्विक श्रद्धालु को ही श्रेयसिद्धि के लिए उत्साह होता है। यह श्रद्धा ही जिज्ञासु के सब प्रमादों को दग्ध कर देती है और वीर्य, उत्साह, बल, सामर्थ्य देती है तथा स्मृति-समनस्कता (अपने ध्येय, तत्साधन, उपार्जित-शुद्ध-संस्कार, भावना तथा सत्यासत्य-विवेक को कदापि न भूलना) स्थिर होती है, स्मृति के अविचल होने पर चित्त चञ्चलता को त्याग कर सम्प्रज्ञात समाधि को लाभ करता है। समाधि से ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। जिससे आत्म-अनात्म के भेद को यथावत् जाना जाता है। इस विवेकख्याति के दृढ अभ्यास से परवैराग्य होता है, जिससे असम्प्रज्ञात समाधि लब्ध होती है। तब परमात्मा में स्थिति होती है। अर्थात् अनेक जन्मों के पुण्यों के प्रताप से परमात्मा तथा गुरु में ऐसी अनन्यश्रद्धा उत्पन्न होती है, जिसके बल से सब अन्तरायों को भस्मसात् करता हुआ परमध्येय को प्राप्त हो जाता है (योगदर्शन १,२०)। श्रद्धा के तीन भेद गीता में इस प्रकार वर्णित हैं:—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ गी० १७,२
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ गी० १७,३
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ गी० १७,४

"देहधारियों (मनुष्यों) की वह स्वाभाविक श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, सात्त्विकी, राजसी और तामसी—उनका वर्णन अब सुनो। हे भारत! प्रत्येक पुरुष की यह श्रद्धा अपने सत्त्व (बुद्धिगत संस्कार) के अनुकूल ही होती है, जैसी किसी की श्रद्धा होती है वह मनुष्य वैसा ही होता है। सात्त्विक संस्कार तथा श्रद्धा वाला मनुष्य देवताओं की, राजसिक यक्ष राक्षसों की तथा तामसिक भूत प्रेतों की पूजा करता है।"

ब्रह्मविद्योपयोगी श्रद्धा का स्वरूप तथा माहात्म्य श्वेताश्वतर (६,२३) में सम्यक् प्रकार से निरूपित हो चुका है। ईश्वर तथा गुरु के वाक्यों में समान भाव से अनन्यश्रद्धा का ही यहां उपयोग है। इसका स्वरूप इस प्रकार है कि ईश्वर ही परम इष्ट तथा परम गति है। संसार के अन्य संपूर्ण पदार्थ, तीन लोक, निष्काम-सेवा, परोपकार तथा ज्ञानादि का उपर्युक्त परमध्येय की प्राप्ति में सहकारी रूप से ही यत्किञ्चित् महत्त्व है। ये स्वतंत्र रूप से नितान्त निस्सार तथा मृतक के तुल्य अस्पृश्य हैं। यह सच्चिदानन्दघन परमात्मा त्रिविध दुःखों की एकमात्र अमोघ औषध और परमरस की खान है। मेरा परम-हितैषी, सगा, सम्बन्धी, अमूल्य साधन तथा गुरु वही है, जो मुझे उस परमानन्द के धाम में प्रवेश करने में सहायक हो। वही सच्चा पारमार्थिक मेरा उपकारक है, जो यत्किञ्चित् भी

मेरा इसमें सहायक हो, जो मन, वचन और कर्म से मेरे उत्साह आदि को बढ़ाने वाला हो, जो सब अनात्मपदार्थों से काकविष्ठा के समान ग्लानि को तथा परमात्मा में एकमात्र परमसत्यमय श्रद्धा को उत्पन्न करे। परमध्येय के विरोधी संसार के आपातरमणीय धन, जन, राज्य, वैभव आदि का दाता मेरा उपकारक नहीं है, प्रत्युत इन महान् अनर्थों के हेतु विघ्नरूप, तीक्ष्ण कण्टकों को मेरे प्रियतम के मार्ग से शुद्ध साफ कर देने वाला ही मेरा परमहितैषी है। जो मुझे सन्मार्ग में डालकर, अनादि काल से इन अनात्मपदार्थों के घोर, विकट, तथा मृत्युप्रद वन में भ्रान्त मुग्ध पथिक को परम सच्चिदानन्दधामरूपी अपने घर में पहुंचा दे। मुझे भी किसी को इन धन, वैभव आदि भोगपदार्थों के प्रदान में यत्किञ्चित् भी उसका उपकार न दीखे, इसमें मनुष्य के लिए महान् अनिष्ट ही मुझे दीखे तथा श्रेय-मार्ग में किसी की यत्किञ्चित् सहायता करना ही उसका सच्चा उपकार दीखे। श्रेय ही अपने लिए तथा दूसरे के लिए मेरा परमध्येय हो अर्थात प्रेय में अत्यन्त अरुचि, ग्लानि, अश्रद्धा तथा श्रेय (सच्चिदानन्द परमात्मा) में अनन्यश्रद्धा ही ब्रह्मविद्योपयोगी श्रद्धा है उसके अतिरिक्त शास्त्रोपदिष्ट अनित्यसाधन तथा साधन में श्रद्धा परमार्थ-पथ में अश्रद्धा ही है।

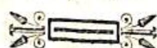
५. श्रद्धा तथा अश्रद्धा के चिह्न

परमात्मा में श्रद्धा तथा अश्रद्धा के चिह्नों का योगदर्शन (४,२५) के व्यासभाष्य में इस प्रकार वर्णन है। "जैसे श्रावण आदि अनुकूल ऋतु में तृणाङ्कुर को देखने से उसके बीज की सत्ता का अनुमान होता है, ऐसे ही मोक्षमार्ग के श्रवण से जिसके रोमहर्ष तथा अश्रुपात आदि दीखते हैं तो यह अनुमान होता है कि पूर्वजन्मकृत श्रवण आदि द्वारा सुसंस्कृत इस जिज्ञासु का चित्त मोक्ष का भागी है अर्थात् यह परमात्मा का साक्षात्कार करेगा तथा सर्वबन्धन-विनिर्मुक्त होकर परम अमृतपद को प्राप्त होगा। उसकी परमात्मा में स्वाभाविक रुचि तथा श्रद्धा होती है। परन्तु पूर्वजन्मकृत श्रवण-मनन के संस्कारों से शून्य मनुष्य कहता है कि "यही लोक है, परलोक कोई नहीं, कौन देखकर आया है। ऐसा वाङ्मनसागोचर तत्त्व कल्पनामात्र है। ऐसा परमात्मा हो भी तो इससे हमें क्या लाभ? जिसमें बुद्धि की भी गति नहीं। वाणी, मन और बुद्धि से अगोचर ऐसे तत्त्व का निरूपण ही निराधार है।" इस प्रकार उसकी पूर्वपक्ष में रुचि तथा सिद्धान्त में अरुचि होती है, यही अश्रद्धा है।

६. श्रद्धा की दृढ़ता तथा सफलता के लिए महापुरुषों का संग

यदि किसी के मन में यत्किञ्चित् श्रद्धा हो तो उसकी दृढ़ता तथा सफलता के लिए ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों की संगति करनी चाहिए, इसके लिए यही एक सरल तथा निर्णीत उपाय है। उनकी एकदृष्टि, एकवचन, यत्किञ्चित सेवा मन के अश्रद्धारूपी मल को क्षण-मात्र में हर लेती है। जैसे, स्वामी विवेकानन्द को श्रीरामकृष्ण परमहंस के दर्शन से हुआ।

छठा अध्याय समाप्त



सातवां अध्याय

समाधान

१. समाधान का अर्थ तथा उसका शमादि से सम्बन्ध

समाधान षट्-सम्पत्ति का छठा अङ्ग है। आत्म-साक्षात्कार के लिए श्रवणादि साधनों के अनुष्ठान के विरोधी भावों के निवारण के लिए नीचे लिखे अङ्गों का वर्णन हुआ है।

१. बाह्य-ज्ञानेन्द्रियों की विषयाभिमुख-प्रवृत्तिरूपी विक्षेप के निरोध के लिए—दम।

२. मन के अनात्म-संकल्पविकल्परूपी विक्षेप के निरोध के लिए—शम।

३. कर्मेन्द्रियों के लौकिक तथा वैदिककर्मरूपी विक्षेप के निरोध के लिए—उपरति।

४. शरीर, प्राण तथा मन के शीतोष्ण, भूख-प्यास, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वरूपी विक्षेप की निवृत्ति के लिए—तितिक्षा।

५. सर्वप्रमादमूल तमः-प्रधान अश्रद्धारूपी परमबाधक की निवृत्ति के लिए सर्व-पुरुषार्थ-साधन की जननी ईश्वर और गुरु में अनन्य-भक्तिरूपी—श्रद्धा।

६. बुद्धि की रजस्तथा तमो गुणों के कारण अनात्म पदार्थों में स्वाभाविक चञ्चल प्रवृत्ति के निरोध के लिए समाधान का विधान किया जाता है। आत्म-साक्षात्कार के श्रवणादि साधनों के विरोधी कषाय, विक्षेप, निद्रा आदि के निरोध हो जाने पर चित्त का ध्येय वस्तु में सम्यक् प्रकार से आधान-अवस्थान अर्थात् टिक जाना-समाधान कहलाता है।

२. बुद्धि का कार्य तथा महत्त्व

कठोपनिषद् (३,३,४) में वर्णन आता है—"तू आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़े, विषयों को मार्ग तथा इन्द्रियों और मन से युक्त जीवात्मा को भोक्ता समझ।" इस रूपक में बहुत सुन्दरता से यह दर्शाया गया है कि भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ के भोक्ता—जीवरूपी स्वामी के पास, इस शरीररूपी रथ के द्वारा भोगापवर्ग साधन के निमित्त सारथी बुद्धि है। सारथी के वश में ही अन्य सब सामग्री है। यह बुद्धि ही इस राजा का प्रधान मन्त्री है। अन्य वर्णित सभी मन आदि अङ्गों का कर्तव्य तथा स्वभाव इस प्रधान मन्त्री की उचित-अनुचित, इष्टानिष्ट आज्ञाओं का पालन करना ही है। प्रधान मन्त्री की आज्ञाओं में किसी प्रकार का हेर-फेर करने का उनका कोई अधिकार नहीं, अतः इस प्रधान मन्त्री के उपयुक्त निर्णय पर ही यात्रा का परिणाम निर्भर है। इस एक के सध जाने से सब सध जाते हैं और एक के असत् निर्णय से सब सहकारियों का परिश्रम निष्फल ही नहीं महान् अनर्थ का कारण बन जाता है। इसीलिए कहा भी है—"विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" कि मनुष्य का जब प्रारब्धवश सर्व-नाश होने को होता है तो सब से पहले उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है अर्थात् वह

सत्य को असत्य तथा असत्य को सत्य समझने लग जाती है, तामसिक हो जाती है (गीता १८,३२)।

३. असंयमित स्वच्छन्द-बुद्धि का दुष्परिणाम

कठ० (७,८)में कहा गया है कि जो अविज्ञानवान (विपरीत, भ्रान्त, याथातथ्य निर्णय न करने वाली तथा निर्बल अधीर बुद्धि से युक्त) है, तथा इसीलिए असंयतचित्त है और अपवित्र है, अर्थात् जिस पुरुष की भ्रान्त, निर्बल, तथा अशक्त बुद्धि, मन और इन्द्रिय रूपी सहकारियों को यथोचित आज्ञा प्रदान नहीं करती और उनको वश में न रखकर स्वयं उनकी मलिन वासनाओं के अनुसार आदेश कर देती है, वह परमविष्णु, भूमा, सच्चिदानन्द, रसैकघन, अमृतपद को प्राप्त नहीं होती है, प्रत्युत जन्ममरणलक्षण वाले संसार को ही प्राप्त होती है, इस आवागमन से नहीं छूटती। ऐसी बुद्धि जितनी चतुर होती है उतनी ही अधिक अनर्थकारी होती है, वह मन की मलिन वासनाओं की पूर्ति के लिए अनन्त सामग्री जुटा देती है तथा अधर्म को भी धर्म का रूप देने में अपनी और दूसरों की वञ्चना करने में दक्ष होती है, शास्त्र के अनेक उल्टे-सीधे अर्थ कर मनोवाञ्छा को ही इष्ट सिद्ध कर देती है (३,७)।

४. संयमित, शुद्ध और सात्त्विक बुद्धि से परम-लक्ष्य की सिद्धि

परन्तु जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धिरूपी सारथी से युक्त होता है, अतः जिसका मन संयमित अर्थात् बुद्धि के शासन में होता है तथा पवित्र जीवन वाला होता है वह परम अमृत, निजधामरूपी पद को प्राप्त होता है, जहां से फिर जन्ममरणरूपी संसार को प्राप्त नहीं होता (कठ० ३,८)।

५. समाधान का महत्त्व

चित्त का समाधान ही शम-दम आदि को स्वाभाविक बना देता है। बुद्धि ही मन, इन्द्रिय तथा शरीर आदि को सन्मार्ग या उन्मार्ग पर लेजाने वाली होती है। यही सबकी अधिष्ठात्री स्वामिनी है। अतः इसके निरोध-समाधान के बिना अन्य शम-दमादि सब उपाय निष्फल होते हैं, प्रत्युत वह इसके बिना बन ही नहीं पाते, क्योंकि उनके सब व्यापार इसी के अधीन हैं। इसकी प्रेरणा से ही दम आदि सब साधन सम्पादित होते हैं। इसके विवेक से सब का व्यवहार स्वतः विवेकयुक्त और कल्याणकारी हो जाता है, तथा इसके अविवेक से सभी कुमार्गगामी बन जाते हैं। यह अध्यात्मजीवन का हृदय तथा फुफ्फुस है। जैसे एक क्षण के लिए हृदय की गति रुक जाने से मृत्यु हो जाती है और हृदय के रक्त के अशुद्ध हो जाने से अङ्गप्रत्यङ्ग का रक्त दूषित हो जाता है, ऐसे ही बुद्धि के निरुद्ध हो जाने पर मन तथा इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाएं तत्क्षण स्वतः ही स्तब्ध हो जाती हैं, सुषुप्ति तथा मूर्च्छा की दशा में इसका अनुभव सभी को है। बुद्धि के कुत्सित हो जाने से, सब करण उन्मार्गगामी हो जाते हैं, अन्य सब तो इसके हाथ की कठपुतली हैं। यही संपूर्णजीवनरूपी गङ्गा का स्रोत है। इसका निरोध आवश्यक है, इसीका नाम समाधान है।

६. संसार में समाधान का उपयोग

संसार में प्रायः देखा जाता है कि वही सज्जन अपने लक्ष्य को सिद्ध कर पाते हैं, जो साध्य-परायण हो जाते हैं, जिन्हें एक ही धुन समा जाती है, उसमें संलग्न होकर वे तन-मन सब को भूल जाते हैं। उनके रोम-रोम में वह ध्येय समा जाता है। ऐसे व्यक्तियों को लक्ष्य तथा साधन याथातथ्यरूप में भासने लग जाते हैं, सब सामग्री अनायास उपस्थित हो जाती है, विघ्न तथा शत्रु भी सहायक बन जाते हैं। इस प्रकार की लग्न (समाधान) न होने से सर्वसाधारण विफल-मनोरथ ही होते हैं। लक्ष्य-भेत्ता (तीरअन्दाज़) अपनी दृष्टि को लक्ष्य में ही स्थिर कर देता है, यदि यत्किञ्चित् प्रमाद हो जावे तो बाण-निक्षेप निष्फल हो जाता है।

७. चित्त का समाधान, अन्य सर्व-सम्पत्ति का फल है

इसी प्रकार चित्त का समाधान परमलक्ष्य की सिद्धि के लिए एक असाधारण कारण है, क्योंकि शम-दम आदि सम्पूर्ण साधन तो इसीलिए हैं कि श्रवण आदि में चित्त का निरन्तर समाधान हो। चित्त का समाधान ही उन सब का फल है, क्योंकि लक्ष्य तो आत्मा में आत्मा का देखना ही है (बृह० उ० ४,४,२३), अर्थात् चित्त का आत्मा में साक्षात् अथवा श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा आत्मा में स्थिर करना है। मुण्डकोपनिषद् में भी वर्णन आता है—"जो दीप्तिमान् तथा अणु से भी अणु है तथा जिसमें सम्पूर्ण लोक तथा उनके निवासी स्थित हैं, वही यह अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाक् और मन है, वही सत्य तथा अमृत है, उसी का वेधन करना चाहिए" (मुण्ड० २,२,२)। जिस प्रकार साधारण धनुर्धारी के लिए अपने पार्थिव लक्ष्य के वेधन के लिए चित्त की एकाग्रता आवश्यक होती है, उसी प्रकार अणु से भी अणुतम आत्मतत्त्वरूपी लक्ष्य को वेधने के लिये समाधान अनिवार्य है, अर्थात् लक्ष्यवेधन में अन्ततः इसीका उपयोग है और सब अङ्ग समाधान की सिद्धि तथा इसकी पूर्णता के लिए हैं। समाधान शम-दम आदि सब साधनों का फल है। जब तक चित्त समाहित न हो तब तक अन्य अन्तरङ्ग साधनों को निष्फल समझना चाहिए। और बुद्धि के तथ्यनिर्णय कर लेने पर अन्य सब कारणों का नियन्त्रण शम-दम आदि साधनों के द्वारा होता है, अतः बुद्धि के स्थिर समाधान के विना शम-दम आदि भी स्वयं पूर्णतया सिद्ध नहीं हो सकते। समाधान के विना उनकी पूर्णता का निश्चय भी नहीं हो सकता।

८. आत्म-साक्षात्कार तथा योगदर्शन के समाधिपाद का अधिकारी

जो चित्त स्वभावतया विना आयास के समाहित रहता है, प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न स्थूल-ग्राह्य पदार्थों की ओर नहीं भटकता, ऐसा चित्त ही उपनिषद्-शिक्षा के श्रवणादि का अधिकारी है। वही आत्मा में आत्मा का दर्शन कर सकता है। योगदर्शन के समाधिपाद का अधिकारी भी समाहित चित्तवाला ही है, इस पाद में समाधि के भिन्न-भिन्न भेद तथा साधनों का निरूपण है।

६. चित्त की पांच भूमियां तथा उनका वर्णन

योगदर्शन के व्यासभाष्य में इसका विशद विवेचन किया गया है। योग (समाधि—समाधान—सम्यग् आधान भली प्रकार स्थिर करना) समाधि चित्त का धर्म है, आत्मा का नहीं, क्योंकि आत्मा निर्विकार, एकरस है, वह कभी स्थिर और कभी अस्थिर नहीं होता। चित्त ही परिणामी है, इसकी अनेक अवस्थाएं हैं जो परिवर्तित होती रहती हैं। चित्त की पांच भूमियां (सहज अवस्थाएं) होती हैं जिनमें से किसी एक में चित्त पूर्ण-व्यवहार-जन्य संस्कारों के प्रभाव से प्रायः विना किसी प्रयत्न के रहता है, उससे भिन्न दूसरी अवस्था के सम्पादन के लिए प्रयत्न की अपेक्षा होती है। चित्त की वे पांच भूमियां ये हैं:—(१) क्षिप्त, (२) मूढ, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र तथा (५) निरुद्ध। (१) क्षिप्त—चित्त की वह सहजावस्था है जब संस्कार तथा प्रत्यय (वृत्ति) युक्तचित्त तत्त्व-समाधान करने की इच्छा से रहित, सदा इतस्ततः पदार्थों में घूमता है, एकक्षण भी कहीं स्थिर नहीं हो सकता। इसमें रजोगुण प्रधान होता है। (२) मूढ—चित्त की वह तमोगुणप्रधान सहजावस्था है जब वह प्रबलरागादि के मोहवश मूढ (अत्यन्त विवेकशून्य) होता है। सत्य को असत्य तथा असत्य को सत्य समझता है, और प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा के वश में होता है। (३) विक्षिप्त—यह सहजावस्था क्षिप्तावस्था से भिन्न है। इसमें कभी-कभी चित्त के समाधान की इच्छा, चित्त का समाधान तथा तत्त्व-समाधान दृष्टिगोचर होता है। (४) एकाग्र—चित्त की सत्त्व-गुणप्रधान स्थितिशील अवस्था का नाम है जिसमें विना इच्छा तथा प्रयत्न के चित्त-समाधान तथा तत्त्व-समाधान होता है, इस भूमि का नाम ही समाहितचित्त है। (५) निरुद्ध—सर्ववृत्तिनिरोध, त्रिगुण-अतीत अथवा त्रिगुण-साम्यावस्था का नाम है, प्रथम दो भूमियों में तो समाधान की भ्रान्ति होना असम्भव है परन्तु तृतीय विक्षिप्त भूमि में कभी चित्त के स्थिर हो जाने पर भी उस को योग (समाधि या समाधान) नहीं कह सकते। क्योंकि यह क्षणिक स्थिरता (पहले तथा पीछे) दीर्घकालीन विक्षेप से अभिभूत होती है, इसलिए तत्त्व-समाधान (तत्त्वसाक्षात्कार-प्रबोध) का कारण नहीं बन सकती। जैसे मेघों में उत्पन्न होने वाली विद्युत् के क्षणिक अतिचञ्चल प्रकाश से पदार्थ का यथावत् बोध नहीं हो सकता, अथवा जैसे सब ओर से अग्नि से घिरा हुआ बीज दग्ध हो जाता है, कोई फल नहीं ला सकता, ऐसे ही यह क्षणिक स्थिरता दीर्घविक्षेप से अभिभूत हुई-हुई बोधरूपी फल को उत्पन्न करने में असमर्थ होती है। कहा भी है कि अत्यन्त वैराग्यवान् (दृढ-वशीकार अथवा परवैराग्य जो अनेक हिरण्मय प्रलोभनों तथा प्राणसंकट आदि भयरूप प्रतिबन्धकों को क्षणभर में भस्मीभूत कर देता है, और एक क्षण भी उनकी ओर दृष्टिपात नहीं करता मानो वैभव, पद तथा तलवार का उनके लिए कोई अस्तित्व ही नहीं है) को ही समाधि प्राप्त होती है; और समाहितचित्त (वैराग्य की पराकाष्ठा में अनात्म-प्रत्यय का नितान्त पराभव होकर ध्येय आत्माकार वृत्ति का निरन्तर एकरस प्रवाह होता है) वाले को दृढ़ (असंभावना विपरीत भावना तथा संशयरहित) प्रबोध—परमात्मा का साक्षात्कार होता है। आत्मसाक्षात्कारवान् की अविद्यारूपी हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है। बाह्य तथा अध्यात्म देहादि में अनात्म भावनाओं से मुक्त पुरुष को शोक-मोहरहित परमसुख की

नित्य अनुभूति होती है*। अतः विक्षिप्तभूमि की भी योग-समाधि या समाहित-चित्त में गणना नहीं हो सकती। (४) परन्तु चिरकाल तक एकाग्र होने पर चित्त की जो अवस्था सत् (आत्मतत्त्व) को याथातथ्यरूप से प्रकाशित करती है, अविद्या आदि को क्षीण करती, कर्मबन्धनों को शिथिल करती है, स्वरूपस्थिति—निरोध—का द्वार है; वही सम्प्रज्ञात योग है अर्थात् ऐसी अवस्था का नाम ही समाधान है। ध्येय पदार्थ के स्थूलसूक्ष्म-तारतम्य के आधार पर चित्त की इस भूमि के भी अनेक अवान्तर भेद (अवस्थाएं) हो सकती हैं। परन्तु न्यून से न्यून, समाधान की स्थूलतम अवस्थायुक्त समाहितचित्त वाला ही समाधिपाद की साधना का अधिकारी है। विक्षिप्तचित्त वाले के लिए योगदर्शन के साधनपाद में वर्णित साधना ही उपयुक्त है। जब उस पर तीव्र श्रद्धा-युक्त होकर चिरकाल आचरण करने से विक्षेप पराभूत हो जाता है तब समाधिपाद तथा विभूतिपाद में वर्णित साधना का होना सम्भव होता है। अन्यथा मूढ दुराग्रह के कारण हठात् अपने अधिकार से भिन्न साधना का अवलम्बन करना अपने तथा दूसरे की वञ्चनामात्र ही होता है। इस से कुछ फलसिद्धि नहीं हो सकती। जिस प्रकार योगदर्शन के समाधिपाद का अधिकारी समाहितचित्त वाला ही होता है, इसी प्रकार बृहदारण्यक (४,४,२३) में उपदिष्ट षट्सम्पत्ति के छठे अंग, समाधान से युक्त व्यक्ति ही उन श्रवणादि साधनों को कर सकता है जिन से आत्मा में आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है, अर्थात् समाहितचित्त के ही श्रवण-मनन आदि साधन अपने फल आत्म-साक्षात्कार को उत्पन्न कर सकते हैं, उसके विना श्रवण-मनन समर्थहीन, श्रममात्र होते हैं। ऐसे श्रवण-मनन आभास हैं। जैसे मृगतृष्णा का जलाभास तृषा को कदापि दूर नहीं कर सकता, इसी प्रकार समाहितचित्त-रहित श्रवण-मननाभास आत्म-साक्षात्कार तथा उसके द्वारा शोक-मोह की निवृत्ति नहीं कर सकता।

चित्त की मूढ, विक्षिप्त तथा क्षिप्त भूमियों वाला उपनिषद्-वर्णित तत्त्व के श्रवण का अधिकारी नहीं, उसको परमतत्त्वविषयक वास्तविक जिज्ञासा हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार योगदर्शन में योग के मुख्य विषय का वर्णन पहले समाधिपाद में कर दिया गया है। यह पाद उन उच्च अधिकारियों के लिए है जिनका चित्त क्षिप्त, विक्षिप्त या मूढ भूमियों से ऊपर की भूमि में पहुंच चुका है। परन्तु जो ऐसे उच्च अधिकारी नहीं हैं उनके लिए योगदर्शन के द्वितीय साधनपाद का विधान है ताकि विक्षिप्त-चित्त वाले इस पाद में वर्णित साधनों के द्वारा विक्षेप तथा प्रकाशावरण की निवृत्ति करें। जिस प्रकार साधनपाद में इन बहिरङ्ग साधनों का वर्णन मनुष्य को समाधिपाद की शिक्षा का अधिकारी बनाने के लिए किया गया है, उसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् (४,४,२२)§ में अन्तरङ्ग साधनों के निरूपण करने से पूर्व श्रवणादि साधनों के अनधिकारी के लिए अधि-कार (तथ्यजिज्ञासा-विविदिषा) प्राप्ति के लिए बहिरङ्ग साधनों का निरूपण किया गया है।

* अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढप्रबोधः। प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः॥ (विवेक चूडामणि ३७६)

§ तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन॥

बृहदारण्यकोपनिषद् ४,४,२२

१० बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग साधनों का भेद

बहिरङ्ग साधन वे साधन हैं जो परम्परा से लक्ष्य-सिद्धि में सहायक होते हैं, जिनका लक्ष्य की सिद्धि से पूर्व त्याग हो सकता है। और अन्तरङ्ग साधन वे साधन हैं जिनका लक्ष्यसिद्धि से सीधा साक्षात् सम्बन्ध है, जो लक्ष्य की सिद्धि से पूर्व कदापि नहीं त्यागे जा सकते। बृहदारण्यक उपनिषद् (४,४,२२) में विविदिषा अर्थात् जिज्ञासा की उत्पत्ति के लिए यज्ञ, दान, तप (ऐसा तप जो वैषम्य-द्वारा शरीर को नाश नहीं करता) के निष्कामभाव से अनुष्ठान का विधान किया है, ऐसे निष्कामभाव द्वारा आचरण भी विक्षिप्त-भूमि वाला ही कर सकता है। मूढ तथा क्षिप्त भूमिवाले से तो यह भी असम्भव है। इन भूमि वालों को प्रजापति के पूर्ववर्णित उपदेश के प्रथम दो अङ्ग अहिंसा तथा दान में अधिकार है। यह दो अङ्ग भी श्रद्धा तथा उससे उत्पन्न होने वाले बहुत प्रयत्न द्वारा साध्य हैं। आज के इस कलिकाल में अहिंसा आदि में भी श्रद्धा दुर्लभ है। केवल प्रवचन, अध्ययन तथा श्रवणमात्र से इन में क्रियात्मक श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती। अहिंसा-दान आदि का आचरण तीव्रजिज्ञासा की उत्पत्ति के लिए भी किया जाता है, परन्तु वह तभी होता है जबकि ये आचरण निष्कामभाव से किये जाएं। परन्तु मूढ और क्षिप्त-भूमि वाले तो इन धर्मों तथा ईश्वर-पूजा आदि का अनुष्ठान सकाम भाव से करते हैं। इन दो प्रकार के अनुष्ठानों में धर्म वही होते हुए भी भावना का भेद है। सकाम भाव से किये हुए धर्माचरण-द्वारा चित्त कुछ और अधिक निर्मल होने पर शास्त्रोक्तविधि द्वारा लौकिक-कामनाओं की पूर्ति में तथा भोग में रागादि की वृद्धि आदि दोष दीखने लगते हैं। संसार-चक्र से छूटने तथा परमानन्दप्राप्ति की मन्द जिज्ञासा उत्पन्न होती है, परन्तु वह इतनी पर्याप्त शुद्ध नहीं होती कि जिसके बल से अन्तरङ्ग तथा अन्तरतम ध्यान आदि साधनों का सम्पादन करवा सके। उसके बल पर यदि इन साधनों का कुछ आरम्भ किया भी जाए तो पुनः शीघ्र प्रमाद दबा लेता है। पूर्व अभ्यास के कारण कर्म का स्वभाव होता है, जिसको छोड़ सकना असम्भव दीखता है। सूक्ष्मसाधन, ध्यान, विचार आदि में चित्त झट ऊब जाता है और पहले से भी अधिक अशान्त तथा बहिर्मुख होने लगता है। जितना हठ किया जाए उतना ही अधिक लौकिक पदार्थों तथा व्यवहारों का चिन्तन करता है। ऐसी अवस्था में हठ अत्यन्त हानिप्रद है। इसीलिए गीता (६,२५) में आदेश है कि शनैःशनैः धैर्ययुक्तबुद्धि से मन आदि का नियमन करना चाहिए। यह ऐसी अवस्था होती है जिसमें निष्कामकर्म भी कठिनाई से ही हो पाता है, ध्यानविचार की बात तो दूर रही। इसलिए इस स्थिति में यह निष्कामकर्म ही कार्यकारी तथा उपयुक्त साधन है। इस में पूर्व अभ्यासवश जो मनुष्य की स्थूल कर्मों में रुचि होती है उसको भी पूर्ति का अवसर मिल जाता है, परन्तु उसमें भावना का मार्जन किया जाता है। स्वाधिकारोचित (सामर्थ्य के अनुसार) साधना से मल झड़ने लगता है। शनैःशनैः चित्त सूक्ष्म तथा निर्मल होकर ध्यान आदि सूक्ष्म साधनों के अनुष्ठान की योग्यता भी प्राप्त कर लेता है। योग्यता के अनुसार ऐसे कर्म की अनिवार्य आवश्यकता के कारण ही ईशोपनिषद् (१,२) में निष्कामकर्म का उपदेश है। जब तक जिज्ञासु अन्तरंग साधनों के अनुष्ठान की योग्यता और सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर लेता तब तक ईशोपनिषद् (६,११) में जो विद्या तथा अविद्या के समुच्चय का विधान है वही श्रेयस्कर है।

योगदर्शन में इसी प्रकार से विक्षिप्त-चित्त वाले के लिए क्रियायोग का विधान है, जिसमें ईश्वरप्रणिधान भी सम्मिलित है। तप, स्वाध्याय (ओंकार का जाप तथा मोक्ष-शास्त्रों का अध्ययन) तथा ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग कहलाते हैं। इनसे मुख्य योगध्यान, समाधि आदि का अभ्यास तो नहीं होता; परन्तु ये ऐसी क्रियाएं होती हैं जिनको करता हुआ जिज्ञासु ध्यानयोग की योग्यता प्राप्त कर सकता है। क्योंकि ये क्रियाएं ध्यानयोग का उपाय हैं इसलिए इन्हें क्रियायोग कहा गया है। इसका सारांश यह है कि जब जिज्ञासु का मन प्रजापति के प्रथम उपदेशों के (सकामभाव से) आचरण से कुछ शुद्ध होता है और जन्ममरणलक्षण संसार से कुछ उपराम होता है, परन्तु विक्षिप्त होने के कारण अभी समाहित नहीं होता, इसलिए मोक्ष के साक्षात् उपाय श्रवणादि अथवा ध्यान-योग का अवलम्बन नहीं कर सकता; या जिज्ञासा मन्द होने के कारण प्रमाद करता है। इस अवस्था में उसका अधिकार योगदर्शन के दूसरे साधन-पाद में है, जो बृहदारण्यक उप-निषद् (४,४,२३) में वर्णित विविदिषा उपाय ही है, तथा समाधान से भिन्न शम-दम आदि अन्य अन्तरंग साधनों के समान ही है। योगदर्शन के समाधिपाद में समाधि के साधन-रूप में जो वशीकार वैराग्य का वर्णन है, और साधनपाद में जिन पांच अहिंसादि बहिरङ्ग साधनों में से प्रथम चार (यम, नियम, आसन, प्राणायाम) के फलस्वरूप प्रत्याहार (इन्द्रियों के स्वामी मन के विजय से इन्द्रियों का विषयों की ओर स्वतः स्वाभाविक प्रवृत्ति का शान्त हो जाना) तथा षट्-सम्पत्ति के प्रथम अङ्ग दम-शम का एक ही भाव है। अध्यात्म-विद्या के मार्ग में साधनपाद का अन्त, समाधिपाद का आरंभ और उपनिषद्-शिक्षा का आरंभ लगभग एक ही स्थान पर होता है।

११. उपनिषद्-शिक्षा के अधिकारी की ब्रह्म-पूजा—भक्ति का स्वरूप अर्थात् सकाम तथा निष्काम भक्ति का भेद

प्रश्न होता है कि जब तक जिज्ञासु को समाहित अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती क्या तब तक उसे मोक्षशास्त्र उपनिषदादि का श्रवण तथा ईश्वरपूजा, भजनादि नहीं करना चाहिए ? उत्तर—प्रजापति के उपदेश-प्रसंग में गीता-वर्णित चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख किया गया है। जो भी ईश्वर में आस्तिक भाव रखता है, उसका ईश्वर-भजन, स्मरण में अधिकार है। ऐसा होना श्रद्धा का अनिवार्य परिणाम है जिसे कोई शासन रोक नहीं सकता। हां, यह हो सकता है कि जिज्ञासु को उसकी स्वाभाविक रुचि तथा अधिकार के अनुसार शिक्षा तथा नियन्त्रण द्वारा सन्मार्ग पर अग्रसर करके उन्नति की ओर लेजाया जाए। भगवान् का भजन सभी करते हैं। परन्तु इन सब भजन करने वाले भक्तों के उनकी अपनी-अपनी स्थिति तथा लक्ष्य के अनुसार भेद तथा साधनों में भेद अवश्य मानने पड़ते हैं। इसीलिए गीता में भक्तों के चार भेद किये गये हैं। उन चार में से पहले दो—अर्थार्थी और आर्त सकाम भक्त हैं, जो लौकिक धन-जन की अथवा पद की अभिलाषा से अथवा किसी विपत्ति की निवृत्ति के लिए भगवान् का भजन करते हैं। इन सब प्रकार के भक्तों को गीता में उदार, उत्कृष्ट (पुण्यलोकभागी) कहा गया है। आजकल तो ऐसे भक्त भी विरले हैं जिनका रोगनिवृत्ति के लिए वैद्य अथवा औषधि की अपेक्षा भजन पर अधिक विश्वास हो। परन्तु ये सब सकाम—स्वार्थी हैं। यह भी ठीक

है कि संसार में स्वार्थ-हीन कोई प्रवृत्ति नहीं होती। निष्काम कर्म में भी कोई परम-स्वार्थ निहित होता ही है। मनु (२,४*) में भी कहा है कि लोक में भोजन, गमन आदि क्रियाएं भी कहीं विना इच्छा के देखने में नहीं आतीं। मनुष्य जो लौकिक तथा वैदिक कर्म करता है वह सब इच्छा का कार्य है। यह भी ठीक है कि कोई मन्दबुद्धि भी विना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अतः कई लोग यह आक्षेप करते हैं कि निष्काम कर्म तो कोई होता ही नहीं; अतः वे लोग ऐसा कहकर निष्काम प्रतिपादक शास्त्र-वाक्यों का ही अपलाप करना चाहते हैं। परन्तु वे लोग यह नहीं समझते कि यहां पर सकाम तथा निष्काम का इतना ही भेद है कि सकामभक्त का लक्ष्य उसके पूज्य आराध्य देवता, ईश्वर से भिन्न होता है। वह किन्हीं लौकिक पदार्थों की आकांक्षा से भजन पूजन या अहिंसा दानादि धर्मों का अनुष्ठान करता है। परन्तु निष्काम कर्म या भक्ति का लक्ष्य कोई लौकिक कामना नहीं होती। निष्कामकर्म या भक्ति ईश्वर-प्रीत्यर्थ या ईश्वर-प्राप्ति के लिए होते हैं। सकामभक्त का ईश्वर केवल साधनमात्र होता है, उसका लक्ष्य या साध्य कोई लौकिक पदार्थ होता है। उसका मुख्य प्रेम धन-जन से होता है, भगवान् में प्रेम गौण होता है। वह भगवान को परमइष्ट नहीं समझता। वह भगवान् के ऐश्वर्य, सामर्थ्य, शासन तथा ज्ञानादि पर ही विश्वास करता है, अभी उसमें उसकी परम इष्ट बुद्धि उत्पन्न नहीं हुई क्योंकि अभी उसे भगवान् में परमरसरूप का बोध नहीं हुआ। परन्तु निष्काम जिज्ञासु भगवान् को भगवान् के लिए ही चाहता है। जैसे विषयी मनुष्य यह नहीं जानता कि वह स्वादु, प्रियविषय रूपरसादि को क्यों चाहता है; वह यही कह सकता है कि ये विषय उसको अच्छे लगते हैं; वह चाहता है क्योंकि वह चाहवाला है। इस प्रकार भगवान् का ज्ञानी भक्त भगवान् के परमरस का आस्वादन करके, यह नहीं कह सकता कि वह भगवान् को क्यों चाहता है। हां! इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह चाहता है और ऐसा चाहता है कि उसके विना प्राण का शरीर में टिकना भी असम्भव होता है। इस तथ्य को वह समझ रहा होता है कि प्रभु प्राण के भी प्राण, श्रोत्र के श्रोत्र तथा नेत्र के नेत्र हैं। उनकी एक क्षण की विस्मृति नेत्र की दृष्टिशक्ति, श्रोत्र की श्रवण-शक्ति को हर लेती है, प्राण को अत्यन्त क्षुब्ध कर देती है, चित्त को विह्वल कर देती है, सब संसार मानो प्रकाश-हीन, जीवन-हीन, सत्ता-हीन अत्यन्त तुच्छ हो जाता है। केन उपनिषद् में वर्णित यह सच्चाई उसे प्रत्यक्ष दीखती है कि महान वायु की उड़ाने की शक्ति, अग्नि की क्षणभर में संसार को दहन करने की शक्ति परम प्यारे ब्रह्म की है। अपनी स्वतंत्रसत्ता का क्षणिक अभिमान उन सब की महान् शक्ति का सर्वनाश कर देता है। चाहे निष्काम जिज्ञासु ने अभी इस सर्वरसाधार, परम अनुपम रस का पान नहीं किया, फिर भी अनेकजन्मसञ्चित पुण्य-प्रभाव के कारण उसमें भगवद्दर्शन के लिए सात्त्विक श्रद्धा का उद्भव हुआ है; उसके प्राण, मन तथा सर्वेन्द्रियां परमात्म-साक्षात्कार के लिए विह्वल हैं। उसके संपूर्ण कर्म, ज्ञान तथा ध्यान केवल भगवत्साक्षात्कार के लिए हैं। उसका कोई अन्य लौकिक ध्येय नहीं है। वह भगवान् से और कुछ नहीं चाहता, वह

* अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥ मनु २,४

बनिया नहीं, जो भगवान् से लेने देने की व्यापारदृष्टि से नाता जोड़ता है। या ऐसा कहा जा सकता है कि वह ऐसा परम चतुर व्यापारी है कि भगवान् से भगवान् को ही मांग लेना चाहता है। उसने भगवान् को ही सर्वस्व, पिता, माता, भ्राता, पति, पत्नी, गुरु, राजा, धन, वैभव, राज्य, बल, विद्यादि सब कुछ मान लिया है। अर्थात् उसने अपने सब प्रेम तथा सम्बन्ध उस सर्वाधार, प्रियतम, रसराज में ही केन्द्रित कर दिये हैं। उसके हृदय में अन्य किसी पदार्थ के लिए स्थान नहीं रहा है। उसके लिए संसार में वही एक वरण करने योग्य रहा है। ऐसी भावना वाले की तुलना धन, जन, वैभव-लोलुप सकामभक्ति या कर्म किस प्रकार कर सकते हैं। यही वह परा भक्ति है जो भगवत्प्राप्ति का साक्षात्, सहज, एकमात्र द्वार है। जिसके विषय में कठोपनिषद् में कहा है:—"यह आत्मा वेदाध्ययन, धारणाशक्ति अथवा बहुशास्त्रश्रवणादि से कदापि प्राप्त नहीं हो सकता, जिस परमात्मा को यह साधक वरण करता है अर्थात् जिसकी अनन्यभक्ति करता है, उस भक्तिप्रेम से प्रसन्न, आराधित परमात्मा उस भक्त के लिए अपने सच्चिदानन्दस्वरूप को निरावरण—प्रकाशित कर देता है। अर्थात् जो परमात्मा का हो जाता है, परमात्मा उसका हो जाता है।" अवर प्रेम की ओट में वह ब्रह्म छिपा हुआ है, अनन्यभक्ति से वह आवरण छिन्न-भिन्न हो जाता है, फिर सच्चिदानन्द के प्रकाश में क्या विलम्ब है। इसीलिए गीता में ध्येय तथा भक्ति के तारतम्य के आधार पर भक्तों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है। भक्ति का अधिकार तो आस्तिक मनुष्यमात्र को है, परन्तु प्रत्येक अपनी मानसिक-स्थिति के अनुसार ही साधन का अवलम्बन कर सकता है।

१२. योगदर्शन में वर्णित ईश्वरप्रणिधान

योगदर्शन के समाधि तथा साधन दोनों पादों में योग के साधन के रूप में ईश्वरप्रणिधान का वर्णन मिलता है। समाहितचित्त वाले जिज्ञासु के लिए समाधिपाद अथवा ध्यानयोग का उपदेश है तथा विक्षिप्तचित्त वाले के लिए साधनपाद के साधनों का उपदेश किया गया है। इसलिए समाधिपाद में जिस ईश्वरप्रणिधान का उपदेश है उसका अवलम्बन विक्षिप्तचित्त वाला जिज्ञासु नहीं कर सकता; यद्यपि साधनपाद के प्रथम सूत्र में ही उस के लिए भी ईश्वरप्रणिधान का निरूपण किया गया है। अतः यह आवश्यक है कि समाधिपाद का ईश्वरप्रणिधान, साधनपाद के ईश्वरप्रणिधान से भिन्न है। ईश्वरप्रणिधान का सामान्य अर्थ—ईश्वर में प्रकर्ष, उत्कृष्ट, विशेष रूप से, सम्पूर्ण रूप से अथवा सन्देहादिरहित दृढनिश्चय या श्रद्धा से आधान रखना, अर्पण करना अर्थात् परमश्रद्धा से ईश्वर में अर्पण करना है। सामान्य रूप से इसको ईश्वरभक्ति अथवा ईश्वरपूजा कह सकते हैं। परन्तु उपर्युक्त कारण से समाधिपाद तथा साधनपाद में आए ईश्वरप्रणिधान का एक ही भाव नहीं हो सकता।

१३. समाधिपाद में ईश्वरप्रणिधान

योगदर्शन समाधिपाद के २३–३१ सूत्रों में ईश्वरप्रणिधान के स्वरूप, फल आदि का सविस्तर निरूपण है। २३ अथवा २७–३१ सूत्र पर्यन्त ईश्वरप्रणिधान के फल का वर्णन है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। १,२३

ईश्वरप्रणिधान रूप भक्तिविशेष से ईश्वर के प्रसाद तथा कृपा का लाभ होता है और भगवान् के प्रसाद तथा कृपाकटाक्ष से अत्यन्त शीघ्र समाधि की प्राप्ति होती है। मनुष्य के स्वतन्त्र प्रयत्न से बलवती माया का जीतना असम्भव-प्रायः है, परन्तु मायापति भगवान् के संकेतमात्र से वह निस्तेज हो जाती है। गीता का निम्नलिखित श्लोक भी इसी भाव का समर्थन करता है:—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" ७,१४

भगवान् की गुणस्वरूपा दैवी माया का अतिक्रमण करना अर्थात् विजय करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु यज्ञ, दान, तप आदि धर्मों के स्वतन्त्र अनुष्ठान का आश्रय छोड़ कर अर्थात् केवल इन धर्मों के सहारे इस भयंकर संसार रूपी सागर को पार करने की दुराशा को छोड़कर जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वहितैषी माया-अधिपति भगवान् की अनन्यभावेन शरण ग्रहण करते हैं वे इस मायाबन्धन से सहज ही मुक्त हो जाते हैं। २६,३० तथा ३१ सूत्रों में ईश्वरप्रणिधान के उपरोक्त प्रभाव का विशद सविस्तर निरूपण है।

"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" योग १,२६

ईश्वरप्रणिधान से आत्मसाक्षात्कार का लाभ होता है और यदि इस परम पुरुषार्थ की प्राप्ति में व्याधि, अकर्मण्यता, प्रमाद, संशय आदि अन्तराय अर्थात् विघ्न उपस्थित होते हैं तो ये सब भस्मसात् हो जाते हैं अर्थात् ईश्वरप्रणिधान से दोनों कार्य सिद्ध हो जाते हैं, प्रतिबन्धों की भी निवृत्ति हो जाती है तथा आत्म-दर्शन का भी लाभ होता है। अब ईश्वरप्रणिधान का लक्षण करने के लिए प्रथम ईश्वर के स्वरूप, प्रभाव तथा उसके निज नाम का निरूपण करते हैं:—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। १,२४

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश (मृत्यु भय) क्लेश कहलाते हैं, क्योंकि यही प्राणिमात्र को क्लेश अर्थात् दुःख देते हैं। पुण्य, पाप तथा मिश्रित अर्थात् (मिले-जुले) तीन प्रकार के कर्म होते हैं। कर्मों के फल जाति, आयु तथा भोग को विपाक कहते हैं। वासना अथवा संस्कार जो फल पर्यन्त चित्तभूमि में बीज के समान पड़े रहते हैं, आशय कहलाते हैं। जिस पुरुष का इन (१) क्लेश (२) कर्म (३) विपाक—फल (४) आशय—संस्कार से कभी सम्बन्ध नहीं होता अर्थात जो भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल में सदा इनसे मुक्त रहता है उसको ईश्वर कहते हैं अर्थात् ईश्वर नित्य-मुक्त पुरुष है।

निषेधमुख से ईश्वर का वर्णन करके विधिमुख से लक्षण कहते हैं, अथवा ईश्वर के लक्षण कथनानन्तर इस विषय में प्रमाण का निरूपण करते हैं:—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। १,२५

हमारे जैसे साधारण मनुष्यों के ज्ञान में तारतम्य होता है अर्थात् प्रत्येक साधारण पुरुष का ज्ञान सातिशय होता है, इससे किसी निरतिशय ज्ञान वाले विशेष पुरुष का अनुमान होता है अर्थात् ईश्वर का ज्ञान पराकाष्ठा को प्राप्त होता है अथवा ईश्वर सर्वज्ञ है।

अब ईश्वर के प्रभाव का निरूपण करते हैं:—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। १,२६

वह ईश्वर ब्रह्मा आदि सब पूर्वजों का गुरु है, क्योंकि यह सब उत्पत्ति तथा विनाश वाले हैं, परन्तु ईश्वर काल की मर्यादा से परे है; वह नित्य एकरस है।

प्रणिधानरूप उपासना में उपयोग के लिए अब ईश्वर का निजनाम निरूपण करते हैं:—

तस्य वाचकः प्रणवः।" १,२७

उपरोक्त (२४,२५,२६, सूत्र) लक्षण वाले ईश्वर का निज नाम प्रणव अर्थात् ओ३म् है। यह ईश्वर के अनन्त गुण तथा लक्षणों की स्तुति करने वाला नाम है।

अब ईश्वरप्रणिधान रूप उपासना का स्वरूप वर्णन करते हैं:—

"तज्जपस्तदर्थभावनम्" १,२८

ओंकार के जाप—उच्चारण तथा उसके अर्थ—वाच्य ईश्वर की पुनः पुनः भावना करना अर्थात् चित्त का बार २ ईश्वर में लगाना ईश्वरप्रणिधान है, अर्थात् ईश्वर के नाम ओ३म् के उच्चारण द्वारा नित्यमुक्त, सर्वज्ञ तथा ब्रह्मा आदि सब के गुरुरूप ईश्वर का निरन्तर नाम तथा ईश्वर के अमित प्रभाव में परमश्रद्धा के साथ चिन्तन करना, यह दृढ भावना रखना कि आराध्यदेव ईश्वर सब प्रतिबन्धों को छिन्न-भिन्न कर आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान प्रदान करेंगे और स्वरूप-स्थितिरूप असम्प्रज्ञात समाधि का अवश्य शीघ्र लाभ होगा।

गीता में जप का महत्त्व भगवान की विभूतियों के वर्णन के स्थल पर ऐसा मिलता है—"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" १०,२५, वैसे तो भगवान् का अनेक स्थलों पर यज्ञपुरुष रूप से वर्णन मिलता है, जिससे यह आदेश स्पष्ट मिलता है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर का यज्ञ ही है। अथवा निजकर्तव्यरूप यज्ञ द्वारा इस यज्ञ में सहयोग द्वारा ईश्वर का आराधन करना चाहिये। अर्थात् अपने वैयक्तिक संकुचित मलिन हित को छोड़ अपने जीवन को ईश्वरानुष्ठित समष्टियज्ञ का एक अंग बनाना चाहिए। परन्तु यहां इन भिन्न-भिन्न यज्ञों में जपयज्ञ को सर्वश्रेष्ठ जताने के लिए ही ऐसा कहा गया है कि यज्ञों में भी मैं जपयज्ञ हूं। मनु महाराज निज स्मृति में जप के भेद इस प्रकार वर्णन करते हैं:—

"विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥" मनु २,८५

विधियज्ञों से जपयज्ञ दशगुणा अधिक उत्तम होता है, ऊंचे जप से उपांशु जप शतगुणा अधिक उत्तम होता है और उपांशु से मानस जप सहस्रगुणा अधिक उत्तम माना गया है।

"ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥" मनु २, ८६

जो विधियज्ञ से युक्त अन्य चार पाकयज्ञ हैं तथा अन्य भी इन जैसे यज्ञ हैं वे सब जपयज्ञ की सोलहवीं कला के तुल्य भी नहीं हैं।

१४. साधनपाद में वर्णित ईश्वरप्रणिधान

साधनपाद की भूमिका में व्यास भगवान् ने कहा है कि इस सम्पूर्ण दूसरे अध्याय में उन साधनों का निरूपण किया गया है जिनके द्वारा विक्षिप्तचित्त वाला

जिज्ञासु ध्यानयोग की योग्यता प्राप्त कर सकता है। प्रथमसूत्र के भाष्य में ईश्वरप्रणिधान की व्याख्या इस प्रकार है—"सम्पूर्ण कर्मों को परमगुरु ईश्वर (योग १,२६) में अर्पण कर देना, अर्थात् कर्मों के वेदोक्त फलों की अपने भोगार्थ वाञ्छा को छोड़ देना, कर्मों तथा उन के फलों को ईश्वर के समर्पण कर देना है।" क्योंकि इस साधक का चित्त विक्षिप्त दशा में है अतः वह इस योग्य नहीं कि समाधिपाद में वर्णित ओंकार का ध्यान कर सके। रजोगुण की प्रबलता के कारण वह अभी कर्म को त्याग नहीं सकता। उसका चित्त अभी इतना ही शुद्ध हुआ है कि वह कर्म के लौकिक फलों के दोषों को समझ सके; अत्यन्त तमोगुण तथा रजोगुण (मूढ तथा विक्षिप्त अवस्था) से वह कुछ शुद्ध हुआ है, ऊंचा उठा है। अतः उसके लिए कर्मफल का त्याग ही सम्भव है। उसकी स्थिति में यह उपदेश ही उसके योग्य तथा अनुकूल है। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि कर्म में तेरा अधिकार है, ध्यान अथवा ज्ञान (विचार) में नहीं। परन्तु कर्म करते हुए भी फल का अधिकार मत रख, फल की तृष्णा को सर्वथा त्याग दो। यदि फल की तृष्णा करोगे, तो यह कर्म फल को प्राप्त करवाने का हेतु होगा। क्योंकि तृष्णासहित किया गया कर्म फल का हेतु होता है; तृष्णारहित होकर किया गया वही कर्म फल का हेतु नहीं होता। क्योंकि बन्धनरूपी फल का मूलकारण तो तृष्णा ही है। इसलिए तू कर्मफल की प्राप्ति करवाने वाली तृष्णा वाला न बन। परन्तु कर्मफल न चाहते हुए भी तुझे अकर्म में संग प्रीति नहीं होनी चाहिए (गीता २, ४७)। क्योंकि कर्म का त्याग कर सकना तुम्हारे लिए सम्भव नहीं है। वर्तमान चित्तभूमि तथा प्रकृति तुम्हें अवश्य कर्म में लगाएगी। जिस कर्म को तू अब मोह के वश हुआ त्यागना चाहता है, स्वभाव के वश उसी में प्रवृत्त होगा (१८,५६ †)। संगरहित होकर कर्म को करते हुए तू पाप से इस प्रकार लिपायमान नहीं होगा जैसे जल में कमल (५, १० ‡)। इसलिए तू कर्मयोगियों की तरह अहंकाररहित होकर (काया, मन, बुद्धि, अथवा) इन्द्रियों से केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिए (रजोगुण के वेग को शमन करने के लिए) कर्म कर। इस कर्म द्वारा तू ईश्वर की पूजा करता हुआ मोक्ष की योग्यता प्राप्त कर (१८,४६ §)। संक्षेप से यही ईश्वरप्रणिधान का कर्म अर्पण तथा फलसंन्यास का भाव है; जिसका विस्तृत वर्णन गीता के प्रथम षट्क में मिलता है। आज कल एक तो सच्चे जिज्ञासु का मिलना दुर्लभ है; यदि कोई ऐसा हो भी तो ध्यान अथवा विचारादि सत्त्वगुणप्रधान साधनमात्र के आश्रय से ध्येय की सिद्धि तो असम्भवप्राय है। ऐसी अवस्था में गीता की शिक्षा ही अधिक उपयोगी है। यही कारण है कि आज कल चिरकाल तक योग तथा ज्ञानमार्ग के अवलम्बन से भी लक्ष्यसिद्धि होती नहीं दिखाई देती।

---

† यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ गीता १८,५९

‡ ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ गीता ५,१०

§ यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ गीता १८,४६

१५. दोनों की तुलना तथा जिज्ञासा की दृढता का साधन

योगदर्शन (२,१) में स्वाध्याय का भी विधान है। जिस का अर्थ व्यासभाष्य में इसप्रकार मिलता है:—स्वाध्याय—पूर्वपापरूपी मल को नाश करके पवित्र करने वाले प्रणव आदि ईश्वर के नामों का जाप अथवा [स्वाधिकारोचित गीता आदि] मोक्ष-शास्त्रों का अध्ययन। इस प्रकार प्रणव-जाप का विधान यहां पर भी है और समाधिपाद (१,२८) में भी। परन्तु दोनों के अधिकारी भिन्न होने से अर्थभेद स्पष्ट ही है। समाधि-पाद में समाहितचित्त वाले के लिए ओंकार के ध्यान के द्वारा चित्त को ब्रह्मरूपी लक्ष्य में तदाकार करने का विधान है, जिसका उपनिषदों (श्वेताश्वतर-मुण्डक) में सम्यक्-प्रकार से निरूपण है। यहां ध्यान अथवा समाधिरूपी भक्ति का उल्लेख है, जिसका अनुष्ठान समाहितचित्त वाला ही कर सकता है। परन्तु योगदर्शन साधनपाद (२,१) में स्वकर्तव्यरूप कर्म के फलसमर्पणरूपी भक्ति तथा सामान्य ऊंचे तथा उपांशुजप तथा उसी से सम्बन्धित गीतादि शास्त्रों के अध्ययन का निरूपण है; क्योंकि विक्षिप्तचित्त वाले के लिए इन्हीं का अनुष्ठान सम्भव है। सारांश यही है कि भक्ति तो सब आस्तिकों को अवश्य करनी चाहिए। भजन तथा स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञ) का तीनों वर्णों और चारों आश्रमों के लिए विधान है। परन्तु अवस्था के अनुसार इस भक्ति के बाह्याकार तथा साधन में भेद हो जाता है। प्रजापति की शिक्षा के अधिकारी प्रथम दो कक्षाओं वाले भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार अहिंसा तथा दान के अनुष्ठान के साथ-साथ जपादि भी कर सकते हैं। विक्षिप्तचित्त वाले ओंकारादि के जाप के साथ-साथ गीतादि ऐसे मोक्षशास्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं, जिनमें निष्कामकर्म के महत्त्व का विशद वर्णन हो, वैराग्य का स्वरूप, विषयों के दोषों का विस्तृत विवेचन, ईश्वरभक्ति का लक्ष्य तथा आसक्ति मोह आदि की निवृत्ति के उपायों का विशेष वर्णन हो। जिनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का स्वरूप, उनके फल तथा उपाय आदि सहित विशदविवेचन हो। इस प्रसंग से नीचे कुछ ग्रन्थों के नाम लिखे जाते हैं, जिनका अध्ययन इस स्थिति वाले के लिए विशेष लाभदायक हो सकता है—श्रीमद्भागवत, रामायण, गीता, वैराग्य-शतक, योगवासिष्ठ (वैराग्य-मुमुक्षु प्रकरण), सन्तों के जीवन-चरित्र, नारदभक्तिसूत्र, पारसभाग, योगदर्शन २ य पाद, मनु आदि स्मृतियां तथा न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन। ध्यान तथा ज्ञानप्रधान ग्रन्थों के भी यत्किञ्चित् अध्ययन में दोष नहीं।

१६. समाहितचित्त वाले का मुख्य साधन उपनिषद्-शिक्षा

समाहित चित्त वाला योगदर्शन समाधिपाद में वर्णित ध्यान, समाधिरूपी प्रणिधान (भक्ति) तथा ज्ञानप्रधान उपनिषदों के श्रवणादि के अनुष्ठान का अधिकारी है। निष्काम कर्म की भी उसे आवश्यकता नहीं। अतः सर्वकर्मत्यागरूपी संन्यास तो स्वभावतः उसको प्राप्त है। यदि किसी कारण से अथवा वर्तमान में सब प्रकार की वैदिक पारमार्थिक वर्णाश्रमों की मर्यादाओं के लुप्त हो जाने से, वह स्वरूपतः संन्यास भी ग्रहण करे तो भी ऐसे समाहितचित्त सत्त्वगुणप्रधान मनुष्य के राग-द्वेषादि प्रेरित बाह्य, स्थूल तथा मानसिक व्यापार प्रायः लुप्त से ही होते हैं। और पूर्वप्रयत्नजन्य संस्कारों के कारण

निष्काम भाव से वर्णाश्रमोचित कर्तव्यों तथा सामान्य अहिंसादि धर्मों का आचरण उसके द्वारा स्वभावतः, विना आयास के श्वासोच्छ्वास के समान होता है। इनके विपरीत आचरण करना उसके लिए अस्वाभाविक तथा दुष्कर होता है। और यदि स्वरूपतः संन्यास हो, तब तो इन कर्मों तथा सामान्यधर्मों का क्षेत्र ही विशेष नहीं रह जाता, बहुत सीमित हो जाता है। यदि स्वरूपतः संन्यास न हो तो भी उसके लिए इन धर्मों के स्वाभाविक होने के कारण निष्काम कर्म तथा अहिंसा, ब्रह्मचर्यविषयक शिक्षा, मनन तथा अनुष्ठानादि के लिए उसे विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। अब उसका मुख्य कर्तव्य केवल आत्मसम्बन्धी विचार (श्रवण-मनन-निदिध्यासन) ही हो जाता है। अब इसीकी शिक्षा तथा अनुष्ठान की आवश्यकता है। अब वह अन्य उन सब ग्रन्थों का अध्ययन त्याग सकता है, जिनमें उपर्युक्त निष्कामकर्म, संसारचक्र के भ्रमण के दोष, वैराग्य का स्वरूप तथा महिमा, सामान्य ईश्वरभक्ति, जप आदि तथा योगदर्शनसाधनपाद में वर्णित यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि का विवेचन हो। समाहित हो जाने पर उसे योगदर्शन के समाधिपाद तथा आत्मश्रवण मनन निदिध्यासन सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन, तथा अनुष्ठान की आवश्यकता है। क्योंकि उपनिषदों में प्रधानतया इन्हीं विषयों का उल्लेख है। अतः उपनिषदों के श्रवण में उसका अधिकार है और यही उसकी पिपासा को शान्त कर सकते हैं। इन उपनिषदों का एक-एक वचन ऐसे अधिकारी के लिए अमृत से भी अधिक तृप्तिकर होता है, जिनके अध्ययन से उसके शरीर के अंग-प्रत्यङ्ग में एक तरंग सी चलती है, जो उसे इसप्रकार कम्पायमान तथा विह्वल कर देती है जैसे एक युवक को युवती का दर्शन तथा कथा। वह उपनिषदों में अपनी कथा का ही व्याख्यान पाता है। इनके वचनों के श्रवणमात्र में अन्तरतम परमात्मतत्त्व के आनन्दमय प्रकाश से उसका चित्त ही नहीं शरीर तक भर जाता है। वह अपने आप को भूमानन्द समुद्र में मग्न पाता है। उसका अपना आपा तथा सारा संसार उस आनन्द में लुप्त होता है, मन के सब खेल समाप्त हो जाते हैं। उसके लिए इस आनन्दमयी दशा में उपनिषद् का श्रवण, मनन भी दुष्कर हो जाता है; एक अनन्त दिव्यानन्द में समा जाता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अपनी सत्ता खो बैठते हैं; ये सब नमक के ढेले के समान भूमानन्द सागर में लीन हो जाते हैं, अथवा यदि इनका स्वरूप रहता भी है तो वह आनन्द से भरपूर होता है। इस दशा का वाणी कैसे वर्णन कर सकती है। यह वाङ्मनसागोचर तत्त्व है, जहां से बुद्धि भी लौट आती है, फिर वाणी की वहां पहुंच कहां? इस अवस्था में ही हृदय की सब ग्रन्थियां छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। इस आनन्द में लीन होकर द्वैत अद्वैत का ऊहापोह कौन करे? यहां पहुंचकर अत्यन्त विलक्षण समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा कुछ-कुछ इस स्थिति का वर्णन करती है। यहां परमात्मा रसरूप है, रसराज है। इस रस को पाकर मनुष्यलोक, पितृलोक, तथा देवलोक की (उपनिषद् वर्णित) अनित्यता, नीरसता, तुच्छता प्रत्यक्ष भासने लगती है। योग की विभूतिपाद की अनन्त सिद्धियां यहां अपना महत्त्व खो बैठती हैं। यहां से उस सर्वव्यापक परमानन्द को पाकर किसी दिव्यलोक में इसकी परिच्छिन्न प्रतिकृति (छाया) की उपलब्धि की अभिलाषा नहीं रहती। न उन प्रतिकृतियों के इस मानव लोक में अवतीर्ण करने में ही कुछ सार, महत्त्व

दीखता है, अर्थात् (Ascent or descent) आरोहण या अवरोहण, दिव्यलोक स्वर्ग-लोक या ब्रह्मलोक में आरोहण की अथवा इनको भूलोक में लाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती, निरवच्छिन्न भूमारस में इनका अस्तित्व ही कहां है ? कौन किसको कैसे लाए ? "जहां कोई अन्य सा प्रतीत हो वहां अन्य अन्य को देखता है अन्य सूंघने वाला (घ्राण द्वारा) अन्य गंध को सूंघता है, अन्य रस को चखने वाला (रसना द्वारा) अन्य रस को लेता है, अन्य वक्ता (वाणी द्वारा) अन्य (वाक्य) को बोलता है, अन्य श्रोता (श्रवण द्वारा) अन्य शब्द को सुनता है। जहां पर उपर्युक्त संपूर्ण परमात्मस्वरूप ही हो गया हो, वहां कौन किसको किससे देखे, किसको सूंघे, किसका रस ले; जिससे इस रूप रस आदि सब को जानता है, उसको किससे जाने। यह परमात्मा इन सब करणों के व्यापारों से परे अपनी आनन्दस्वरूप महिमा में स्वयं प्रकाश रहा है। यह अखण्ड तत्त्व कभी किसी प्रकार क्षीण नहीं होता, न ही संसार के तुच्छ दोष, शोक-मोह से लिपायमान होता है, न क्लेश, न दुःख इसका भेदन कर सकते हैं। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को कहते हैं—हे मैत्रेयी ! इस परमविज्ञाता सत्र को प्रकाशित करने वाले सूर्य को कोई प्रकाशित नहीं कर सकता है, जैसे चन्द्रादि अपने प्रकाशित करने वाले सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकते। यही परम अमृत है। इससे परे या उत्कृष्ट कुछ नहीं है। ऐसे परमरस से सने हुए वचन कह कर याज्ञवल्क्य वन को प्रस्थान कर गये" बृहदारण्यकोपनिषद् (४,५,१५*)। यह वह स्थान है जहां पहुंच कर कोई वहां से लौट नहीं सकता है; यदि लौट भी आवे तो उस भूमा का इन परिच्छिन्न शब्दों से कैसे वर्णन करे। इससे सन्नद्ध होकर इस भूमा रस को चहुं ओर से चख कर, इस रस को निकटतम अन्तरात्मा में नित्य पान करके और किस दूसरे अवच्छिन्न रस की शरण में सातवें लोक (सत्यलोक) में जाए, अथवा सत्यलोक को यहां भूमि पर अवतीर्ण करे। यह बाह्य रति, विभूति, ऐश्वर्य, विज्ञान, सम्पत्ति आदि सब तभी तक प्रिय लगती हैं जब तक परमात्मरति की अनूठी रेखा का इस चित्त ने आलिंगन नहीं किया। रसानुभूतियों का तारतम्य अनन्त है, इनमें से प्रत्येक अत्यन्त प्रिय तथा विस्मयकारी है तथा उसमें अनन्त की भ्रान्ति हो सकती है। इस भ्रान्ति के आधार पर आरोहण का रमणीक प्रलोभनमय महल खड़ा है। यह बहिर्मुखता का ही एक चिह्न है। अभी प्रकृति देवी ने अपने दिव्य वस्त्र को फैलाया हुआ है और उस वस्त्र के पर्दे में से छन छनकर परमानन्द का रस थोड़ा बहुत आ रहा है, तभी तो लोकों के आरोहण अथवा प्रत्यारोहण की चर्चा तथा क्रिया रमणीक तथा वास्तविक ध्येयरूप में भास रही है। यदि उस रसरूप भूमा की यथार्थरूप में उपलब्धि हुई होती तो ऐसी

* यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं रसयते, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं स्पृशति तदितर इतरं विजानाति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कं रसयेत, तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते ऽशीर्यो नहि शीर्यते, असंगो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते, न रिष्यति, विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होवाच याज्ञवल्क्यो विजहार ॥

दशा न होती। उस दशा का वर्णन तो ऋषि इस प्रकार करते हैं। परमात्मा ही ऊपर, नीचे, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में व्याप्त है, वही सब कुछ है; ऐसे भूमात्मा को देखने वाले श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा साक्षात् करने वाले की आत्मा में ही रति, आत्मा में ही क्रीड़ा-खेला, आत्मा से ही मिथुन (प्रेम) और आत्मा में ही आनन्द होता है। वही परमार्थ के चक्रवर्ती राज्य को प्राप्त होता है। उसकी भूमा से भिन्न अन्यत्र भू आदि लोकों, योग-विभूतियों, सर्वज्ञता, सर्वभावाधिष्ठातृत्व, लोक-आरोहण, लोक-प्रत्यारोहण दूर-श्रवण-दर्शन आदि में कहीं रति नहीं रहती। ऐसा परवैराग्यसम्पन्न तथा समाहितचित्त वाला जिज्ञासु उपनिषदों का अधिकारी होता है। उसे उपनिषदों में कुछ भी विचित्र, असम्भव, नीरस, शुष्क, कल्पनामात्र तथा गाथारूप प्रतीत नहीं होता। उसके लिए तो उपनिषद् का वर्णन परम-सरस, परमरहस्यमय तथा परमसम्पद्रूप है। परन्तु जो शुद्धसत्त्वप्रधान नहीं हैं उनके लिए उपनिषद् का वर्णन एक असम्भव कल्पनामात्र शुष्क-गाथा है। वे इसके रहस्यमय वचनों के परमतात्पर्य को न समझ कर केवल शुष्क तर्क तथा शब्दपाण्डित्य के बल पर अर्थ का अनर्थ करते हैं और अपने आप को ईशकोटि के सिद्ध मानने का ढोंग रचते और अपनी लौकिकवासनाओं की पूर्ति में सर्वोपनिषद् विद्या का दुरुपयोग करते हैं। उपनिषद् केवल आत्मतत्त्व का निरूपण करते हैं। इनमें अन्य सामान्यधर्म, वैराग्य तथा भक्ति आदि का भी विशेष निरूपण नहीं है। इनमें तो प्रायः उस अद्वितीय परमात्मतत्त्व का निरूपण है जिसके लिए सामान्य भक्ति की अपेक्षा नहीं; परन्तु एषणाओं से मुक्त, केवल परमात्मा में ही परम इष्टबुद्धि वाले व्यक्ति के लिए अन्य साधनों के अतिरिक्त श्वेताश्वतर के (६,२३) अन्तिम श्लोक में ईश्वर तथा गुरु में परम अनन्य भक्ति, श्रद्धा का विधान किया गया है। जो मूढ, क्षिप्त तथा विक्षिप्त भूमि वाले पथिक हैं उनके लिए अपनी अवस्था के अनुसार उपयुक्त साधनों का अवलम्बन तथा उन साधनों के ही निरूपण करने वाले शास्त्रों का अध्ययन लाभदायक हो सकता है। अन्यथा दुराग्रह भ्रान्ति, प्रलोभन तथा मोह के वश केवल ब्रह्म-आत्मा का उपदेश करने वाले उपनिषद् रत्नों के अध्ययन से उभय भ्रष्ट होकर वे पतित अवस्था को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सब के लिए अपनी अपनी अवस्था तथा अधिकार के अनुसार ही भक्ति आदि साधन श्रेयस्कर होते हैं। उपनिषद् केवल पराभक्ति का स्वरूप तथा फल और अन्तरतम अन्तरंग साधनों का ही निरूपण करते हैं। अतः जो अन्तरंग साधनों की योग्यता से सम्पन्न है वही इन का अधिकारी है। उपर्युक्त समाधान के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त उच्च कोटि का योगी ही उपनिषद्-विद्या का अधिकारी हो सकता है। अतः योग द्वारा मन को एकाग्र तथा बुद्धि को शुद्ध किये बिना केवल श्रवण मनन के आधार पर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

अन्तरंगविहीनस्य कृताः श्रवणकोटयः।

न फलन्ति यथा योद्धुरधीरस्यात्र संपदः॥ सर्ववेदान्त सिद्धान्त सारसंग्रह २२५

विवेक वैराग्य आदि साधन-चतुष्टय-रहित अनधिकारी को कोटिशः उपनिषद् श्रवण करने पर भी आत्मसाक्षात् रूप फल की प्राप्ति नहीं होती, जैसे अधीर योद्धा वैभव, राज्य आदि सम्पत्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।

सातवां अध्याय समाप्त।

आठवां अध्याय

मुमुक्षा

१. मुमुक्षा का अभिप्राय

साधन-चतुष्टय के तीन भागों का विवेचन हो चुका है। वे तीन भाग इस प्रकार विवेचित किये गये हैं—(१) नित्यानित्य वस्तु विवेक; (२) विवेकजन्य अनित्य मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक के सम्पूर्ण भोगों से वैराग्य; (३) विवेक तथा वैराग्य के प्रभाव से अनात्मदेहादि की प्रवृत्ति तथा व्यवहार का निरोध-रूपी षट्-सम्पत्ति। इस षट्-सम्पत्ति के निम्नलिखित छः अंगों का भी वर्णन हो चुका है—(क) दम—बाह्य ज्ञानेन्द्रियों का निरोध; (ख) शम—मन का निरोध, (ग) उपरति—कर्मेन्द्रिय निरोध, विधिपूर्वक कर्मत्याग-रूपी संन्यास; (घ) तितिक्षा—शरीर, प्राण, और मन विषयक क्षुधा, पिपासा आदि द्वन्द्वों की सहिष्णुता; (ङ) श्रद्धा—ईश्वर तथा गुरु में अनन्यविश्वास; (च) समाधान—चित्त की स्थिरता। अब इस साधन-चतुष्टय के चतुर्थ अंग मुमुक्षा का, जो इन सब का मूल कारण, नियन्ता, तथा प्रेरक है; निरूपण किया जाता है।

जिस उद्देश्य को सामने रख कर जिज्ञासु विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति आदि महान् दुर्लभ तथा अत्यन्त परिश्रम-साध्य सामग्री का सम्पादन करता है, वर्णाश्रम संबंधी शास्त्रोक्त कर्मों को करता है तथा यम-नियम आदि अनेक व्रतों का आचरण करता है, वह उद्देश्य मोक्ष ही है। त्रिविध-दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति-रूपी मोक्ष की इच्छा ही मुमुक्षा है।

मोक्ष का अर्थ है दुःख से छूटना। सब प्राणी अनेक दुःखों से दिन-रात उद्विग्न रहते हैं। उनकी निवृत्ति के लिए उपाय करना प्राणिमात्र का स्वभाव है। जैसे अग्नि का स्वभाव दग्ध करना होता है। कीट, पतंग, मच्छर तक सभी यही इच्छा रखते हैं और इसी प्रयोजन के लिए सब चेष्टा करते हैं। अन्य प्राणियों की तो कथा ही क्या है, मनुष्य भी अनेक यत्न करने तथा दिन रात सिर पटकने पर भी अपने इस उद्देश्य में सफल नहीं होता। बड़े-बड़े शक्ति और वैभवशाली राजा-महाराजाओं के पास अनन्त सामग्री होते हुए भी उनके दुःखों का अन्त नहीं होता। पहले तो सब दुःख निवृत्त नहीं होते, हर समय एक न एक दुःख बना ही रहता है। यदि कोई निवृत्त होता भी है, तो थोड़े समय बाद फिर आ तंग करता है। बड़े से बड़े राजा को भी हर समय भय बना ही रहता है। क्षुधा-पिपासा, शीतोष्ण, शोक-मोह दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों से किसका छुटकारा हुआ है। और मृत्यु तो सब उत्पन्न होने वाले प्राणियों के पीछे लगी हुई है ही। इसलिए किसी एक आध दुःख से अल्प-काल के लिए छुटकारा पा जाने से भी प्राणि-मात्र को इष्ट की उपलब्धि नहीं होती। यह सूचित करता है कि उपाय में दोष है। प्राणिमात्र लक्ष्य के विषय में सांख्य-दर्शनकार कपिल से सहमत हैं, जिनका कथन है कि त्रिविध-दुःख की निवृत्ति ही

सब को इष्ट है। वे त्रिविध दुःख इस प्रकार हैं—(१) आध्यात्मिक—शरीर तथा अन्तःकरण में अपने से ही होने वाले रोग तथा मानसिक क्लेश आदि दुःख। (२) आधिभौतिक—अन्य प्राणियों सर्प, बिच्छू आदि से प्राप्त होने वाले दुःख और (३) आधिदैविक—आतप वर्षा आदि दैवी शक्तियों से प्राप्त होने वाले दुःख। कहा जा सकता है कि निद्रा आदि की दशा में भी तो सब दुःखों की निवृत्ति हो जाती है, परन्तु निद्रा आदि के भंग होने पर पुनः दुःख की धारा बहने लगती है, इससे पता चलता है कि उस समय भी दुःखों का बीज बना रहता है, नहीं तो फिर इस दुःख का उद्गम कहां से होता। कहा जा सकता है कि इस शरीर के होते हुए प्रिय (सुख) तथा अप्रिय (दुःख) का नाश नहीं होता क्योंकि शरीर तो क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त हो रहा है, अनेक विकार इसे दिनरात घेरे रहते हैं; अतः शरीर को ही दुःख कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसीलिए न्यायशास्त्र में भी कहा है कि दुःख का कारण जन्म (शरीर) है, क्योंकि शरीर ही का जन्म होता है और जहां जन्म न हो वहां दुःख नहीं, तथा जन्म से मृत्युपर्यन्त अनेक दुःख इस देही को घेरे रहते हैं। असुराधिपति विरोचन के समान जिनकी इस शरीरमात्र पर ही दृष्टि होती है, वे धन के मद में मस्त इन शारीरिक भोगों में ही रत रहते हैं। इसे ही दिनरात सजाते हैं तथा दुःख और मृत्यु से आंख मूंदने का प्रयत्न करते हैं। दुःख के सर्वथा नाश को असंभव मानते हैं, जहां तक सामान्य उपायों से हो सकता है इन दुःखों का प्रतीकार करते हैं। कठोपनिषद् में इसी श्रेणी के लोगों के विषय में वर्णन आता है कि ये लोग ऐसा मानते हैं कि देह तथा दृष्टलोक ही हैं, अन्य लोक (जन्मान्तरप्राप्ति) कोई नहीं, इस प्रकार वे यम की अवहेलना करते हैं। परन्तु यम तो इनकी ओर से आंख नहीं मूंदता और वह इन्हें बार-बार जन्म-मरण के पाश में फंसाता है (कठ २,६*)। केवल मृत्यु से इस दुःख का अन्त नहीं होता, यह जन्म-चक्र चलता ही है।

२. दुःख का कारण तथा उसकी निवृत्ति के उपाय का विवेचन

अब यह प्रश्न होता है कि इस जन्म का कारण क्या है ? उत्तर मिलता है कि इसका कारण प्रवृत्ति अर्थात् अनेकप्रकार के धर्माधर्म-रूपी कर्म हैं। उनका फल भोगने के लिए अवश्य जन्मान्तर-प्राप्ति होगी अन्यथा इस जन्म तथा जन्म के प्रारंभ में ही भोग-भेद का क्या कारण है ? प्रश्न—इस जन्म में प्रवृत्ति का क्या कारण है ? उत्तर—प्रवृत्ति का कारण राग-द्वेष आदि दोष हैं (न्यायसूत्र १,१,२†)। मनुष्य की सम्पूर्ण प्रवृत्ति का कारण इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट की निवृत्ति है। इष्ट-प्राप्ति की इच्छा का नाम ही राग है। अनिष्ट दुःख-अनुभवजन्य स्मृति के कारण दुःख तथा दुःख के साधन के प्रति विरोधी भाव—क्रोध—तथा उसके नाश की जो इच्छा उत्पन्न होती है उसी का नाम द्वेष है (योगसूत्र २,८‡)।

* न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इतिमानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

† दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥

‡ दुःखानुशायी द्वेषः॥

अब प्रश्न होता है कि राग द्वेष का क्या कारण है ? उत्तर—राग द्वेष का कारण मिथ्या-ज्ञान, अविद्या है (न्यायदर्शन १,२)। योगदर्शन (२,२,५*) में अविद्या का लक्षण इस प्रकार किया गया है—अनित्य—कार्यमात्र देहादि—में नित्यबुद्धि, अपवित्र देहादि में पवित्र भावना; विषयादि दुःखमूल में सुखबुद्धि तथा देहादि अनात्मपदार्थों में आत्मबुद्धि अर्थात् इस प्रकार की अयथार्थबुद्धि का नाम ही अविद्या—अज्ञान—है। अन्य शास्त्रों में भी अविद्या के इससे मिलते जुलते लक्षण किये गये हैं। मिथ्याज्ञान के नाश का उपाय है ज्ञान, अर्थात् अपने स्वरूप का यथार्थ प्रत्यक्षज्ञान इसके स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर से पृथक् शुद्धस्वरूप का यथार्थ बोध। इस शुद्धस्वरूप के ज्ञान के विना अज्ञान और उससे उत्पन्न होने वाले रागादि की निवृत्ति कदापि नहीं होती। और ज्ञान हो जाने पर रागादि का अस्तित्व नहीं रहता। उस परमपुरुष को जानकर मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस महान् दुःख से बचने का अन्य कोई उपाय नहीं है (ऋग्वेद†)। यदि आकाश को चर्म के समान लपेट सकना मनुष्य के लिए सम्भव हो सकता हो तो उस देव को विना जाने वह दुःख से भी छूट सकता है। अर्थात् विना भगवत्साक्षात्कार के दुःख से छूटना असंभव है (श्वेताश्वतर ६,२०‡)।

३. दुःख की निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति का एकमात्र उपाय परमात्म-साक्षात्कार

परमदेव के ज्ञान का फल केवल दुःख की निवृत्ति ही नहीं है, परंच सुख की प्राप्ति भी है। प्राणी केवल दुःखनिवृत्ति ही नहीं चाहता, परंच सुख की प्राप्ति की इच्छा भी इसमें स्वाभाविक है। इसे सुख में इतना अधिक मोह है कि प्रायः थोड़े से सुख के लोभ (आसक्ति) से भी वह महान् दुःख को स्वीकार कर लेता है। इस ब्रह्म को जानने वाला परमोत्कृष्ट सुख को भी प्राप्त करता है (तैत्तिरीय २,१§)। चक्रवर्ती राजा, देवेन्द्र तथा प्रजा-पति ब्रह्मा का सुख भी उस सुख की तुलना नहीं कर सकता। वह ब्रह्म रसरूप ही है, उस रस को पाकर मनुष्य पारमार्थिक रूप से आनन्दवान् होता है (तैत्तिरीय)। निराहार के (विषय न सेवन करने वाले के) विषय तो निवृत्त हो जाते हैं परन्तु उन विषयों में रस, तृष्णा, लालसा तथा सुख की आशा बनी रहती है। उस परम, दिव्य, रसराज को पाकर तो अन्य सर्वपदार्थ नीरस, सारहीन तुच्छ हो जाते हैं। अर्थात् उस ब्रह्म के दर्शन-मात्र से अज्ञान निवृत्त हो जाता है (गीता)। जिस के कारण (१) सर्वपाशमोचन—शरीर, कर्म आदि बन्धनों की निवृत्ति (२) शोकराहित्य तथा (३) आत्मस्वरूपसम्पत्ति का लाभ होता है। ऐसा भाव अनेक मोक्षप्रतिपादक श्रुतियों में दीखता है। विद्वान् नामरूपा-त्मक संसार-पाश से मुक्त होकर, अक्षर-प्रकृति-से भी सूक्ष्म तथा उत्कृष्ट पुरुष के साथ

---

* अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। योग २,५

† तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ऋग्वेद

‡ यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

§ ओ३म् ब्रह्मविदाप्नोति परम् ॥

परमसाम्य को प्राप्त होता है (मुण्डक ३,२,८)। देव को जान कर सर्वपाश (अज्ञान,-शरीरादि) से मुक्त हो जाता है। उस शुद्ध तथा शबल ब्रह्म के दर्शन करने पर हृदय-ग्रन्थि (अनात्म-अहंकाररूपी) खुल जाती है। इसके कोटि-जन्मों के उपार्जित कर्म नष्ट हो जाते हैं, और इसके संपूर्ण संशय निवृत्त हो जाते हैं, (मुण्डक २,२,९*)। "जिस ज्ञान-दशा में सब प्राणी अपना आत्मा ही हो जाते हैं, ऐसा एकत्वदर्शी, अभेददर्शी (सब प्राणियों में अपने आप को देखने वाले) को फिर शोक तथा मोह कहां, कैसे हो सकता है? (ईश ७†)।

४. वास्तविक मुमुक्षा का स्वरूप

इस प्रकार जब मनुष्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की अभिलाषा करता है और शास्त्र तथा गुरुवचनों से यह निश्चय करता है कि इन दुःखों का मूल कारण शरीर तथा शरीरादि अनात्मपदार्थों का अभिमान है। और यह धर्माधर्म से उत्पन्न होने वाला अनन्त दुःख का चक्कर है जो इस शरीर के समाप्त हो जाने पर भी बन्द नहीं होता। यह जन्म-मरण की निरवच्छिन्न धारा अनादिकाल से बह रही है, तिर्यक्, कीट पतंग आदि अधम, मनुष्यादि मध्यम तथा देवादि उत्तम योनियों में जाकर भी यह चक्कर समाप्त नहीं होता, वरन् देव-पद से भी पतन अनिवार्य है। तब अपने आप को इस दृढ अच्छेद्य, अभेद्य शरीरों की शृङ्खला में बंधा हुआ देखकर घबराता है। जैसे वामदेव ऋषि ने पूर्व पुण्य, तप तथा विद्या के प्रभाव से जब गर्भ में ही अपने अनन्त पूर्व जन्मों को देखा (ऐतरेय ४,५‡)। वही इस अनादि दुःख-परम्परा से जिस किसी प्रकार से छूटने के लिए विह्वल हो जाता है। यह दुःखवाद (Pessimism) कोई दुर्बल, हताश भारतवासी हिन्दुओं की भ्रान्तबुद्धि की उपज नहीं है। परन्तु जिस किसी ने भी वित्त-मोह की पट्टी उतार कर, सूक्ष्म शुद्धबुद्धि के द्वारा इस दुःख की धारा का निरीक्षण किया, वह अवश्य इसी निश्चय पर पहुंचा है कि यह दुःख की धारा अनादि, अनन्त अनवच्छिन्न रूप से बह रही है। यूरोप में भी ऐसे दार्शनिकों का अभाव नहीं है।

इस दुःख की अनवच्छिन्न धारा को तथा इसके कारण अनात्माभिमान को परमात्मा के साक्षात्कार के द्वारा निवृत्त कर देने रूपी मोक्ष की इच्छा का नाम मुमुक्षा है।

५. मुमुक्षा का महत्त्व

मोक्ष ही ब्रह्मविद्या का प्रयोजन है। मोक्षरूपी प्रयोजन वाला व्यक्ति ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। जैसे किसी महान् प्रासाद के निर्माण की इच्छा ही ईंट,

* भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

† यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

‡ गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदहं देवानां जनिमानि विश्वा॥

पत्थर, चूना आदि सब सामग्री के उपार्जन में हेतु होती है उसी प्रकार मुमुक्षा ही षट्-सम्पत्ति आदि अन्य सब सामग्री का कारण है। मुमुक्षा का कारण नित्यानित्य वस्तु-विवेक अथवा जन्म-जन्मान्तरों के दुःख-समूह का चिन्तन होता है। इसीलिए कहा है कि जिस जिज्ञासु में वैराग्य तथा तज्जन्यमुमुक्षा तीव्र हो उसमें ही शमादि-सम्पत्ति फलवती होती है। और जहां यह मन्द होती है, वहां शमादि-साधन मरुभूमि के जल के समान आभासमात्र—प्रतीतिमात्र—होते हैं। परमदेव में अनन्यभक्ति ही मोक्ष की सामग्री के संग्रह में एक सर्वोत्कृष्ट, अत्यन्त सामर्थ्यवान् कारण है। मोक्ष और परमभक्ति में यत्किञ्चित् भी भेद नहीं क्योंकि प्रीति द्वारा परमात्मप्राप्ति ही मोक्ष का हेतु अथवा मोक्षस्वरूप ही है (विवेकचूडामणि-३०-३२*)। मुमुक्षा तो षट्-सम्पत्ति को उत्पन्न कर सकती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जहां पर शम, दम, समाधानादि हों वहां मुमुक्षा भी अवश्य हो, क्योंकि इन्द्रियों का दमन अनेक अन्य प्रयोजनों से भी किया जा सकता है। राज्यवैभव, मान-प्रतिष्ठा आदि के कारण संयमित जीवन होता है अतः इन उद्देश्यों के लिए भी मनुष्य अपनी इन्द्रियों को संयमित करता है। शत्रु को विजय करने की कामना से बल-सञ्चय के लिए तथा लोक-भय से भी ब्रह्मचर्य का पालन हो सकता है। संसार में तीरअंदाजी, रागविद्या अथवा वैज्ञानिक अन्वेषण आदि अनेक ऐसे कार्य होते हैं जिनमें समाधान की पराकाष्ठा हो जाती है। परन्तु मुमुक्षा का अभाव होता है। ऊपर दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि लौकिक-उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी शम, दम, समाधानादि गुणों का सम्पादन किया जाता है। इसलिए षट्-सम्पत्ति की अपेक्षा मुमुक्षा का बहुत अधिक महत्त्व है। षट्-सम्पत्ति मुमुक्षा को उत्पन्न नहीं कर सकती, परन्तु मुमुक्षा अन्य सम्पूर्ण सामग्री को उत्पन्न कर सकती है। प्रयोजन से ही प्रवृत्ति होती है, इच्छा-रहित तथा प्रवृत्ति-रहित को फल की प्राप्ति असंभव है। जिसको मोक्ष की इच्छा ही नहीं उसे मोक्ष कहां से कैसे मिल जाएगा?

६. मुमुक्षा के चार भेद तथा उनके भिन्न-भिन्न फल

अन्य साधनों के समान इस मुमुक्षा के भी चार भेद हैं। १. तीव्र २. मध्य, ३. मन्द तथा ४. अतिमन्द। इनके लक्षण तथा फल इस प्रकार हैं:—

१. तीव्र—तीव्रमुमुक्षु वह है जिसका अन्तःकरण अनेक त्रिविध तापों द्वारा तप्त होने के कारण अतिक्षोभ को प्राप्त हो जाता है और इसलिए जो संपूर्ण देह, गेह, स्त्री, पुत्र, धन, वैभव को अनन्त अनर्थों का द्वार समझ कर तप्त लोहे के समान तत्क्षण छोड़ देता है।

२. मध्य—मध्यजिज्ञासु वह है जो त्रिविधताप का तीव्र अनुभव करता है तथा आत्मवस्तु का विचार करता है। अपने पुत्रादि के त्याग के लिए दुःख तथा आत्मवस्तु

---

* वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते। तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः॥
एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तत्वमुमुक्षयोः। मरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भासमात्रता॥
मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी। स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते॥

को तोलता रहता है कि क्या करूं, यह, योग छोड़ कर परमार्थसाधन में तत्पर हो जाऊं या न होऊं।

(३) मन्द—मन्दमुमुक्षु इस प्रकार विचार करता है कि मोक्ष भी समय (वृद्धावस्था) आदि में होता है। उचित समय पर ही सब कार्य होते हैं, शीघ्रता, अधीरता क्या है? सब भोगों को भोग कर और सब लौकिक कार्य समाप्त कर मुक्ति के लिए यत्न करूंगा; ऐसी बुद्धि को मन्द मुमुक्षा कहते हैं।

(४) अतिमन्द—मार्ग में चलते पथिक के समान अनायास ही मोक्ष पद मिल जाए तो बड़े भाग्य की बात है। ऐसी आशा से युक्त अतिमन्द पुरुषों की बुद्धि होती है। भला ऐसे अमूल्य पदार्थ (चक्रवर्ती राज्य के समान) भी अनायास किसी को मिले हैं। इन पर तो यह कहावत चरितार्थ होती है—"तख्त या तख्ता"। सर्वत्याग परायण बुद्धि वाले ही राज्यसिंहासन को प्राप्त करते हैं, उससे विपरीत बुद्धि अतिमूढ होती है, यही अतिमन्द-जिज्ञासा है।

७. भिन्न-भिन्न मुमुक्षा के फल

(१) अनेक सहस्र जन्मों में जिसने तप, कर्तव्यपरायणता आदि द्वारा ईश्वर का आराधन किया है। जिस पुण्य के प्रभाव से उसके हृदय का मल पूर्णतया धुल गया है, ऐसा शास्त्र का ज्ञाता, गुणदोष को जान कर, नित्यानित्यविवेकी, भोगमात्र में स्पृहा-रहित, मुक्ति की इच्छा के दृढव्रत वाला, जिसप्रकार प्राकृतजन अग्नि के समान तप्त-पात्र को तुरन्त विना विचारे छोड़ देता है, ऐसे ही जो द्विज तीव्र मोक्षेच्छा से गृहादि को त्याग देता है, वह गुरुकृपा से संसारबन्धन से शीघ्र इस जन्म में ही, मुक्त हो जाता है। (२) मध्यम जन्मान्तर में मुक्त हो जाता है। (३) मन्दमुमुक्षु युगान्तर में मोक्ष को पाता है। और (४) अतिमन्द कोटिकल्प में भी मुक्त नहीं होता क्योंकि यहां तो मुमुक्षा का अभाव ही है।

दूसरा खण्ड समाप्त।



तृतीय खण्ड

आधार वाक्य

**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यः ।** बृ. उ. ४,५,६.

अर्थः—अरे मैत्रेयि ! आत्मा का उपनिषद्रूपी ब्रह्मविद्या के
श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरुमुख से श्रवण, मनन
तथा निदिध्यासन द्वारा दर्शन
करना चाहिये ।

तृतीय खण्ड के प्रत्येक अध्याय में आने वाले आधार वाक्य

पहला अध्याय—आधार वाक्य

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ ईश. उ. ११.

अर्थः—जो मनुष्य अपनी योग्यतानुसार अविद्या (शास्त्रोक्त कर्म) तथा विद्या (उपासना तथा ज्ञान) का संपादन करते हैं, वे अविद्या (कर्म) द्वारा मृत्यु (पाप तथा भोगवासना) से मुक्त हो जाते हैं और उपासना तथा ज्ञान द्वारा अमृत पद को प्राप्त होते हैं।

दूसरा अध्याय—आधार वाक्य

(क) यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठ. ६, १४.

(ख) यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ श्वेताश्वतर. ६,२०.

अर्थः—(क) जब इस मनुष्य के हृदय में निवास करने वाली सम्पूर्ण कामनायें निवृत्त हो जाती हैं, तब यह मृत्यु रूप संसार से मुक्त होकर अमृतधाम को प्राप्त होता हैं और परमानन्द को लाभ करता है।

(ख) सम्भव है कि कोई आकाश को चर्म समान लपेट ले, परन्तु सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार विना दुःख का अन्त कदापि नहीं हो सकता।

तीसरा अध्याय—आधार वाक्य

आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृ. उ. ४,५,६.

अर्थः—आत्मदर्शन के लिए (उपनिषद्) शास्त्र ही एक मात्र प्रमाण है परन्तु साधारण जिज्ञासु को श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की सहायता के विना आत्मदर्शन असंभव है।

चौथा अध्याय—आधार वाक्य

आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृ. उ. ४,५,६.

अर्थः—शास्त्रतात्पर्य-विरुद्ध संशय उत्पन्न होने पर कुतर्क के परिहार के लिए शास्त्रानुमोदित तर्क का आश्रय अनिवार्य हो जाता है।

पांचवां अध्याय—आधार वाक्य

आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृ. उ. ४,५,६.

अर्थः—शास्त्रानुमोदित श्रवण, मनन अथवा निदिध्यासन ही ब्रह्मदर्शन में सहायक है। इसलिए इस दृष्टि से प्रथमतः श्रवण अनिवार्य है।

तीसरा खण्ड

पहिला अध्याय

कर्म का रहस्य

१. शास्त्रोपदेश के अधिकारी दो वर्गों में से प्रथम वर्ग—संसारगति-यम-नियम प्रायश्चित्त

चतुर्थ अध्याय में उपनिषद् गाथा के प्रसंग से प्रजापति के द द द उपदेश में शास्त्रोपदेश के अधिकारियों के दो प्रधान वर्ग किये गये हैं। प्रथम वर्ग उनका है, जिनका उद्देश्य सांसारिक भोग, जाया, पुत्र, धन, वैभव, राज्य, देव-पितृलोक आदि होते हैं। इनका वर्णन असुर तथा मनुष्य नाम से किया गया है। इन्हें हिंसा तथा लोभ से निवृत्त करने के लिए दया तथा दान का उपदेश किया गया है। अहिंसा के पालन करने में या हिंसा के त्याग में असत्य, क्रोध, निन्दा आदि पाप-रूपी मल-दोष के त्याग का समावेश हो जाता है। इसीप्रकार लोभ का त्याग करने के लिए जब दान का आचरण किया जाता है तब इस उपदेश में सम्पूर्ण पुण्य यज्ञ, तप, तीर्थ, शौच, सन्तोष आदि का समावेश हो जाता है। जिस प्रकार किसी वस्त्र पर रंग चढ़ाना हो तो पहले मिट्टी या साबुन से उसके मल को निकाल कर निर्मल किया जाता है और इसके पश्चात् रंग चढ़ाने से रंग अच्छी प्रकार उस कपड़े पर चढ़ जाता है, नहीं तो मलिनवस्त्र में रंग विकृतरूप को धारण कर लेता है, शुद्ध तथा उज्ज्वल रंग नहीं चढ़ता। इसीप्रकार मन को दान, यज्ञ, शौच, सन्तोष आदि शुभ गुणों से युक्त, संस्कृत तथा सुसज्जित करना हो, तो पहिले उस मन के मल-हिंसा, असत्य, क्रोध आदि को हटाना अनिवार्य होता है। नहीं तो उन्नति के स्थान पर अवनति हो जाती है। हिंसा-त्याग के विना दान दिखलावा या दम्भमात्र हो जाता है। जिसका चतुर मनुष्य प्रायः दूसरे भोले मनुष्यों को ठगने के लिए दुरुपयोग करते हैं। इसका फल परलोक में महान् अनर्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यदि मनुष्य का भाव तो शुद्ध हो, परन्तु अविवेक के कारण वह केवल दानादि आचरणों को करे और हिंसा तथा दूसरों के धनादि अपहरण रूपी पापों के त्याग की ओर विशेष ध्यान न दे, तो उसका यह आचरण अविवेक तथा अज्ञानपूर्वक ही माना जायगा और उसे इनका कटु-फल भोगना पड़ेगा। इसी प्रसंग की चेतावनी के लिए मनु महाराज का यह वचन है:—

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ ४,२०४

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जब तक अपने मन के मलिन संस्कारों के या सामान्य सामाजिक पतितावस्था के कारण हिंसादि दोषों का पूर्णतया त्याग न कर सके

तब तक यज्ञ-दानादि का आचरण ही न करे। क्योंकि एक तो इस संसार में हिंसामात्र का स्वरूपतः त्याग असंभव सा ही है, दूसरे जीव जीव का भोजन है। यदि साक्षात् अन्य प्राणी के मांस का भोजन न भी किया जाय, तो भी खाने, पकाने, नहाने, धोने, चलने फिरने आदि में भी अन्य प्राणियों की हिंसा अनिवार्य ही है। इसके आधार पर मांसाहारी मांसभक्षण का समर्थन किया करते हैं। परन्तु अनिवार्य, अपरिहार्य दोष के आधार पर सामान्य परिहारदोष की निर्दोषता सिद्ध नहीं की जा सकती। मांसाहारियों को इसप्रकार विवेकशून्य नहीं होना चाहिए। स्वतन्त्र अनिवार्य हिंसा के अतिरिक्त प्रायः प्रत्येक शुभकाम यज्ञ आदि में कुछ न कुछ हिंसा अनिवार्य होती है। अतः इस हिंसा के भय से तो इन शुभकर्मों का आचरण ही नहीं हो सकेगा। परन्तु दान, तप आदि का शुभ भावना से आचरण करते हुए, इनका सदुपयोग पूर्व ज्ञात अथवा अज्ञात पापों की निवृत्ति के लिए भी किया जा सकता है। ऐसा प्रायश्चित्त सामान्य मानवीय व्यवहार तथा मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है। यद्यपि इसका दुरुपयोग हो सकता है; परन्तु ऐसा कौनसा सदुपदेश है जिसका विवेक-च्युत मनुष्य दुरुपयोग नहीं करता। चोरों के भय से धनोपार्जन नहीं त्यागा जा सकता। जब कभी कोई मनुष्य मोह-क्रोध-आदि भावों के वश हो कर दूसरे व्यक्ति पर अत्याचार करता है, तब कुछ समय के पश्चात् आवेगों के शान्त हो जाने पर उसको अपने किये दुष्कर्म पर पश्चात्ताप होता है। और उसके मन में स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न होती है कि वह उस अत्याचार की निवृत्ति के लिए उस व्यक्ति का किसी न किसी रूप में भला करे, कुछ हित साधन करे, केवल क्षमायाचना आदि से वह सन्तुष्ट नहीं होता। उसका कुछ उपकार-विशेष करके वह मन में अधिक स्वच्छता का अनुभव करता है।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ गीता १८,५

"यज्ञ, दान और तप आदि कर्मों को छोड़ना नहीं चाहिए, करना ही चाहिए। ये यज्ञ, दान आदि शुभ-कर्म विचारशील मनुष्यों को पवित्र करने वाले हैं।" इस प्रकार यह प्रायश्चित्त भी मानवीय स्वभाव के अनुकूल ही है। ऐसा शास्त्रोपदेश मनोविज्ञान के आधार पर ही है। परन्तु जैसे ऊपर कहा गया है इन शुभ-कर्मों का उपयोग दूसरों को ठगने के लिए नहीं करना चाहिए। इस विषय में सावधान होने की आवश्यकता है, क्योंकि यह विषय गहन है। गीता में कहा है:—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ गीता ४,१६

"मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इस विषय में विद्वान् लोगों को भी भ्रम हो जाता है। इसलिए मैं तुझे कर्म के विषय में कहता हूं, जिसे जानकर तू अशुभ से मुक्त हो जायगा।"

२. शास्त्रोपदेश का अधिकारी द्वितीय वर्ग—परमगति का इच्छुक

प्रथम वर्ग का अधिकारी पाप का त्याग तथा पुण्य का आचरण करता है। परन्तु उसका लक्ष्य सांसारिक भोग ही होता है। यहां वर्णाश्रम के अनुसार बाह्याचरण

में अवश्य भेद होता है। परन्तु सांसारिक भोगरूपी ध्येय की समानता होने के कारण इनको एक ही वर्ग में रखा गया है। दूसरे वर्ग का सामान्य लक्षण, सांसारिक भोगों के अनित्यत्व आदि दोषों का निरीक्षण करके इन से उपरमता या विमुखता ग्रहण करना है। इसके भी कई अवान्तर भेद हो सकते हैं। प्राप्तव्य लक्ष्य के भेद तथा अन्य कई कारणों से मार्ग में भी भेद हो सकता है। जैसे—निष्काम-कर्मयोग, वैराग्य, वितृष्णा, अनासक्तियोग, ध्यानयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, राजयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग। परन्तु अपनी-अपनी समझ के अनुसार इन सब में सांसारिक भोगों से विमुखता समान ही है। सभी मोक्ष-धर्म मार्ग के अवलम्बी हैं। कभी-कभी इस वर्ग की बाह्यधर्म तथा आचरण में प्रथम वर्ग से समानता भी हो सकती है। जैसे यज्ञ, दान, तप तथा भक्ति का दोनों वर्ग आचरण करते हैं; परन्तु ध्येय-भावना (motive) का भेद होने से वर्गों की भिन्नता है।

३. निष्काम-कर्म की आवश्यकता

नित्यानित्य वस्तु के विवेक द्वारा सांसारिक भोगों के दोषों के सामान्यज्ञान-मात्र से जन्मजन्मान्तर के अज्ञान तथा वासनायुक्त व्यवहार के कारण दोष का स्फुट बोध नहीं होता। और न ही पूर्ववर्णित वेदोक्त कर्मादि का त्याग तथा वितृष्णा का ही लाभ होता है। मोक्ष के परमसाधन श्रवण मननादि का अवलम्बन भी दृढता-पूर्वक नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में प्रथम वर्ग के यज्ञादि धर्मों का निष्कामभाव से आचरण अनिवार्य होता है। मन के प्राक्तन संस्कारों की कार्य-क्षमता का निरोध केवल दोषचिन्तन से होना असंभव है। यदि मन को कोई उपयुक्त काम दिया जाये तो मनोभूमि में प्राचीन संस्कारों की बाढ का आना स्वाभाविक है। जिसे हठ तथा नवीन—अतः बलहीन—विचार से कदापि रोका नहीं जा सकता। इसलिए ऐसी दशा में दृष्टिकोण को बदलकर मन को यज्ञादिकर्मों में लगाये रखना ही सफल उपाय हो सकता है। केवल हठ से रोकने का प्रयत्न करने पर मनोवेग अधिक प्रचण्डरूप धारण कर लेते हैं और मन प्राचीन वासनाओं का भयंकर रंगमञ्च बन जाता है। इस-लिए तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने जो मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को पूर्णतया समझते थे, उसके सूक्ष्म अनुभवों के आधार पर ही श्रुत्यनुकूल निष्काम-कर्मयोग का विस्तार किया। इस निष्काम-कर्मयोग का विवेचन पूर्वप्रकरणों में स्थान-स्थान पर किया गया है। इस संबंध में नीचे टिप्पणी में दिये गये स्थल देखने चाहिएं*। अब इस निष्काम-कर्म

* खण्ड	२	अध्याय	२	शीर्षक ३	भिन्न-भिन्न कक्षाओं में भक्तितारतम्य।
,,	,,	,,	७	,, १०	बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों का भेद।
,,	,,	,,	७	,, ११	उपनिषद् शिक्षा के अधिकारी की ब्रह्मपूजा।
,,	,,	,,	,,	,, ,,	भक्ति का स्वरूप अर्थात् सकाम तथा निष्काम भक्ति का भेद
,,	,,	,,	७	,, १३	समाधिपाद में ईश्वर प्रणिधान।
,,	,,	,,	,,	,, १४	साधनपाद में वर्णित ईश्वरप्रणिधान।
,,	,,	,,	,,	,, १५	दोनों (प्रणिधानों) की तुलना।
,,	,,	,,	४	—	उपरति।

के महत्त्व तथा ब्रह्मविद्या में इसके उपयोग का विस्तृत विवेचन यहां पर किया जाता है।

४. निष्काम कर्मावलम्बियों के दो भेद

संसार में जीवितदशा में कर्मेन्द्रियों के व्यापार का त्याग कर सकना असंभव है। प्रायः सम्पूर्ण व्यापार—कर्म—किसी न किसी प्रकार से शास्त्र की परिधि में आ सकता है। अतः आरम्भ में ही लौकिक तथा वैदिक (शास्त्रोक्त) कर्म के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए। मोक्षमार्गावलम्बियों के दो भेद हो सकते हैं:—(१) साधक-जिज्ञासु—जिन्होंने अभी तक अपने ध्येय, मोक्ष के साधन भक्ति, ज्ञानादि की पराकाष्ठा को प्राप्त नहीं किया और जो अभी साधनरूप से निष्कामकर्म का आचरण करते हैं। (२) सिद्ध-भक्त अथवा ज्ञानी--जिनको अपने व्यवहार या कर्म से सांसारिक योग अथवा मोक्षरूपी प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं करना है, परन्तु फिर भी प्रारब्धवश कहें या ईश्वरप्रेरणा से कहें, लोकसंग्रहार्थ कुछ न कुछ व्यवहार, उनकी अपनी दृष्टि अथवा दूसरों की दृष्टि से, उनसे होता है। ऐसे सिद्धपुरुषों तथा साधारणमनुष्यों के व्यवहार के बाह्यस्वरूप में चाहे भेद हो परन्तु ऐसे व्यवहार का सर्वथा अभाव प्रायः नहीं होता। उसकी हम शास्त्रीय परिभाषा कर्मसंज्ञा करें या कुछ और, परन्तु व्यवहार तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। अतः इन दो विभागों को दृष्टि में रखना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से मोक्षविद्या के सम्बंध में व्यवहार (कर्म) का उपयोग समझने में सुविधा होती है।

५. कर्म-फल की नियामक शक्ति

कर्म (action) का सामान्य अर्थ है—क्रिया, गति या परिवर्तन। कर्म का लक्ष्य कोई परिवर्तन ही होता है। क्योंकि कर्म अवश्य कोई परिवर्तन उत्पन्न करता है। शास्त्र में इसके चार भेद किये गये हैं:—(१) उत्पत्ति—जैसे स्वर्ण से भूषण (२)विकार—जैसे दूध से दही (३) प्राप्ति—जैसे धन आदि की तथा (४) संस्कार—जैसे तेल में सुगन्ध। भौतिक-विज्ञानवादी भी मानते हैं कि क्रिया तथा प्रतिक्रिया समान होती हैं। अर्थात् कर्म कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य करता है। चेतनप्राणी इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट की निवृत्ति के लिए ही सब चेष्टायें करता है। जो चेष्टा स्वाभाविक नहीं या जिसका कारण सामान्य प्राणी की इच्छा से भिन्न नहीं, वह अवश्य इसी प्रयोजन वाली होती है। हां! किसी भ्रान्ति (भूल) के कारण चेष्टा अथवा कर्म का फल कर्ता के लिए कभी कामना के विरुद्ध साक्षात् निज अनिष्ट—दुःख—उपलब्धिरूप में भी हो जाता है और कभी-कभी कर्ता के कर्म का अनिष्टप्रभाव दूसरे प्राणियों पर पड़ता है। अर्थात् अन्य किसी प्राणी को उसकी चेष्टा से दुःख पहुंचता है तो वह प्राणी प्रतीकार के लिए मूलकर्ता को दुःख पहुंचाता है। इस प्रकार की परम्परा से भी कर्ता को दुःख पहुंचता है। इस परस्पर-व्यवहार की सुव्यवस्था के लिए ही सामाजिक-नियम तथा राज्य-नियमों का विधान है। जिससे प्राणियों के स्वत्व की रक्षा हो और एक दूसरे को कष्ट न पहुंचा सके। यह तो स्पष्ट ही है कि कर्म का प्रेरक कारण इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-निवृत्ति की इच्छा है। यदि इष्ट के साधन में किसी प्रकार

की भ्रान्ति हो तो इसका फल सीधा अथवा परम्परा से अनिष्ट—दुःख—भी हो सकता है । और जिस अज्ञान, मोह अथवा आसक्ति के वश कोई प्राणी दुर्व्यवहार करता है तो वह आसक्ति, मोह और अज्ञान उस दुर्व्यवहार से दृढ भी होते हैं । अज्ञानयुक्त दुर्व्यवहार का फल अज्ञान, मोह, आसक्ति की दृढता तथा दुःख होता है और ज्ञानयुक्त व्यवहार का फल ज्ञान, निरभिमानता तथा अनासक्ति की दृढता तथा इष्ट—सुख—होता है । जिस प्रकार भौतिक संसार में क्रिया तथा प्रतिक्रिया (action and reaction) का नियम है, जो नियमरूपी नियन्ता के आधार पर निरवच्छिन्न चलता है, कोई अन्य महान् शक्ति भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकती । ऐसे ही आध्यात्मिक जगत् में मानवीय इच्छा से किये जाने वाले कर्म का उपर्युक्त फल भी अनिवार्य है। व्यक्ति का व्यवहार, सामाजिक तथा राजनीतिक नियम और अन्य सब प्रकार के सुप्रबंध उस अटल नियम की प्रत्यक्ष सहायता के लिए केवल प्रतिनिधिरूप ही हैं। यह सब सुव्यवस्था भी उस नियन्ता के प्रकट या गुप्त आदेशानुसार ही है। इसके भंग हो जाने पर वह बलशाली शक्ति बिना किसी अन्य सहायता के स्वतंत्र, नियमपूर्वक सुव्यवस्था करती है। कर्म-फलचक्र तो बिना किसी बाधा के अनन्त, एकरस, निरन्तर चलता ही रहता है । जो कोई इसमें बाधा डालता है वह स्वयं, इस नियम-प्रवाह के अदम्य वेग को न सहन कर सकने के कारण पिस जाता है, चूर-चूर हो जाता है । यह नियम प्रत्येक व्यक्ति के भीतर आत्म-चेतावनी (conscience) के रूप में विराजमान है। इसी के आधार पर मानव-जाति-मात्र के सामान्यधर्म, हिंसा, चोरी, व्यभिचार के त्याग का आदेश प्रायः मनुष्यमात्र को अभीष्ट प्रतीत होता है। परन्तु मलिन संस्कारों के वश इस चेतावनी में चाहे भेद पड़ जाय, और उपर्युक्त कारण से प्रत्येक व्यक्ति में भेद का होना सबको विदित ही है। परन्तु चेतावनी हो या न हो यह कर्म अथवा कालचक्र निरन्तर घूमता रहता है।

६. कर्मफल में दृष्टिभेद—शास्त्रदृष्टि तथा लौकिकदृष्टि

इसके नियम एकरस, विशाल, सर्वव्यापी भू आदि सप्त अथवा चतुर्दश लोकों में परिवर्तन के कारण हैं । ये नियम केवल मनुष्यसमाज के सामान्यधर्म अहिंसा आदि में ही सीमित नहीं हैं, अपितु अनेक प्रकार के कर्मोपासनारूप से उचित देश तथा समय आदि निमित्तों के उपस्थित होने पर जन्म-जन्मान्तर में अनन्त (सत्य, भू आदि लोकों तथा उनमें होने वाले भोगों के रूप में) फल को उत्पन्न करते हैं। किसी कर्म का जो सामान्य फल वैयक्तिक प्रतीकार तथा सामाजिक राजनीतिक प्रबन्ध द्वारा प्रत्यक्ष होता हुआ दीखता है, वह किसी कर्म के लोक-लोकान्तर तथा जन्म-जन्मातर में होने वाले फल की अपेक्षा बहुत न्यून है । ऐसा भी होता है कि बहुत बार किसी कर्म का जो प्रत्यक्ष फल हम देखते हैं, उस फल का उस कर्म से कुछ सम्बन्ध नहीं होता; वह किसी अन्य कर्म का फल होता है। उस महान् नियन्ता जगत्-स्वामी के नियम केवल हमारे सामाजिक नियम ही नहीं हैं। यज्ञादिरूप से कर्मशास्त्र में उनका अनन्त विस्तार है । और इस जन्म तथा इस लोक में उनके प्रत्यक्ष दीखने वाले फलमात्र को ही उसका फल समझना भूल है । जैसे हवन आदि क्रियाओं का वायु-शुद्धि आदि केवल प्रत्यक्ष फल मानना । ये

प्रत्यक्ष फल भी चर्मचक्षु को ही परमप्रमाण मानने वालों को प्रेरित तथा उत्साहित करने के लिए ठीक हैं, परन्तु इन कर्मों का शास्त्रोक्त फल तो इहलौकिक वर्तमान शरीर के वियोग होने के अनन्तर अन्य भू आदि लोकों के दिव्यभोग हैं। इहलौकिक यज्ञादि सामाजिक वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा राज्य-व्यवस्था आदि दृष्ट सुखभोग के लिए भी हैं; परन्तु केवल यह सुव्यवस्था इन यज्ञादि धर्मों का शास्त्रोक्त वास्तविक फल नहीं है। इस प्रत्यक्ष सुव्यवस्था का प्रधान प्रयोजन यह है कि इस सुव्यवस्था आदि के विना हम अन्य लोकों तथा जन्मान्तरों में होने वाली गति को प्राप्त नहीं कर सकते। उपर्युक्त विचार को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का मूलकारण आरोग्य है, इस वचन से आरोग्य का फल अर्थ तथा काममात्र नहीं, प्रत्युत आरोग्य का फल धर्म तथा मोक्षमात्र कहा जाय तो उचित ही है। क्योंकि शास्त्र की दृष्टि से अर्थ और काम स्वतन्त्र लक्ष्य नहीं हैं। अर्थ आदि के विना धर्म और मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। इसलिए इनको भी इस वर्ग में सम्मिलित कर लिया गया है। (क) अति स्थूल प्रत्यक्ष दृष्टि वाले आरोग्य का सम्पादन अर्थ तथा काम (भोग) के लिए ही करते हैं। आजकल की सभ्यताभिमानी मानवजाति के लिए यही एक लक्ष्य बन गया है। क्योंकि अत्यन्त स्थूल, बाह्य प्रत्यक्ष को ही आजकल परम अथवा एकमात्र प्रमाण माना जाता है। इनकी जीवन-नीति का सूत्र यही है कि युद्ध तथा प्रेम में सब कुछ उपादेय है (every thing is fair in love and war)। आज का भोगप्रधान प्राणी भौतिक प्रेम और युद्ध को ही लक्ष्य मान कर अपनी इस पशु-नीति के अनुसार घृणित से घृणित अन्याय को भी न्याय मानता है। (ख) सामान्य मध्यम शास्त्रोक्त दृष्टि वाले धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों को आरोग्य तथा मनुष्य शरीर द्वारा साध्य मानते हैं। (ग) शुद्ध-निर्मल शास्त्रोक्त ज्ञानचक्षु वाले धर्म तथा मोक्ष को ही मानव-आरोग्य का ध्येय मानते हैं तथा अर्थ और काम को वे आरोग्य-सहित साधन मात्र मानते हैं। इस विवेचन का सार यह है कि वर्णाश्रमविभाग द्वारा नियमित वैयक्तिक सामाजिक, अथवा राजनीतिक, यज्ञ, दान, तप, अध्ययन, वाणिज्य, प्रजापालन, क्षात्र आदि धर्मों का मुख्य शास्त्रोक्त तथ्य फल परलोक में—भू आदि लोकों—में होने वाली दिव्य गति, तथा शास्त्रविरुद्ध आचरण का फल कीट, पतंग, नरक आदि तामसिक गति है। यही इनका वास्तविक फल है। इस लोक में जो इनका सुव्यवस्था-रूपी फल दीखता है, वह इस नियममर्यादा का फल नहीं। यह तो इस नियममर्यादा का स्वरूप है (ब्र० सू० ४,३,१; छा० ५,१०,१०; बृ० ७,२,१५;१६; गी० ४,३६)।

उपर्युक्त तथ्य को दृष्टि में न रखने से हमारी बुद्धि, व्यवहार तथा ध्येय में अनेक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। जैसे (१) यदि धर्म का फल सुख है तो फिर यहां इसके विपरीत होता हुआ क्यों दीखता है। (२) शास्त्रोक्त कर्म-फल तथा गति आदि में अविश्वास। (३) इहलौकिक फलमात्र की दृष्टि से ही धर्म का निर्णय करना और इहलौकिक फल को देने वाले धर्म को ही धर्म समझना। अन्य वर्णाश्रमधर्मों की अवहेलना तथा वर्णाश्रम को ही देश के पतन का कारण मानना। (४) निष्कामकर्ममात्र का तिरस्कार करना। (५) शास्त्रोपदेश की आवश्यकता को स्वीकार करना। उपर्युक्त विचार के समर्थक योगदर्शन के आगे लिखे हुए सूत्र हैं:—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः । २,१२

क्लेश (अज्ञान) जिसकी जड़ है ऐसे कर्मसंस्कार इस लोक तथा परलोक में सुख-दुःखरूपी फल को उत्पन्न करते हैं।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । २,१३

अज्ञान के विद्यमान रहने पर कर्म का जाति (देव, मनुष्यादि), आयु तथा भोग (सुख-दुःख) रूपी त्रिविधफल होता है।

७. कर्म की तात्त्विक-दृष्टि

उपर्युक्त विवेचन का विस्तार करने की आवश्यकता इसलिए हुई है क्योंकि इस समय में जो शिक्षित समाज है वह अपनी उच्च शिक्षामात्रसम्पन्न बुद्धि के आधार पर कर्म के स्थूल इहलौकिक परिणाम पर ही दृष्टि रखता है। इसलिए वह केवल अन्न, धन आदि इहलौकिक आवश्यक सामग्री की सुव्यवस्था के आधार पर वैयक्तिक तथा सामाजिक कर्तव्य का निर्णय करता है, परन्तु इस नवीन संकुचित, नास्तिक तथा भ्रान्त धर्मविवेचनशैली के बलबूते पर वैदिक विशाल, अनादि, अनन्त, सप्तलोक-व्यापी कोटि-जन्म-विस्तीर्ण प्रभाव वाले कर्मरहस्य को हृदयङ्गम करना असम्भव है।

इहलौकिक इतिहास, राजनीतिशास्त्र तथा इस युग के नवीन धर्मशास्त्र आदि का उच्चकोटि का ज्ञान भी इस रहस्य को समझने के लिये पर्याप्त नहीं है। केवल इनके आधार पर कर्म का विशाल स्वरूप, वैदिककर्मनिष्ठा की भावना और उसका फल, ब्रह्मविद्या में इसका उपयोग, ब्रह्मविद्या का स्वरूप तथा सिद्धावस्था का व्यवहार समझ में नहीं आ सकता।

८. भौतिक कर्म का बाह्य तथा आभ्यन्तरस्वरूप

केवल इहलौकिक इष्टानिष्ट पर दृष्टि रखें, तो कर्म का बाह्यस्वरूप अतिक्षुद्र तथा संकुचित हो जाता है। तब इसका स्वरूप आजकल के सामान्य आचारशास्त्र का सा हो जाता है और क्रियात्मक रूप में यह राजनीति, देश तथा घर की सुव्यवस्थामात्र में सीमित हो जाता है। परन्तु व्यक्ति के जीवनकाल में केवल इस जीवननिर्वाह के लिए उपयोगी सामग्री की क्रियात्मक व्यवस्था उपर्युक्त विशाल सर्वव्यापी कर्मचक्र की शृङ्खला की अपेक्षा कितनी क्षुद्र है, यह कल्पनातीत है। इसलिए आज की कर्तव्य-व्यवस्था में यज्ञ, उपासना आदि का स्थान भी नहीं रहा। उलटा इनको प्राचीन, असभ्य मस्तिष्क की उपज, वहम तथा रोगादि का नाम दे देने में भी संकोच नहीं किया जाता। इसमें सन्देह नहीं कि लोभ के वश दंभ-पूर्वक इन तात्त्विक रहस्यों का दुरुपयोग समय समय पर होता रहा है। इसलिए साधारण रूप से सत्य तथा असत्य का मिश्रण अवश्य हो गया है। परन्तु यदि भौतिक-विज्ञान की तरह इस अध्यात्मक्षेत्र में भी इस क्षेत्र के अनुकूल साधनों से, न कि भौतिकविज्ञान के यन्त्रों द्वारा, अन्वेषण किया जाता तो इसमें असत्य की मात्रा बहुत न्यून निकलती। परन्तु इहलौकिक तात्कालिक लाभ प्रदान करने वाले भौतिक विज्ञान के चमत्कारी आविष्कारों ने तथा योग-लालसा ने आध्यात्मिक क्षेत्र में अन्वेषण की आकांक्षा को ही उत्पन्न नहीं होने दिया।

६. कर्म का आभ्यन्तरस्वरूप

क्योंकि यहां इस प्रसंग में कर्तव्य का दार्शनिक विवेचन ही करना है, शास्त्रोक्त कर्म के बाह्य अनन्तस्वरूप का विवेचन इष्ट नहीं है, अतः केवल आन्तरिक भाव के संबंध में अब विवेचन किया जाएगा। यह बात ठीक है कि किसी राजनीतिक नियम का अज्ञान उस नियम के भंगकरने के दण्ड से व्यक्ति को मुक्त नहीं करवा सकता, अन्यथा बहुधा किसी को अपराध का दण्ड ही न मिलता। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तो मनोभाव का ही विशेष सम्बन्ध है, अन्यथा बहुत से वैद्य प्राणदण्ड के भागी हो जाते। धर्म के विषय में कर्म का बाह्य आकार तथा उसका प्रत्यक्ष परिणाम इतने महत्त्व का नहीं जितना कि महत्त्व मनोभाव का है। यद्यपि बाह्य स्वरूप भी अपना विशेष कार्य रखता है, परन्तु मनोभाव कर्मरूपी शरीर का आत्मा है। जैसे प्राणिमात्र का शरीर आत्मा के वियुक्त हो जाने पर निर्जीव हो जाता है और आत्मा की संयुक्त दशा का कोई कार्य नहीं कर सकता और उस दशा में गीदड़ तथा सिंह, मूर्ख तथा पण्डित एक समान निश्चेष्ट हो जाते हैं, ऐसे ही मनोभाव के अभाव में सर्व कर्म निष्फल हो जाने से एक समान हो जाते हैं। इसीलिए कहा है:—

> वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
> न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ मनु २,९७

वेद का अध्ययन-अध्यापन, विविध यज्ञ, नियम अथवा शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वों का सहन रूपी विविध तप, इनका वेद आदि सच्छास्त्रों में विधान है, और इनके द्वारा भिन्न भिन्न इहलौकिक तथा पारलौकिक फलों के मिलने का निर्देश है परन्तु यदि कर्मकर्ता का मन दुष्ट भावना से कलुषित हो, तो इन कर्मों को अन्य बाह्य शास्त्र विधियों के अनुसार करने पर भी उसे किसी फल की प्राप्ति नहीं होती। वही कर्म फल उत्पन्न करने में समर्थ होता है जो शास्त्रोक्त शुद्ध भावना से किया जाता है।

रहस्य तो यह है कि जिस कर्म को शास्त्रोक्त शुद्ध भावना तथा श्रद्धा से रहित होकर किया जाता है उसके किसी फल के होने या न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि शास्त्र की दृष्टि से तो वह कर्म, कर्म ही नहीं कहला सकता। वास्तव में यह मनोभाव ही कर्म का सार है। जैसे गीता में वर्णन आता है:—

> यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
> कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ गीता १७,२७
> अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
> असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ॥ गीता १७,२८

यज्ञ, तप, दान में प्रवृत्ति सत् (श्रेष्ठ) कहलाती है। तथा भगवत्प्रीति और प्रसन्नता के लिए शुद्ध भावना से जो भी कर्म किया जाता है वह सत् कहलाता है। अर्थात्, वही शास्त्र दृष्टि से कर्म कहला सकता है अन्यथा कदापि नहीं (२७)।

शास्त्र, ईश्वरनिर्देश तथा फल में श्रद्धाशून्य मनुष्य जो भी कर्म करता है, यज्ञ करता है, दान देता है या तप तपता है, हे अर्जुन ! शास्त्र की परिभाषा में वह असत् कहलाता है। उस कर्म में चाहे कितना भी परिश्रम क्यों न किया जाए उसका न परलोक में कुछ फल होता है और न इस लोक में (२८)।

इसी मनोभाव के आधार पर यज्ञ, दान, तप आदि के, बाह्यस्वरूप अभिन्न होने पर भी, सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद किये गये हैं। गीता के अध्याय १७ और १८ विशेष विचारणीय हैं।

१०. कर्म का बाह्यस्वरूप

परन्तु मनोभाव के तथ्य तथा महत्त्व-सूचक वचनों के आधार पर कर्म के बाह्य स्वरूप के महत्त्व की सर्वथा अवहेलना नहीं की जा सकती। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मनोभाव (श्रद्धा) के अभाव से सब कर्म निष्फल हो जाते हैं; परन्तु मनोभाव (श्रद्धा) तो सब कर्मों में एक सी ही है। फिर भिन्न २ कर्मों के भिन्न २ फल क्यों होते हैं ? फलभेद का कारण तो कर्म का बाह्यस्वरूप ही है। मनोभाव तो विद्युत् की धारा है जिसके अभाव में सब यन्त्रादि निश्चेष्ट हो जाते हैं, कुछ काम नहीं करते। परन्तु उस एक विद्युत् धारा से सम्पर्क होते ही भिन्न २ यंत्र पृथक् २ अपनी २ चेष्टा करते तथा भिन्न २ फल को उत्पन्न करते हैं। इसलिए केवल श्रद्धा के आधार पर हर एक कर्म तथा उपासना से तथा अस्त-व्यस्त विधि से अभिलषित अर्थ प्राप्त नहीं किया जा सकता। नियत फल के लिए नियत कर्म ही विधि-अनुसार करना पड़ता है। जैसे भौतिक जगत् में भी वायु तथा प्रकाश के लिए विद्युत् के पंखे तथा लाटु का प्रयोग करना पड़ता है, इसी प्रकार कर्म के बाह्यरूप का भी कर्मफल में अपना स्थान है। इसीलिए वेद अनन्त कर्मों से भरा पड़ा है। ऐसे विश्वव्यापी जन्मान्तरों में फल देने वाले कर्म के विषय में अत्यन्त अल्पज्ञ, मानवीय बुद्धि स्वतंत्र क्या निर्णय कर सकती है, जब कि एक दिन की तथा दीवार की ओट में होने वाली घटनाओं के ज्ञान में भी वह असमर्थ है। इस बुद्धि के सामर्थ्य का निर्णय तो इसी से हो जाता है कि नित्यप्रति की खान-पान की मात्रा का निर्णय ही ठीक नहीं होता और, इसी लिए, भयानक रोगों का आक्रमण मनुष्य पर हो जाता है। इसी लिए कहा है:—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ गीता १६,२४

इसलिए जब कार्याकार्य का निर्णय करना हो तो शास्त्र ही प्रमाण होता है। शास्त्र के विधान को जानकर तदनुसार ही कर्म करना चाहिए।

११. वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सामान्य धर्मों का लौकिक तथा शास्त्रोक्त दृष्टि से आचरण के कारण फलभेद

यज्ञ, उपासना आदि कर्मों का इहलौकिक फलमात्र पर दृष्टि रखने वाली शैली से, शास्त्र की सहायता के विना, ज्ञान हो ही नहीं सकता। परन्तु वैयक्तिक, सामाजिक

तथा राजनीतिक सामान्यधर्मों का निर्णय इस लौकिकशैली से भी हो सकता है। इसलिए इन पर लौकिकदृष्टि वाले और शास्त्रदृष्टि वाले दोनों आचरण तो कर सकते हैं, परन्तु दृष्टिभेद के कारण फल में महान् भेद पड़ जाता है। मनोभाव अर्थात् श्रद्धा के भेद के कारण गीता में एक ही कर्म—यज्ञ, दान आदि—के सात्त्विक, राजसिक, तथा तामसिक भेद हो जाते हैं। इसको दृष्टि में रखने से उपर्युक्त फल-भेद सहज में ज्ञात हो सकता है। उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से पिता-पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, आदि का, उनके बाह्य व्यवहार का प्रायः एक ही स्वरूप होने पर भी, दृष्टि-भेद के कारण भिन्न फल होगा। देव-यज्ञ (हवन) के दृष्टान्त से यह रहस्य सम्यक् प्रकार से बतलाया जा सकता है। हवन का अनुष्ठान निम्नलिखित तीन दृष्टियों से किया जा सकता है:—

(१) इहलौकिक कर्तव्यदृष्टि—जिसमें हवन का लौकिक फल वायु-शुद्धिमात्र ही लक्ष्य होता है। यह फल प्रत्यक्ष अनुभव में आ सकता है। इसलिये इसके लिये शास्त्रविधान की विशेष आवश्यकता नहीं। जैसे साधारण मनुष्य शारीरिक शुद्धिमात्र के लिए स्नान आदि करता है, ऐसे ही हवन भी वायु-शुद्धि के लिए, विना शास्त्र-विधान के आधार के, केवल कर्तव्य-निर्णायक लौकिकदृष्टि के आधार पर कर सकता है।

(२) संकुचित शास्त्रोक्तदृष्टि—शास्त्र के आधार पर कोई व्यक्ति हवन करता है, परन्तु इसका फल केवल वायु-शुद्धि ही समझता है। प्रथम तथा द्वितीय कक्षों में फल का भेद नहीं। दोनों में वायु-शुद्धि रूप फल तो प्रत्यक्ष सिद्ध है परन्तु द्वितीय कक्षा में कर्तव्य का निर्देश ईश्वर तथा शास्त्रनिर्देश के अनुसार है।

(३) विस्तृत शास्त्रदृष्टि—इसमें हवन-कर्तव्य का निर्देश भी ईश्वर तथा शास्त्रनिर्देश के अनुसार होता है और फल का निर्देश, वायु-शुद्धि मात्र, भी लौकिकदृष्टि द्वारा नहीं होता, जैसे द्वितीय कक्षा में, प्रत्युत शास्त्र द्वारा ही होता है। मुण्डकोपनिषद् में इन यज्ञों के पारलौकिक, अनन्त, दिव्य फल का निरूपण मिलता है (१,२,१–६)। "तथा कर्मणा पितृलोका विद्यया देवलोकाः" (बृ० १,५,१६) अर्थात् कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होती है और विद्या से देवलोक की—इस वचन में भी संकेत पाया जाता है।

सार रूप से इन तीन कक्षाओं के भेद ये हैं—(१) कर्तव्य-दृष्टि तथा फल-दृष्टि का आधार इहलौकिक (प्रत्यक्ष) दृष्टि है। (२) कर्तव्यदृष्टि का आधार तो शास्त्र है परन्तु फल इहलौकिक दृष्टि से विशेष भिन्नता नहीं रखता। (३) कर्तव्य तथा फल दोनों का शास्त्र ही निर्देश करता है।

दृष्टि-भेद के कारण फल-भेद निम्न प्रकार होगा—

(१) शास्त्र-विधान के अनुसार कर्तव्यनिर्देश न होने से तथा जीव, ईश्वर, शास्त्र, परलोक आदि में आस्तिकभाव न होने से, शास्त्र की दृष्टि में वह पुण्य नहीं बनता। इसलिए लौकिकफल वायु-शुद्धि से विलक्षण फल कुछ नहीं होता।

(२) शास्त्रविधान के अनुसार कर्तव्य का निर्देश होने से, तथा जीव, ईश्वर, परलोक आदि में श्रद्धा होने से, इसका पारलौकिक फल अर्थात् पुनर्जन्म में अवश्य विशेष फल मिलता है। परन्तु शास्त्रवर्णित पितृलोक तथा अन्य लोकों में प्राप्त होने वाले दिव्य फल प्राप्त नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें उस भावना का अभाव होता है।

(३) कर्तव्य तथा फलनिर्देश पूर्णतया शास्त्र के अनुसार होने से शास्त्रवर्णित महान् दिव्य फल की प्राप्ति होती है। उपर्युक्त विवेचन से इस कर्म-रहस्य का उद्‌घाटन होता है कि—

(१) वर्तमानकालिक भोग-सामग्री की सुव्यवस्था मात्र के आधार पर कर्तव्य का निर्णय करने वाली लौकिकदृष्टि यज्ञ, उपासना आदि का विधान करने में असमर्थ है। इसीलिए लौकिक बुद्धि-मात्र सम्पन्न विद्वान् तथा साधारण जन यज्ञ, उपासना आदि को व्यर्थ समझते हुए इनका खण्डन करते हैं। इसलिए इनके अनन्त दिव्यफल से वञ्चित रहना तो स्वाभाविक ही है, क्योंकि किसी कर्म के न करने पर उसके फल मिलने अथवा न मिलने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

(२) परन्तु खेद की बात तो यह है कि जिस वैयक्तिक तथा सामाजिक कर्तव्य, अर्थात् पिता-पुत्र आदि व्यवहार, का इहलौकिक दृष्टिमात्र के आधार पर अनुष्ठान किया जाता है, उससे लौकिक सुव्यवस्था मात्र (फल पर दृष्टि होने से केवल इतना) ही फल प्राप्त होता है। शास्त्रोक्त पारलौकिक अनन्त फल प्राप्त नहीं होता। परिश्रम महान् होने पर भी, शास्त्र में अश्रद्धा के कारण, वैसा कर्ता महान् फल से वञ्चित रहता है। उसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्व लोकों के नियन्ता, ईश्वर में श्रद्धा नहीं है, जो वास्तव में सब नियमों तथा धर्मों का आधार है। अतः साधारण सामाजिक कर्तव्यों पर भी दृढतापूर्वक आचरण करना उसके लिए कठिन हो जाता है। जब कभी इन आचरणों के करने में भौतिक स्वार्थों में बाधा पड़ती दीखती है, तब वह इन साधारण धर्मों को भी छोड़ देता है। कर्तव्य को भी दृढतापूर्वक कर्तव्यदृष्टि से वही कर सकता है, जिसे ईश्वर तथा शास्त्र पर विश्वास हो। जो इहलौकिक भोगों को ही सब कुछ समझता है उसके कर्तव्यपालन की नींव बहुत निर्बल होती है, और वह कभी भी लोभ, क्रोध, मोह के हल्के से आघात से गिर सकती है। इसका फल स्वाभाविक रूप से यह होता है कि साधारण सामाजिक व्यवहारों में शुद्ध प्रेम तथा कर्तव्य की दृष्टि का लोप हो जाता है। और उसके स्थान पर स्वार्थ तथा अधिकार का राज्य हो जाता है, जिसके कारण पति-पत्नी, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा में अपने स्वार्थों और अधिकारों के लिए नित्य नया कभी समाप्त न होने वाला कलह तथा क्लेश समाज में व्याप जाता है। आजकल की सामाजिक अशान्ति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस समय की जगत् की स्थिति ही हमारे उपर्युक्त विवेचन की वास्तविकता का प्रबल प्रमाण है। इहलौकिक दृष्टि का यह निश्चित फल है। ब्रह्म तथा उस पर आश्रित विशाल कर्मचक्र की सत्ता का, किसी व्यक्ति के न मानने से, नाश तो नहीं हो जाता, परन्तु मिथ्या-भावना वाले को, सर्व सुव्यवस्था के आधारभूत तत्त्व (ईश्वर-ब्रह्म) तथा उसके आदेश, वेदादि सच्छास्त्रों की अवहेलना करने से, अनन्त दुःख तथा अज्ञानरूपी फल भोगना पड़ता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन भली प्रकार स्पष्ट करता है कि शास्त्रोक्त कर्म सकाम तथा निष्काम दो दृष्टियों से किये जाते हैं। जो लोग इहलौकिक बुद्धि को ही

एकमात्र प्रमाण मानते हैं उनके लिए तो सकाम कर्म के अपार प्रभाव को समझना भी कठिन है। निष्काम कर्म तथा ब्रह्मविद्या में उसके उपयोग को हृदयङ्गम करना तो उनके लिए अत्यन्त दुष्कर है। जिन लोगों की बुद्धि दुराग्रहयुक्त तथा संकुचित है उनके लिए यह विवेचन विशेष उपयोगी नहीं हो सकता, हां, वे लोग जिनकी बुद्धि कुछ विशाल है, जो दूसरों के विचार तथा अनुभव को तत्क्षण ठुकरा देने के स्वभाव वाले नहीं, प्रत्युत जो उस पर शान्तिपूर्वक विचार करते हैं, वे इस रहस्य को हृदयङ्गम कर सकते हैं। और, दूसरे उस श्रेणी के भी लोगों के विचारों के सुधार में यह विवेचन सफल हो सकता है, जो सामान्यतः वेदादि सच्छास्त्रों में श्रद्धा रखते हैं, परन्तु शास्त्रोक्त विधि-निषेध-रूपी कर्म, यज्ञादि के रहस्य को इहलौकिक भौतिकदृष्टि से ही समझने समझाने का प्रयत्न करते हैं और शास्त्र के तात्पर्य को इस लोक में ही सीमित मानते हैं। वे लोग इस भ्रममूलक धारणा के कारण शास्त्रोक्त कर्म का भली प्रकार अनुष्ठान नहीं कर सकते, तथा श्रद्धा के मन्द होने के कारण, जिन कर्मों का अनुष्ठान करते भी हैं, उनके शास्त्रोक्त महान् फल से वञ्चित रह जाते हैं।

१२. परलोक तथा पुनर्जन्म की समर्थक घटनाएं

१. इलाहाबाद के प्रसिद्ध दैनिक अंग्रेजी पत्र लीडर के २६ मई १६४६ के अंक में नीचे लिखी घटना प्रकाशित हुई। घटना का लेखक प्रेममोहनवर्मा लूथर रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद का था। घटना इस प्रकार है :—

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक डाक्टर की क पुत्री थी जिसकी आयु १२ वर्ष की थी। उसे अपने पिछले जन्म की अत्यन्त स्पष्ट स्मृति थी। वह पिछले जन्म में इलाहाबाद के प्रसिद्ध एडवोकेट मुंशी हरनन्दनप्रसाद का पिता थी, जो ३६ वर्ष पूर्व बनारस में मर गया था। वह एक प्रसिद्ध वकील तथा राय बहादुर था। उसके वर्तमान पिता ने उसकी प्राचीन जन्म की स्मृतियों को दबाने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु जब बनारस में उसके पिछले जन्म के घर में किसी एक विवाह के होने का समाचार उसे मिला, तो उसने अपने पिछले सम्बन्धियों से मिलने का आग्रह किया। उसे रेलवे-स्टेशन से अपने पिछले जन्म के घर का रास्ता बताने में कोई कठिनाई नहीं हुई और उसने अपने उन सब सम्बन्धियों को आसानी से पहचान लिया जो उसकी मृत्यु के समय जीवित थे। उसका एक पोता इलाहाबाद में था और उस समय विवाह में उपस्थित नहीं था। उसे उसने आग्रहपूर्वक इलाहाबाद में ही देखा। मुंशी हरनन्दनप्रसाद ने पीछे आंखों में आंसू भरे हुए कहा कि इसमें कोई सन्देह नहीं और उसे दृढ विश्वास हो गया है कि उसके पिता जी ने ही इस लड़की के शरीर में पुनर्जन्म लिया है। उसे अपने तीन पीढ़ियों के पूर्वजों को पहिचानने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उसने अपने पुत्र को अपने पुराने रहने के मकान की देखभाल न करने के लिए फटकारा। उसने अपनी पुत्रवधू को पहिचान लिया जो उसकी मृत्यु के समय गर्भवती थी। उसने पूछा कि उस बच्चे का क्या वही नाम रखा गया था जो उसने बताया था, और इस बात पर वह सन्तुष्ट हुई कि नाम उसकी इच्छा के अनुसार ही रखा गया था। उसने अपनी पुत्रवधू को बुरा भला कहा कि उसने अपने परिवार के एक अनाथ बालक का जो उसके सुपुर्द किया गया

था पालनपोषण नहीं किया। उसने अपने पुत्र को हमेशा अपने पुराने प्रयुक्त छोटे नाम से बुलाया और उससे आग्रह किया कि वह उसके साथ एक थाली में खाना खाए। उसने बताया कि इस बालिका के रूप में जन्म लेने और पुराने उस पिता के रूप में मरने के बीच के काल में वह दो बार और जन्म ले चुकी है—एक बार कानपुर में स्त्री के रूप में, जब वह २५ वर्ष की आयु में मर गयी थी, और दूसरी बार कहीं और पैदा हुई और १॥ वर्ष की आयु में ही मृत्यु को प्राप्त हुई।

२. वाकर ने अपनी पुस्तक 'री-इन्कार्नेशन' में एक निर्धन हिन्दू के विषय में लिखा है कि वह कभी अपने ग्राम से बाहर नहीं गया था। एक दिन वह चिल्ला उठा कि वह अमुक ग्राम में, जो वहां से साढ़े दस मील दूरी पर था, रहता था। कुछ अन्य धनी लोग उसको उस ग्राम में ले गये। उसने कठिनाई से अपने पुराने घर को पहिचान लिया और उस स्थान का पता बताया जहां उसने धन गाड़ा था। उस स्थान को खोदने से वह धन निकल आया।

३. देहली की कुमारी शान्तिदेवी की घटना पिछले दिनों में बहुत चर्चा का विषय बनी हुई थी। इस सम्बन्ध में कई प्रसिद्ध व्यक्तियों, श्री देशबन्धु गुप्त, श्री नेकीराम शर्मा और श्री ताराचन्द एडवोकेट आदि, ने एक वक्तव्य निकाला, जिसे आर्य सार्वदेशिक सभा ने फिर पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया। इसका संक्षेप नीचे दिया जाता है:—

कुमारी शान्ति देवी १२ सितम्बर १६२६ को मुहल्ला चीराखाना देहली में श्री रंगबिहारी माथुर के घर पैदा हुई। जब वह ४ वर्ष की आयु की हुई और बोलने लगी तो वह अपने पिछले जन्म की बहुत सी बातें करने लगी और इस प्रकार कहने लगी—"मैं मथुरा में चौबाइन थी, मेरा पति कपड़ा बेचता था, मेरे घर का रंग पीला था, मैं अमुक मिठाई बहुत खाती थी और एक वस्त्र पहिनती थी।" वह मथुरा जाना चाहती थी परन्तु उसके वर्तमान माता पिता इस भय से कि ऐसे बच्चे मर जाते हैं उसकी बातों पर ध्यान नहीं देते थे। वह अपने पति का नाम लज्जावश पूछने पर भी नहीं बताती थी और कहती थी कि मैं पहचान लूंगी। एक दिन उसने अपने दादा के भाई को, मथुरा ले जाने की प्रतिज्ञा करने पर, कान में पति का नाम बताया। दादा बिशनदास ने एक प्रोफेसर की सम्मति से श्री केदारनाथ को मथुरा चिट्ठी लिखी जिसका उत्तर आया कि लड़की जो बातें बताती है वह ठीक हैं और कि आप उनके चचेरे भाई श्री कांजीमल, देहली की भानामल गुलजारीमल दुकान वाले, से लड़की को मिलाएं। लड़की ने उसे पहिचान लिया और प्रश्नों के ठीक ठीक उत्तर दिये। जैसे—मेरे दो बच्चे थे, एक लड़का और एक लड़की और घर में अमुक स्थान पर १५० रुपये गड़े थे। श्री कांजीमल के बुलाने पर श्री केदारनाथ अपनी नई पत्नी और पूर्व के लड़के के साथ १३ नवम्बर १६३५ को देहली आए। उसे बताया गया कि तुम्हारे पति के भाई तुम्हें मिलने आए हैं। भीड़ में उसने उनको पहिचान लिया और रोने लगी और पूछने पर बताया कि वह उसके पति हैं। श्री केदारनाथ ने उससे कई ऐसे प्रश्न किये जिनका उत्तर पत्नी ही दे सकती है। उत्तर ठीक मिलने पर उन्हें विश्वास हो गया है कि यह उनकी पहिली पत्नी का पुनर्जन्म हुआ है।

उसने अपने १० वर्षीय पुत्र को प्यार किया, उसे खिलौने दिये। उसकी मथुरा जाने की इच्छा बढ़ती गयी। उसने विश्रान्ति घाट, द्वारिकाधीश के मन्दिर, अपने घर के रास्ते और बाजार आदि का वर्णन किया। लड़की के माता पिता २४ नवम्बर १९३५ को उसे मथुरा ले गये। स्टेशन पर पहुंचते ही लड़की ने आस-पास के स्थानों को पहिचान लिया और चिल्ला उठी कि मथुरा नगर आगया। प्लेटफार्म पर श्री देशबन्धु ने लड़की को उठाया हुआ था। एक पुरुष की ओर संकेत करके उसने बताया कि वह उसके जेठ हैं और गोद से उतरकर उनके पांव छुए। तांगे पर वह अगली सीट पर बैठी हुई थी, उसे वह स्वयं घर का रास्ता बताते हुए घर की ओर ले गयी। मार्ग में अपने श्वसुर को पहिचान लिया। घर के स्थानों के विषय में उससे प्रश्न किये गये जो उसने ठीक ठीक बताए। उधर की बोली में शौचालय को 'जाय जरूर' कहते हैं, उस स्थान को उसी नाम से उसने बताया। घर के आदमियों को पहिचान लिया। दूसरे मकान पर, जिसे किराये पर दिया हुआ था, वह ले गयी। वहां पर एक कुआं था। उसने बताया कि इस स्थान पर एक कुआं था जो अब बन्द कर दिया गया है।

यदि इस प्रकार की अन्य घटनाओं को जानने की किसी की रुचि हो तो वह Walker कृत Reincarnation नामक, W. Dutoolwaski कृत Pre-existence and Reincarnation नामक, Oliver Lodge कृत My Philosophy of Life नामक ग्रन्थों को तथा ब्रिटेन के Psychical Research Journal नामक पत्रिका को देखे। इनमें अनेक ऐसी प्रामाणिक घटनाओं का उल्लेख है। हमने केवल उदाहरण के रूप में ही ये तीन अतिप्रसिद्ध नवीन घटनाएं दी हैं।

१३. आश्रमों का संसार-गति तथा मोक्ष-गति की दृष्टि से भेद

ब्रह्मचर्याश्रम का लक्ष्य, शास्त्रोक्त-दृष्टि का सम्पादन तथा पुनर्जन्म-विचार

शास्त्र में द्विजों (वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण) के लिए चार आश्रमों (१. ब्रह्मचर्य २. गृहस्थ ३. वानप्रस्थ तथा ४. संन्यास) का विधान है। ब्रह्मचर्य आश्रम में दीक्षित हो जाने पर आर्य मनुष्यों की सन्तान का दूसरा जन्म होता है। मनुष्यों को मनुष्यजाति में जन्म से ही पाशविक, प्राकृत, इहलौकिक दृष्टि और उसी के अनुसार व्यवहार की प्रवृत्ति साधरणतया प्राप्त होती है। इसलिए मानवीय शास्त्र, पारलौकिक दृष्टि तथा व्यवहार के लिए ब्रह्मचर्याश्रम में दीक्षित होना आवश्यक होता है। इस नवीन दृष्टि तथा तदनुसार अनुष्ठान के कारण ही यह दूसरा जन्म कहलाता है। अन्यथा साधारण बाल्यकाल पशुओं और वैदिक-संस्कारहीन असभ्य अथवा सभ्य जाति में उत्पन्न बालकों तथा शूद्र सन्तानों का समान ही होता है। बाल्यावस्था मात्र ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मचर्याश्रम में सुयोग्य गुरु बालक को जहां इहलौकिक सुखसम्पादन के लिए सामान्य व्यावहारिक, वैज्ञानिक तथा राजनीतिक शिक्षा देता है, मनुष्यमात्र के सर्वसाधारण सत्य अहिंसा आदि व्यवहारों का बोध कराता है, वहां देहपात के अनन्तर होने वाली देही की गति के विषय में शिक्षा देता है। कोई विचारवान यह नहीं मान सकता कि किसी परिणाम की उत्पत्ति बिना किसी उपयुक्त कारण के

हो सकती है। अकस्मात् कोई घटना नहीं होती। भौतिक विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है। किन्हीं घटनाओं में सम्बन्ध निर्धारित करने का नाम ही 'विचार' है। बुद्धि का यही काम है कि वह बिखरी हुई, अनोखी, घटनाओं को, जिनका संबन्ध अज्ञात है, एक क्रम में पिरो दे। यह संबंध प्रधानतया कार्य-कारण का होता है। विचार की धारा यहां से ही चलती है कि यह घटना क्यों हुई। यदि इस प्रश्न को छोड़ दें तो किसी प्रकार के विचार का जन्म ही नहीं हो सकता। जो व्यक्ति इस क्यों ? को, अर्थात् कार्य-कारण-भाव के संबन्ध के अन्वेषण को त्याग कर स्वभाव, यदृच्छा आदि की शरण लेता है, वह, मानो, विचार ही नहीं करता। स्वभाव या यदृच्छा के आधार पर संसार-चक्र तथा अवान्तर किसी घटना को समझने-समझाने का यत्न करना, मानो, अज्ञान तथा विचार-शून्यता को ही ज्ञान तथा विचार का नाम देना है।

मनुष्य अथवा प्राणिमात्र की सुखदुःखमयी जीवन-धारा को समझने के लिए यदि हम केवल लौकिक घटनाओं, माता-पिता आदि निमित्तों तथा वर्तमान परिस्थितियों तथा उनके परिणामों को ही आधार बना कर विचार करें तो इसका पूर्णतया समाधान हो सकना कठिन ही नहीं, असंभव होता है। प्राणिमात्र की संपूर्ण चेष्टाएं दुःख से बचने तथा सुख-प्राप्ति के उद्देश्य से ही होती हैं। इस लक्ष्य का नाम भिन्न २ अवस्थाओं के अनुसार सत्य, प्रेम, भक्ति, सेवा, परोपकार अथवा ज्ञान, कुछ भी, कितना ही वन्दनीय, क्यों न रख लिया जाय और बाह्य स्वरूप में इसका कुछ भी भेद क्यों न हो, निश्चय ही, इनकी प्रयोक्तृ-तन्तु यही दुःख से बचने और सुख की प्राप्ति की इच्छा है। और ये संपूर्ण लक्ष्यों के भिन्न २ रूप इस इच्छा के ही परिवर्तित तथा परिमार्जित रूप हैं। यह प्राणी सामान्य सुख-दुःखों से उपराम की वृत्ति, उदासीनता, सहनशीलता, अनासक्ति आदि को भी किसी अन्य विचित्र नित्यसुख के लिए ही अपनाता है। यहां तक कि अति भय-प्रद मृत्यु के अनिवार्य होने पर भी यह स्वाभाविकतया चाहता है कि प्राणों का वियोग सुख से हो, उस समय कष्ट न हो। केवल कायरता ही मृत्यु-भय तथा कष्ट-रहित मृत्यु की इच्छा की जननी नहीं है। इन सब कष्टों से उदासीनता रूपी शूरवीरता का जन्म भी किसी दूसरे अनोखे सुख मृत्यु-भय तथा दुःख की निवृत्ति की अभिलाषा से होता है। इस लिए मनुष्य के ये प्रश्न स्वाभाविक हैं कि नव-जात शिशु के सुख-दुःख का क्या कारण है ? बिना किसी बुद्धि-ग्राह्य प्रत्यक्ष कारण के इस सुख-दुःख की धारा अकस्मात् क्यों टूट जाती है ? मनुष्य के सुख के लिए किये जाने वाले सभी प्रयत्न क्यों विफल हो जाते हैं ? यह जीवन-धारा क्यों और कहां से आती है ? और कहां कैसे चली जाती है ? इत्यादि प्रश्न मनुष्य के मन में स्वाभाविक-रूप से अनादि काल से उठते चले आये हैं और आगे भी सामान्य मानव बुद्धि के सामने उपस्थित होते रहेंगे। कुछ काल के लिए कई कारणों से चाहे शिथिल हो जायें, परन्तु निर्मूल कभी नहीं होते, समय पाकर फिर पूर्ण बल के साथ बुद्धि को अपने समाधान के लिए बाधित करते हैं।

इन प्रश्नों के उत्तर के अनेक भेद हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि किन्हीं मनुष्यों की बुद्धि इन प्रश्नों को अति रहस्यमय समझकर वर्तमान-कालिक कुरीतियों

तथा अन्यायों के प्रतीकार को समान्य ज्ञान और शक्ति के लिए उपयोगी जानकर, अथवा दुःख का अन्य कोई प्रतीकार न करके सुख-दुःख की नई परिभाषा की कल्पना करके, इन प्रश्नों की ओर से आंखें मूंद ले। परन्तु मनुष्य का प्रत्येक घटना को समझने के लिए 'क्यों' कहने का स्वभाव तथा प्राणिमात्र की स्वाभाविक सुख की इच्छा और दुःख से द्वेष इन प्रश्नों के चक्र को कदापि समाप्त नहीं होने देते। यह विचार, कि इस जीवनधारा का आरंभ तथा अन्त इस देह के साथ ही हो जाता है, और इसके सुख-दुःख बिना इसके अपने किसी कर्म के अकस्मात् अपने आप ही हो जाते हैं, मानवीय बुद्धि को कभी पूर्णतया संतुष्ट नहीं कर सकता। और न ही, इसी प्रकार, ये विचार, कि इसके अपने सुख-दुःखों पर इसका कोई अधिकार नहीं, अथवा दुःख को दुख न समझना ही एकमात्र इन से बचने का उपाय है और यही ज्ञान है, उसे संतुष्ट कर सकते हैं। इस संबन्ध में वह देखता है कि सभी दुःख मन के माने हुए नहीं हैं। अग्नि-दाह का दुःख कल्पना-मात्र नहीं है। अथवा जब इसकी न्यायोपार्जित सम्पत्ति सदा के लिए अकस्मात् इससे पृथक् हो जाती है, तो इस प्रकार की भयानक दासता मनुष्य के लिए असहनीय होती है। पशु की बात और है, जिस में संभवतया यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता। मनुष्य यदि जी सकता है तो इस सम्भावना मात्र के आधार पर ही जी सकता है कि यह जीवन-धारा अनादि काल से बह रही है और इसका अन्त देह के अन्त के साथ ही नहीं हो जाता। यह निरवच्छिन्न रूप से निरन्तर बहती रहती है। तथा मनुष्य का अपना सुख दुःख उसकी अपनी ही कृति है। जो इस जन्म में अन्धा उत्पन्न हुआ है, उसने अपनी ही किसी पूर्व-कृत चेष्टा से अपने इन अमूल्य चक्षुओं को खो दिया है। उसकी वर्तमान स्थिति का बनाने वाला वह स्वयं है। और यदि वह चाहे तो उपयुक्त साधनों से कालान्तर में इस स्थिति को परिवर्तन कर देने में भी वह पूर्ण स्वतंत्र है। यह वह संभावना है कि जिसके उज्ज्वल प्रकाश के आधार पर मनुष्य जीता है।

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर का त्रिकालाबाध्य ज्ञान—वेद—इस का परम तथ्य रूप से प्रतिपादन करता है और वे ऋषि-मुनि जिन की बुद्धि वेद-शिक्षा से संस्कृत तथा सूक्ष्म और दिव्य हो चुकी थी, वे अपने अनुभव के आधार पर इन मन्तव्यों का समर्थन करते हैं कि—

(१) जीव नित्य है।

(२) जीव कर्म करने में स्वतंत्र और फल भोगने में परतंत्र है।

(३) जीव के वर्तमान जन्म के जाति, आयु और भोग इसके पूर्वजन्म-कृत कर्म का फल हैं। और वर्तमान-जन्म-कृत कर्मों का फल, यदि यहां नहीं, तो जन्मान्तर में इसको अवश्य भोगना पड़ेगा। अर्थात् मनुष्य अपने कर्मों द्वारा उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट गति को प्राप्त करता है (देखें—बृहदारण्यक ६,२,१५;१६; छान्दोग्य ५,१०,६)।

परलोकगति-विषयक इस शास्त्रीय दृष्टि का सम्पादन करना ही ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य उद्देश्य है। ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य उद्देश्य लौकिक सम्पत्ति की रक्षा या सुव्यवस्था करना नहीं है। यदि इस अवस्था में इस प्रकार की लौकिक व्यवस्था के लिए भी कुछ उपदेश होता है तो उसका उद्देश्य भी यही है कि इसके द्वारा परलोक-गति संबन्धी यज्ञ,

दान, तप आदि के अनुष्ठान में सुविधा हो। जैसे घोड़ा-गाड़ी आदि सामग्री तथा मार्ग की सुव्यवस्था अपने आप में लक्ष्य नहीं है, परन्तु ये सब प्राप्तव्य स्थानरूपी लक्ष्य के साधन-मात्र हैं, इसी प्रकार लौकिक व्यवस्था की शिक्षा है। इस लिए आज कल की बाल्यावस्था को, जिसमें मुख्यतया लौकिक शिक्षा-दीक्षा से बालक को सुसज्जित किया जाता है, वर्तमान परिपाटी के अनुसार एक सभ्य बाल्यावस्था का नाम तो दिया जा सकता है, किन्तु इसे वेदोक्त ब्रह्मचर्याश्रम नहीं कहा जा सकता। जैसे आजकल का एक सभ्य समाज का बालक अपने बाल्य-काल में इस प्रकार की योग्यता प्राप्त करने का अभ्यास करता है, जिस के द्वारा वह अपने भावी जीवन में लौकिक सुख-सामग्री को जुटा सके, और उसी के अनुसार वह अपने जीवनोपयोगी व्यवसाय को चुनता है, इसी प्रकार, वैदिक ब्रह्मचर्याश्रम भी परलोक-गति तथा उस के साधन ज्ञान के सम्पादन के लिए है। उत्तम परलोक-गति के मुख्य दो भाग किये जा सकते हैं:—(१) दिव्य सांसारिक गति—स्वर्ग, पितृ-लोक तथा देव-लोक—(२) मोक्ष। इस से पूर्व भी (बृहदारण्यक १,४,१६ तथा ४,४,२२ के आधार पर) कहा गया है कि पुत्र से इस लोक को विजय करता है, कर्म से पितृ-लोक को और विद्या से देव-लोक को। पूर्व-कालिक विद्वान् नित्य-ब्रह्म के महत्त्व और कर्म के नाशवान् फलरूपी दोष को जानते हुए प्रजा (सन्तान) की कामना नहीं करते थे। वे कहते थे "हमारा लोक तो 'आत्मा' है, हम प्रजा से क्या करेंगे।" इसलिए पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा को त्याग कर वे भिक्षा-व्रत—संन्यास—को धारण करते थे। अर्थात् वे लोग ब्रह्मचर्याश्रम में परलोक की दिव्य-गति के दिव्यभोग-मार्ग तथा मोक्ष-मार्ग की शिक्षा प्राप्त करते थे और उसके पश्चात् अपनी योग्यता के अनुसार भोग अथवा मोक्ष के मार्ग को ग्रहण करते थे।

१४. अन्य आश्रम

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि गृहस्थाश्रम का विधान केवल भोग-मार्ग वालों के लिए है। ब्रह्मचर्य आदि अन्य आश्रमों में तथा गृहस्थाश्रम में मुख्य भेद यही है कि गृहस्थ में धन, जाया, पुत्रादि लौकिक सम्पत्ति और दिव्य-लोक की प्राप्ति के लिए यज्ञ, दान आदि साधन विद्यमान रहते हैं, परन्तु अन्य आश्रमों में भोग तथा भोगों की प्राप्ति के लिए उपयोगी सामग्री का अभाव होता है। यदि किसी को इस भोग-सामग्री की लालसा न हो, तो वह गृहस्थ में प्रवेश ही किस लक्ष्य से करेगा? भोग के अतिरिक्त अन्य कौन सा ऐसा लक्ष्य, अध्ययन, तप, सेवा आदि है, जो ब्रह्मचर्यादि अन्य आश्रमों में सुसम्पाद्य नहीं है? यदि पर्वत पर चढ़ना ही है, तो पीठ पर पत्थर लादने की क्या आवश्यकता है। भिन्न २ लोकों में अनन्त भोगों के भेद के कारण ही गृहस्थ-धर्म बहुत आयास तथा वित्तादि से साध्य यज्ञादि वैदिक कर्मों से भरा पड़ा है। अतः गृहस्थ को भोग तथा कर्मस्वरूप कहना ही उचित है। ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययन ही मुख्य कर्तव्य है, अन्य तप तथा गुरु-सेवा आदि कर्तव्य अध्ययन के लिए ही हैं। इसके अतिरिक्त केवल देव-यज्ञ है। वानप्रस्थाश्रम में तप प्रधान है। इस में ब्रह्म-यज्ञ तथा देव-यज्ञ का भी विधान है। संन्यास आश्रम में केवल ब्रह्म-यज्ञ (ब्रह्मविद्या) का ही विधान है।

१५. सकाम तथा निष्काम कर्म का अधिकारी आश्रम गृहस्थ ही है।

इस उपर्युक्त विवेचन से सकाम और निष्काम का भेद, निष्काम का रहस्य और उसके अधिकारी इत्यादि विषय सुगमता से समझ में आ सकते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में परलोक सम्बन्धी शिक्षा तो प्राप्त की जाती है, परन्तु इसमें अभी यह निर्णय नहीं हुआ होता कि यह बालक भोग-मार्गी है अथवा मोक्ष-मार्गी। उचित समय पर जब यह निश्चित हो जाता है, तो भोग-मार्ग को ग्रहण करने वाला बालक समावर्तन-संस्कार के अनन्तर तुरन्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जाता है। और, मोक्ष-मार्ग का अवलम्बन करने वाला गुरुकुल में ही रह कर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर सकता है अथवा संन्यासाश्रम में भी प्रवेश कर सकता है। गृहस्थाश्रम में भी यदि किसी को जाया, वित्त, लोकादि से दृढ वैराग्य हो जाय, तो वह उसी दिन वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। अतः यदि दृढ वैराग्य हो तो ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना आवश्यक नहीं। गृहस्थाश्रमी को दृढ वैराग्य होने पर अपनी योग्यता के अनुसार वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रमों में प्रवेश करने का अधिकार है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित होता है कि गृहस्थ भोग-मार्ग है और उस भोग के साधन कर्म का इस आश्रम में बाहुल्य है। क्योंकि यह सब भिन्न-भिन्न कर्मों का अनुष्ठान भिन्न-भिन्न भोगों की वासना के अनुसार किया जाता है, इसलिए इन कर्मों को सकाम कहते हैं। अतः गृहस्थाश्रम प्रायः यज्ञादि सकाम-कर्ममय है। अन्य आश्रमों में इन सकाम यज्ञादि कर्मों का विस्तार नहीं है। इनमें वेदाध्ययन, तप तथा ब्रह्मविद्या का ही साक्षात् अथवा परम्परा से मोक्ष के लिए उपयोग है। यह ब्रह्मविद्या के अन्तरंग साधनों में से है। अतः इन आश्रमों में सकाम या निष्काम कर्म का प्रश्न ही नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि तप, अध्ययन तथा अपरा विद्या (उपासना) का उपयोग दिव्य-लोकों के प्राप्ति के लिए भी हो सकता है, परन्तु यह इन आश्रमों का मुख्य प्रयोजन नहीं है। यदि कोई ऐसा करता है तो वह इन आश्रमों का दुरुपयोग करता है। अतः कर्म-प्रधान गृहस्थाश्रम में ही कर्म के सकाम तथा निष्काम दो भेद हो सकते हैं। जिस गृहस्थाश्रमी के मन में दिव्य भोगों की कामना दृढ है, वह निष्काम-कर्मी कैसे हो सकता है? और जिसको दृढ वैराग्य है उसे शास्त्रोक्त संन्यास का अधिकार प्राप्त है। उसका जब कर्म ही छूट जाता है, तब उसके सम्बन्ध में सकाम तथा निष्काम का भेद ही व्यर्थ है। अब केवल एक ही स्थिति रह जाती है कि जिसमें एक गृहस्थ को भोग में कुछ दोष-दृष्टि तो उत्पन्न हुई है, परन्तु वह इतनी प्रबल नहीं है कि वह भोग को तुरन्त त्याग सके। उसके लिए अपने आश्रमोचित कर्मों का करना अनिवार्य है। ऐसे व्यक्ति के लिए ही यह विधान है कि वह भोग में दोष-दृष्टि, नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, वैराग्य तथा जिज्ञासा की दृढता के लिए गृह-कर्म को निष्काम-भाव से और ईश्वरार्पण बुद्धि से करे। यही निष्काम कर्म का मुख्य प्रयोजन है तथा ऐसा गृहस्थ ही उसका अधिकारी है। यदि किसी गृहस्थ को दृढ वैराग्य हो, परन्तु वह किसी कारणवश संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता, तो उसके लिए भी आश्रमोचित कर्तव्य अनिवार्य होता है, क्योंकि उस में कामना का अभाव होता है। अतः उसके लिए तो निष्काम कर्म स्वाभाविक हो जाता है।

वेदोक्त आश्रम-मर्यादा के पर्यालोचन से यही ज्ञात होता है कि संन्यास में कर्म-त्यागरूपी न्यास का अभिप्राय गृहस्थाश्रम के यज्ञ, दानादि कर्मों के विषय में है। सामान्य मानव-धर्म सत्य, अहिंसा, स्वाश्रमोचित वेदाध्ययन, तप, श्रवण आदि तथा शरीर-निर्वाह के लिए कर्म आदि का त्याग अभिप्रेत नहीं है। यदि कर्म-त्याग के इस वास्तविक स्वरूप को समझ लिया जाय तो नीचे लिखे अनेक प्रश्न अपने आप सुलझ जाते हैं और उन प्रश्नों का कोई अवसर ही नहीं रह जाता।

(क)—कर्मसंन्यास-पूर्वक ब्रह्मविद्यामार्गावलम्बी संन्यासी भिक्षाटन आदि कर्म क्यों करते हैं ?

(ख)—संन्यासी ब्रह्म-विद्या के साधन रूप अध्ययन-अध्यापन, उपदेश, धर्म-प्रचार करते हुए कर्म-त्याग का समर्थन कैसे करते हैं ?

(ग)— संन्यासी यज्ञ, दान आदि कर्मों का विरोध क्यों करते हैं ?

१६. शास्त्रोक्त निष्काम प्रवृत्ति का फल—निवृत्ति,

प्रवृत्ति-निवृत्ति का सहयोग

यज्ञ, दान, परोपकार, वर्णाश्रम-धर्म आदि के विषय में सकाम अथवा निष्काम शास्त्रीय दृष्टि लौकिक परोपकार तथा सुव्यवस्था के स्थापन-रूपी सामान्य प्रयोजन वाली कर्तव्य-दृष्टि से अत्यन्त भिन्न है। प्राकृत जनों की दृष्टि केवल लौकिक प्रभाव और सुव्यवस्था के लक्ष्य वाली ही होती है और इसीलिए इन कर्तव्यों का विधान किया करती है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि विशाल है। इसकी कर्तव्य-बुद्धि का मुख्य आधार लोकान्तरों तथा जन्मान्तरों में होने वाला शास्त्रोक्त प्रभाव है और लौकिक सम्पत्ति तथा सुव्यवस्था के साधन रूप से गौण है। गौण होते हुए भी उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि अन्न, धन, राज्य आदि की सुव्यवस्था के बिना किसी लौकिक, पारलौकिक अथवा परम पुरुषार्थ (मोक्ष रूपी साध्य) की सिद्धि नहीं हो सकती। फिर भी साध्य और साधन का भेद होने से गौण तथा मुख्य-भाव तो रहता ही है। अतः इन शास्त्रोक्त कर्मों का पूर्ण फल शास्त्रोक्त-दृष्टि वाला ही प्राप्त कर सकता है। दोनों दृष्टि वालों को लौकिक फल तथा सुव्यवस्था समान रूप से इष्ट हैं।

पाप तथा भोग-वासनाएं परम पुरुषार्थ की प्राप्ति में बाधा हैं। इनके अत्यन्त कम हुए बिना ब्रह्म-विद्या के उपयोगी श्रवण और मनन आदि साक्षात् साधनों का निरन्तर हो सकना असंभव है। शास्त्रोक्त कर्म का अनुष्ठान ही पाप तथा भोग रूपी मलिन वासनाओं को सूक्ष्म करने का मुख्य साधन है। इसका आचरण गृहस्थ में रहते हुए निष्काम भाव से करना होता है। यही शुद्ध, उत्तम सेवा तथा परोपकार है। अनेक जन्मों के शास्त्रोक्त सकाम तथा निष्काम कर्मों (यज्ञादि) के अनुष्ठान से जब किसी व्यक्ति के प्राचीन पाप तथा भोगों के संस्कार सूक्ष्म हो जाते हैं, तब वह ब्रह्मविद्या के साधन, भजन आदि में निरन्तर अपने मन तथा समय को लगा सकता है। गीता में भी कहा है:—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ ७,२८

"पुण्य कर्म करने वाले जिन सज्जनों के पाप नष्ट हो चुके हैं, वे ही राग-द्वेषादि द्वन्द्वों तथा मोह से मुक्त हुए २ दृढता पूर्वक अर्थात् विना बाधा अथवा अन्तर के भगवान् का भजन कर सकते हैं" (गीता अध्याय ५ के ६,७ तथा ११ श्लोक और अध्याय ६ का ३ श्लोक भी इस विषय में विचारणीय हैं)।

इस प्रकार सकाम तथा निष्काम कर्म के शास्त्रोक्त तात्पर्य को दृष्टि में रखते हुए यह समझना सरल है कि लौकिक सुव्यवस्था के लिए शास्त्रीय निष्काम दृष्टि सामान्य, लौकिक, स्थूल, प्रत्यक्ष परोपकार और सुव्यवस्था सम्बन्धी प्राकृत दृष्टि की अपेक्षा कितनी शुद्ध, विशाल, स्थायी और दीर्घ-कालीन प्रभाव वाली है। इस महती सेवा का यह उपयुक्त फल मात्र है कि मनुष्य ब्रह्म-विद्या के साधनों में, निरन्तर यज्ञ आदि कर्तव्य की किसी बाधा के विना, प्रवृत्ति वाला हो। इस प्रकार के कर्म के त्याग रूपी संन्यास से सामान्य मानवसमाज की सुव्यवस्था की हानि भी नहीं होती, क्योंकि सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् ईश्वर ने प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूपी दोनों मार्गों का निर्माण संसार की सुव्यवस्था के लिए ही किया है। शास्त्र के विरुद्ध भोग-विलास में विशेष प्रवृत्ति ही संसार के लिए अत्यन्त हानि-प्रद है। शास्त्रीय प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों एक ही परम लक्ष्य के साधन हैं, इसलिए परस्पर सहकारी हैं और इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। शास्त्रीय प्रवृत्ति-मार्ग सामान्य लौकिक सुव्यवस्था का साधक होता है और निवृत्ति-मार्ग केवल ब्रह्मविद्या-परायण महात्माओं की सहायता करता है, क्योंकि अन्न, राज्य आदि सामाजिक सुव्यवस्था के अभाव में कोई व्यक्ति ब्रह्म-विद्या के साधनों का अनुष्ठान नहीं कर सकता। निवृत्ति तथा संन्यास के विरोधी भी अपने पक्ष में यही कहा करते हैं। निवृत्ति-मार्ग का अवलम्बन करने वाले महात्मा एक तो अपने तप, शुद्धाचरण तथा ब्रह्माभ्यास के द्वारा आध्यात्मिक वायु-मण्डल की सामान्यतया अप्रत्यक्ष शुद्धि करते हैं और दूसरे वे प्रवृत्ति-मार्गियों के लिए परम लक्ष्य की ओर सदा निर्देश करने का कार्य करते हैं, जिससे प्रवृत्ति-मार्ग केवल भोग-लिप्सा का ही कारण बन कर संसार का संहार करने वाला न बन जाय। आज कल यह संहार स्पष्ट दीख रहा है, क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से शून्य वर्तमान की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति के सामने निवृत्ति का लक्ष्य नहीं रहा। इसी लिए सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि सब प्रकार की संस्थाएं कलह, क्लेश तथा अन्याय को हटा कर सुख-शान्ति की वृद्धि करने के स्थान में कलह आदि को बढ़ाने का कारण बन रही हैं।

इस विवेचना का सार यह है कि ब्रह्म-साक्षात्कार द्वारा परम इष्ट की सिद्धि करना ही शास्त्रीय परम दृष्टि या परम लक्ष्य है और इसी लक्ष्य को लेकर संपूर्ण शास्त्र प्रवृत्त हुआ है। वानप्रस्थ तथा संन्यास का विधान केवल इस लक्ष्य के लिये ही है। ब्रह्मचर्याश्रम शास्त्रीय दृष्टि की प्राप्ति के लिए द्वार मात्र है। जो लोग भोग-वासना में आसक्त हैं और इसी कारण से साक्षात् परम लक्ष्य के मार्ग पर नहीं चल सकते, उनके लिए शास्त्रीय प्रवृत्ति रूपी गृहस्थाश्रम है। इस आश्रम में रह कर वे सकाम तथा निष्काम कर्मों का आचरण करते हुए पाप तथा भोग के संस्कारों को सूक्ष्म करते हैं और ब्रह्म-विद्या के साक्षात् मार्ग पर चलने की योग्यता भी प्राप्त कर सकते हैं और अपने अधिकार के अनुसार समय पर संन्यासाश्रम में प्रवेश के योग्य हो जाते हैं। सर्वसाधारण

के लिए तो यही क्रम है। हां, कोई-कोई व्यक्ति पूर्वजन्म-कृत पुरुषार्थ से तथा परम शुद्ध संस्कारों के प्रभाव से गृहस्थाश्रम में भी परम लक्ष्य को प्राप्त कर सके हैं।

१७. क्या प्राणिमात्र की सेवा ही भगवद्-भक्ति है ?

कुछ लोग अबु बिन आदम आदि की कथाओं के आधार पर ऐसा कहते हैं कि ईश्वर उन पर प्रसन्न नहीं होता, जो उसका दिन रात भजन करते हैं, प्रत्युत ईश्वर की वास्तविक भक्ति लोक-सेवा में ही है। अतः साधन अवस्था हो अथवा सिद्धावस्था, सभी अवस्थाओं में निष्काम भाव से लोक-सेवा तथा परोपकार के अतिरिक्त और कुछ कर्तव्य नहीं है। इस प्रकार की धारणा वाले लोग शास्त्र के उन शब्दों को भूल जाते हैं, जिनमें ब्रह्म के साक्षात्कार के विना परम ध्येय की सिद्धि का निषेध किया गया है*, जहां ब्रह्म-विद्या के लिए तीनों एषणाओं के त्याग सहित भिक्षा-आचरणरूपी संन्यास का विधान मिलता है†, जहां यज्ञ, दान, तप आदि की अपेक्षा अनन्य-भक्ति की निकटतम साधन के रूप से भूरि-भूरि प्रशंसा पाई जाती है, अथवा जहां ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता तथा ज्ञान द्वारा कर्म के नाश का वर्णन आता है‡।

इस प्रसंग में मुण्ड० उ० २,२,५, विशेष रूप से विचारणीय है। वहां पर वर्णन आता है कि सर्वोत्कृष्ट, परम इष्ट, आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को छोड़ कर किसी अन्य पदार्थ के विषय में अपनी वाणी का उपयोग न करे। यहां वाणी के उपलक्षण रूप वर्णन से यह अभिप्राय है कि अपने संपूर्ण सामर्थ्य व चक्षु, वाणी, श्रवण, बुद्धि आदि इन्द्रियों का केवल ब्रह्म के विषय में ही उपयोग सदुपयोग है तथा अन्य विषयों की चर्चा आदि वर्ज्य है। जब वाणी आदि इन्द्रियों का अमृत-सेतु (ब्रह्म) के अतिरिक्त अन्यत्र उपयोग मात्र का निषेध है, तब अन्य यज्ञादि की क्या कथा ? जन-सेवा आदि का लक्ष्य दुःख की निवृत्ति तथा सुख की वृद्धि ही हो सकता है। ब्रह्म के साक्षात् से संसार का दुःख-रूपी प्रवाह नितान्त शुष्क हो जाता है, तथा परमसुख की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है, बुद्धिरूपी गुहा में उसके साक्षात्कार से सम्पूर्ण लौकिक कामनाओं की युगपत् प्राप्ति होती है, अर्थात् सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति के समान अथवा अधिक अपरिच्छिन्न सुख की उपलब्धि होती है$। उसको प्राप्त करके मनुष्य सर्वोत्कृष्ट नित्यसुख से सम्पन्न होता है। वह ब्रह्म रस-रूप है। वह अनन्त-स्वरूप है। वाणी तथा मन वहां से लौट आते हैं अर्थात् वह सुख मन और वाणी की पहुंच से दूर है। उस आनन्द की उपलब्धि के लिए मन और वाणी के भी व्यापार-रूपी विक्षेप का निरोध आवश्यक है, अन्य यज्ञादि के व्यापारों की तो बात ही क्या है ? अथवा, उस परम अनन्त सुख की मन और वाणी के द्वारा प्राप्त होने वाली किसी वस्तु से तुलना नहीं की जा सकती§।

---

* श्वे० उ० ६,२०.

† बृ० उ० ४,४,२२.

‡ गीता ४,३७; ६,४६;४७; ११,४८; मुण्ड० उ० ३,१,८.

$ तै० उ० २,१,

§ तै० उ० २, ७;९.

ब्रह्म-भजन ईश्वर की प्रसन्नता के लिए नहीं किया जाता। वह रस-रूप है, रस-राज है। उसके दर्शन के लिए अन्य सब प्रयत्न तथा साधन-रूपी भजन होता है, परन्तु एक बार दर्शन हो जाने पर प्रेम तथा भजन वैसे ही स्वाभाविक होता है, जैसे बच्चा मिठाई को चाहता है। उपर्युक्त विषय के सम्बन्ध में कैवल्योपनिषद् (३,१,३) में कर्मत्याग-रूप संन्यास का समर्थन, कठोपनिषद् (२,१५) में नियम, व्रत तथा धर्म का प्रयोजन—ब्रह्म-भक्ति अथवा ज्ञान, और मनुस्मृति (१२,१०४) में तप तथा विद्या के फल में भेद विशेष विचारणीय हैं।

१८. सिद्ध ज्ञानी का व्यवहार

ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर सिद्ध ज्ञानी के विषय में यदि उसके कर्तव्य-रूप से कोई चर्चा हो सकती है, तो मुण्डकोपनिषद् (२,२,५,) के वचन के आधार पर निश्चित यही है कि वह ब्रह्म-सम्बन्धी ही वार्तालाप करे तथा उसी सम्बन्ध में उपदेश करे, यद्यपि अन्य कोई यज्ञादि कर्म उसे किसी प्रकार से बन्धन में नहीं डाल सकता, और वह कमल-पत्र के समान कर्म से लिप्त नहीं होता।

आत्म-साक्षात्कारवान् सिद्ध ज्ञानी का कोई कर्तव्य नहीं, क्योंकि उसने अपनी पूर्णता को अनुभव कर लिया है। उसे अपने से भिन्न और कुछ उपादेय नहीं। लौकिक भोग, मलिन-वासना-निवृत्ति तथा ब्रह्मज्ञान के विषय में कोई अपूर्णता उसे नहीं खटकती, जिसके लिए उसे किसी कर्म को साधनरूप में अवलम्बन करने की आवश्यकता हो। कर्तव्याकर्तव्य-रूपी विवेक तथा विवेक-जन्य कर्तव्य के अनुष्ठान की परिभाषा उसके विषय में कुण्ठित हो जाती है। एक पशु के सम्मुख कर्तव्याकर्तव्य का विचार उपस्थित नहीं होता और न ही कोई मनुष्य उसे ऐसी शिक्षा देने का यत्न करता है, क्योंकि उसका इष्ट तथा सामान्य सामर्थ्य ही उसके कर्म का निर्णायक है। इसके अतिरिक्त और कोई कर्तव्या-कर्तव्य-निर्णायक बुद्धि ही उसके पास नहीं है। शास्त्र की परिभाषा में मनुष्य के लिए चाहे कोई कर्म पाप हो, परन्तु पशु तो "शक्ति ही सब कुछ है" इसी सिद्धान्त को ठीक समझता है। वह किसी व्यवहार के औचित्य तथा अनौचित्य का निर्णय शारीरिक बल के आधार पर ही किया करता है। परन्तु ज्ञानी का स्वभाव पूर्वाभ्यास के कारण इतना परिमार्जित तथा शास्त्रानुकूल होता है कि उसकी स्वाभाविक रुचि तथा शास्त्रादेश में कुछ अन्तर ही नहीं रह जाता। मनुष्य किसी पदार्थ, कर्म अथवा अवस्था के मोह या आसक्ति के वश ही अनुचित मार्ग का अनुसरण करता है। अथवा यह मेरा है और यह मेरा नहीं है, इस मोह के आधार पर अन्याय-युक्त व्यवहार करता है। परन्तु ज्ञानी में तो हस्तामलक-वत् आत्म-साक्षात्कार के कारण आत्मानात्म-भावना तथा आसक्ति का नितान्त नाश हो चुका होता है। यहां श्रेय ही स्वभाव से प्रिय लगता है। उसके लिए अज्ञानासक्त मनुष्य के समान श्रेय से प्रेय भिन्न नहीं है। अतः ज्ञानी के सम्मुख दो मार्ग ही नहीं हैं। उसको सभी अवस्थाओं में एक ही व्यवहार का मार्ग दीखता है। उसे कर्तव्य तथा अकर्तव्य का विवेक करके कर्तव्य का ग्रहण नहीं करना पड़ता, क्योंकि जिसको सामान्य मानवीय या शास्त्रीय परिभाषा में धर्म कहा जाता है, वही उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। ज्ञानी के लिए इस धर्म का आचरण ऐसा स्वाभाविक होता है जैसे अग्नि के लिए दाह का करना। जिस प्रकार अग्नि दाह करने के लिए किसी प्रयत्न या विवेक की अपेक्षा

नहीं रखती, ऐसे ही ज्ञानी को भी धर्माचरण के लिए किसी कर्तव्य तथा अकर्तव्य के विवेक अथवा प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। अतः ज्ञानी के लिए साधारण शास्त्रोक्त कर्तव्य तथा अकर्तव्य लागू नहीं होते। उसकी स्थिति एक प्रकार से पशु की सी हो जाती है जो मोह के वश कर्तव्य तथा अकर्तव्य के विवेक शून्य होने से अवस्थानुसार किसी मार्ग का अवलम्बन कर सकता है। शास्त्रोपदेश के अधिकारी साधक के सम्मुख भला और बुरा, दोनों मार्ग उपस्थित होते हैं। वह शास्त्र-दृष्टि के बल पर शास्त्रोक्त धर्म तथा न्याय के मार्ग का अवलम्बन करता है। परन्तु ज्ञानी के सम्मुख स्वभाव से एक भला ही मार्ग उपस्थित होता है, जो उसे स्वाभाविक रूप से प्रिय है। शास्त्रीय परिभाषा में वही न्याय तथा धर्म है। अन्याय-मार्ग का उसके लिए प्रश्न ही नहीं है। वह किसी मानवीय परिभाषा के अनुसार प्रलोभन अथवा भय के प्रभाव से न्यायपथ को त्याग नहीं सकता है। वह प्रलोभन तथा भय को जानता ही नहीं। उसके लिए एक आत्मदर्शन के प्रभाव से ये सब निस्तेज, तुच्छ तथा असत्य हो चुके हैं।

ऐसा ज्ञानी किसी अवस्था में कोई भी उचित व्यवहार कर सकता है, और लौकिक कार्य को निपुणता से कर सकता है। परन्तु संसार का परम हित इसी में है कि उस ज्ञानी से आत्म-अनात्म ग्रन्थि को खोलने के लिए ब्रह्मविद्या का उपदेश ही ग्रहण किया जाय। इस प्रकार का ज्ञानी अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे अमूल्य पारस मणि को पाकर उसका उपयोग सामान्य सांसारिक कार्यों की पूर्ति के लिए करने का आग्रह करने का मूल कारण गाढ अविवेक ही है। संसाररूपी सागर के ऐसे गम्भीरतम स्तर पर पहुंच कर—अन्तरतम मूलतत्त्व के दर्शन कर—इन ऊपर के स्तरों में आना और सुष्ठु व्यवहार कर सकना उसके लिए कुछ असम्भव नहीं होगा। परन्तु फिर भी जिस गम्भीरतम स्तर पर कोई विरला भाग्यवान् ही पहुंचता है, जो सामान्य संसार के लिए प्रायः रहस्यमय ही रहता है, अनन्त शास्त्र-श्रवण आदि करने पर भी जो पहेली नहीं खुलती वरन् जितना सुलझाने का यत्न किया जाता है उतनी ही उलझती जाती है—ऐसे मूलतत्त्व के विषय में रहस्यमय गुत्थियों को सुलझाना ही उसका मुख्य कर्तव्य या स्वभाव है। मुण्डकोपनिषद् (२,५) के आधार पर साधक ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त अन्य विषयों में अपनी वाणी के प्रयोग का त्याग करता है। वह या तो वाणी का उपयोग ही नहीं करता, केवल मूकभाषा द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश करता है और या, यदि बोलता है, तो ब्रह्म के विषय के अतिरिक्त और कोई बात नहीं करता। यही उसका स्वभाव है।

ज्ञानी सब पापों के मूल अज्ञान को ज्ञान द्वारा नष्ट करता है। अतः उसका कोई कर्म, चाहे वह बाह्यदृष्टि से स्वाभाविक हिंसादि युक्त भी हो, शास्त्रोक्त दुःख-सुखरूपी फल उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिए यज्ञादि कर्मों से भी उसका कुछ अनिष्ट नहीं हो सकता। वह इनका अनुष्ठान कर सकता है और प्रवृत्ति-विषयक शास्त्रोक्त उपदेश भी कर सकता है। परन्तु यह उसका मुख्य कर्तव्य कदापि नहीं हो सकता। यह तो उसके सामर्थ्य, बुद्धि तथा योग्यता का ऐसा दुरुपयोग है जैसे आयुर्वेद विद्या में प्रवीण धन्वन्तरि को ओषधि कूटने के काम में लगा देना। ब्रह्मविद्या-रूपी पारस मणि से जो जन्मान्तर की अति भय-प्रद दरिद्रता को क्षण भर के स्पर्श तथा दर्शनमात्र से दूर करने का सामर्थ्य रखती है, पत्थर तोड़ने का काम लेने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। इसका सदुपयोग तो

ब्रह्मविद्या-रूपी रस का श्रवण द्वारा पान करने में ही है। ज्ञानी निस्सन्देह गृह, जाति, देश, विदेश आदि के सामान्य कार्य भी अपनी सूक्ष्म बुद्धि से साधारण मनुष्य की अपेक्षा अधिक अच्छे प्रकार से कर सकता है। ये कार्य भी संसार में अपनी उचित उपयोगिता रखते हैं। संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं, जो अत्यन्त निकम्मा हो और जिसका कुछ भी उपयोग न हो। परन्तु ये सब कार्य ब्रह्म-ज्ञान की अपेक्षा अत्यन्त निकृष्ट हैं। अतः ब्रह्म-ज्ञानी का सदुपयोग यही है कि मूल अविद्या की निवृत्ति के लिए ही उस से उपदेश ग्रहण किया जाय और उसे अपने जीवन का लक्ष्य मान कर उस के निमित्त प्रयत्न करने में हम लग जायें।

१९. कर्म विवेचन का निष्कर्ष

सर्व क्षेत्रों में औचित्य तथा अनौचित्य विचार को यदि प्राणिमात्र का स्वभाव न भी माना जाय, तो भी मनुष्यमात्र का स्वभाव तो इसे मानना ही पड़ेगा। कर्मक्षेत्र भी इस विचार से वञ्चित नहीं है। अति असभ्य जातियां भी इस विचार से खाली नहीं हैं। उनमें भी कर्तव्य तथा अकर्तव्य सम्बन्धी भाव पाया जाता है। उन में कर्म के बाह्य आकार, स्वरूप, मानसिक भाव, फल, अन्तर्निहित आधारभूत सिद्धान्त, उद्देश्य, जीव, परलोक आदि विषयों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार से भेद पाया ही जाता है। उन में भिन्न २ कर्मों के विषय में उन के न्याय-अन्यायरूपी होने का तुलनात्मक विचार अवश्य होता है। उनकी भाषा में धर्माधर्म के पर्यायवाची शब्द पाये जाते हैं। उन को किसी परिमित क्षेत्र सम्बन्धी भौतिकविज्ञान का तथा संसार पहेली के आधारभूत अनु-भौतिक विज्ञान का भी कुछ न कुछ भान अवश्य होता है। जैसे ऊपर कहा गया है, सामान्यतया मनुष्यमात्र व्यापी कर्तव्याकर्तव्य विचार की आधारशिला भी यही अनु-भौतिक विज्ञान ही हो सकता है। मनुष्य अनादिकाल से इन प्रश्नों पर विचार करता आया है कि क्या मेरा इस शरीर की उत्पत्ति के साथ ही अस्तित्व आरम्भ होता है तथा इसके साथ ही अन्त हो जायगा अथवा मेरी कोई निरवच्छिन्न, त्रिकालाबाध्य सत्ता भी है? यह भूमि ही केवल प्राणिमात्र का निवासस्थान है या अन्य भी कोई ऐसे स्थान हैं, जहां सुख-दुःख अनुभव करने वाले प्राणी रहते हैं और सुख-दुःख के निमित्त स्वाभाविक चेष्टा करते हैं?

देह की अवधि मात्र तक ही प्राणी का अस्तित्व है—यह विचार मानव-बुद्धि को कभी सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इसका कारण केवल यही नहीं कि मनुष्य में निरन्तर जीवित रहने की इच्छा है और वह मरने से डरता है। परन्तु जन्म तथा नाश और जन्म से ही प्राणियों में सुख-दुःख का भेद, जीवनकाल में प्रयत्न की विफलता तथा अपने जीवन के सुख-दुःख के निर्माण करने में स्वतन्त्रता होने का औचित्य आदि समस्याओं का यह वाद (देहमात्र ही जीव है) कुछ उत्तर नहीं दे सकता। अतः मनुष्य के स्वतन्त्र विचार को भी देह से भिन्न स्वतन्त्र सुख-दुःख के भोक्ता जीववाद की सम्भावना प्रायः अधिक सन्तोषजनक सिद्ध हुई है। नवीनतम भौतिक-विज्ञान भी इसी सिद्धान्त के मानने की ओर आकृष्ट हो रहा है। पृथ्वी से अतिरिक्त अन्य लोकों तथा उनके निवासी प्राणियों के सद्भाव के विषय में तो भौतिक विज्ञान का निर्णय निर्विवाद

ही है। देह से भिन्न जीव की स्वतन्त्र सत्ता तथा इस जन्म के समान जन्मान्तर मान लेने पर कर्म के वश अन्य लोकों में जन्म (गति) तो सिद्ध ही है। भौतिक-विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक परमाणु तथा अन्य अनन्त संसार परस्पर सम्बन्धित हैं, आपस में एक दूसरे पर सब का प्रभाव होता है। आध्यात्मिक जगत् में इसका विस्तार हो सकता है कि यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के निर्माण करने में स्वतन्त्र है, तो भी किसी न किसी रूप में एक प्राणी के विचार तथा कर्म आदि का प्रभाव अन्य संपूर्ण व्यक्तियों पर भी पड़ता ही है। उपर्युक्त भौतिक-विज्ञान तथा अध्यात्म-विषयक मनुष्य की सामान्य तर्क-वितर्क-प्रधान बुद्धि के निर्णय को, जो सम्भावना के रूप में ही होता है, परम प्रमाण के रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। कारण, सम्भावना कभी निश्चित सिद्धान्त नहीं बन सकती। परन्तु यह केवल इनके अनुयायिओं के लिए संकेत है कि इनकी प्रगति भी शास्त्रोक्त सिद्धान्त की ओर है।

मनुष्य देह से भिन्न जीव की स्वतंत्र सत्ता परलोक-गति आदि के विषय में सम्भावना मात्र को छोड़ भी नहीं सकता, क्योंकि यह भविष्य में अपने बने रहने की सम्भावना ही मनुष्य जीवन में आशावाद, सन्तोष तथा पुरुषार्थ का आधार है। यदि मनुष्य को अपने भाग्य-निर्माण में स्वतन्त्र होने की संभावना भी न रहे और शरीरान्त के साथ ही मनुष्य के सम्पूर्ण प्रयत्नों के विफल तथा अधूरे रह जाने की स्थिति को स्वीकार किया जाय, तो निराशावाद ही स्वाभाविक तथा विचारयुक्त ठहरता है। परन्तु मनुष्य सम्भावना मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। पूर्ण सन्तुष्टि तो निश्चित, असंदिग्ध, निर्भ्रान्त विचार (सिद्धान्त) से ही हो सकती है। इसी आकांक्षा की पूर्ति सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार ईश्वर के अनादि, अनन्त, निर्भ्रान्त, असंदिग्ध, प्राणवत् निरायास स्वतःसिद्ध प्रत्यक्षज्ञान का प्रकाश करने वाली वेदरूपी वाणी से होती है। और, श्रुति की शिक्षा द्वारा परिमार्जित, संस्कृत, सुतीक्ष्ण तथा सूक्ष्म बुद्धि से सम्पन्न प्राचीन ऋषि-मुनि तथा वर्तमानकालिक महात्मा अपने अपने अनुभव के आधार पर इस श्रुति-सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। जीव, परलोक, लोक-लोकान्तर तथा कर्म के विश्वव्यापी प्रभाव को देखते हुए, केवल मानव-बुद्धि के लौकिक, स्थूल, बाह्य सुख-दुःखादि के आधार पर कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय करने की शैली अत्यन्त अधूरी तथा भ्रान्त है और क्रियात्मक रूप से भी इसका कुछ उपयोग नहीं है।

असहाय स्वतन्त्र मानव-बुद्धि का उपर्युक्त जीवादि सम्बन्धी सिद्धान्त की दृष्टि से विश्वव्यापी, अमित, स्थूल तथा सूक्ष्म प्रभाव वाले कर्म के सम्बन्ध में, कर्तव्याकर्तव्य निर्णय के विषय में और परलोक में होने वाली भिन्न २ गतियों के कारण कर्म के स्वरूपादि विषय के निर्णय करने में कुण्ठित हो जाना स्वतःसिद्ध ही है। अतः जब हम यह घोषणा करने का साहस करते हैं कि स्वतन्त्र मानव-बुद्धि ही कर्तव्याकर्तव्य निर्णय करने में असंदिग्ध प्रमाण है, हमारा ऐसा कथन संकुचित सामान्य बुद्धि के दुराग्रह के कारण ही होता है।

इस से यह प्रमाणित होता है कि जैसे श्रुति मूल तत्त्व के विषय में परम तथा अपूर्व प्रमाण है, वैसे ही वह जीव, परलोक, कर्म के स्वरूप तथा फलादि

के विषय में भी परम तथा अपूर्व प्रमाण है। अथवा वे गिने-चुने महात्मा लोग इस विषय में प्रमाण हो सकते हैं, जिन्होंने इन तथ्यों के किसी अंश का अनुभव कर लिया है। परन्तु यह उन महात्माओं का ही जन्म-सिद्ध अथवा किसी अन्य कारण वश विशेषाधिकार नहीं है; अपितु, जो कोई भी चाहे, श्रुति-मार्ग पर अग्रसर होता हुआ ऐसा बन सकता है। यह द्वार सब के लिए खुला है। परन्तु कार्यक्षेत्र अति विस्तृत है और एक व्यक्ति किसी एक विशेष अंश का अनुभव करने में ही समर्थ होता है।

२०. श्रुति के आधार पर कर्म के सकाम तथा निष्काम स्वरूप के विवेचन का निष्कर्ष

(क) शास्त्रोक्त सकाम कर्म—

श्रुति में कहे हुए सामान्य मानवधर्म—सत्य, अहिंसा आदि, वर्णाश्रमधर्म के उचित अनेक धर्म—नित्य, नैमित्तिक, यज्ञ, दान, तप आदि तथा अध्ययन, अध्यापन, प्रजापालन, वाणिज्य आदि और अन्य सुव्यवस्था-सम्पादक प्रबंध आदि सकाम कर्मों का फल अन्य भू आदि लोकों में सुख-दुःख की प्राप्ति के रूप में होता है। लौकिक सुख-दुःखादि प्रायः पूर्वजन्म-कृत कर्मों के फल हैं। वर्तमान कर्म का लौकिक फल नाममात्र होता है। वर्तमान काल के कर्म का फल सुव्यवस्था आदि, प्रधानतया परलोक में प्राप्त होने वाले भोगों के साधन यज्ञादि सम्पादन के लिए ही है। यह सुव्यवस्था आदि उसका मुख्य या प्रधान लक्ष्य नहीं है।

शास्त्र का यह सिद्धान्त, कि धर्म का फल सुख तथा ज्ञान होता है, परलोक में तथा इस लोक में भी कालान्तर में होने वाले फल की दृष्टि से है। इस बात को भूल कर ही मनुष्य धर्मफल के निर्णय में भूल करता है और प्रत्यक्ष फल के लोभ में आकर शास्त्रनिषिद्ध कर्म करता है। यह तो कर्मफल के सिद्धान्त का दुरुपयोग मात्र है कि कर्म का फल परलोक में होगा। लौकिक फल प्रारब्ध के वश है, ऐसा मान कर मनुष्य अपने वर्णाश्रमोचित वर्तमान धर्म की अवहेलना करे, ऐसा अविवेक वश ही हो सकता है। इसका असली रूप यह है कि मनुष्य को अपने वर्णाश्रमोचित धर्म का पालन करते समय अपने या पराए लौकिक सम्पत्ति रूपी फल का भाव मन में नहीं रखना चाहिए अर्थात् सकाम धर्म प्रायः लौकिक धन, जन, सम्पत्ति, मान, वैभव की वृद्धि-ह्रास की अपेक्षा को छोड़ कर ही करना चाहिए। अन्यथा धर्मानुष्ठान ही नहीं बन सकेगा। आजकल के निषिद्ध आचरण का मुख्य कारण यह भूल ही है।

धर्मदृष्टि तथा लौकिक लाभ की दृष्टि के अन्तर को उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे, कोई व्यापारी सत्य का प्रयोग इस भाव से करता है कि ऐसा आचरण करने से उसके व्यापार की उन्नति होगी, तो इस भावना से किया गया धर्माचरण परलोक में सुखरूपी फल को उत्पन्न करने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि यह आचरण शास्त्रभावना से शून्य है। धर्मानुष्ठान शुद्ध धर्मभावना से किया जाये और इस लोक में होने वाले सुख-दुःख को प्रारब्ध के वश माना जाये, तभी धर्म का फल लोकान्तर में होता है। अर्थात् शास्त्रोक्त सकाम कर्म भी तभी निष्पन्न होता है, जब प्रत्यक्ष वृद्धि, हानि, दिखलावा, मान और बदले [प्रत्युपकार] के भाव से प्रेरित न हो। यही

सच्चा शास्त्रोक्त सकाम धर्म है। वास्तविक सकाम कर्म का फल, अधिकार के अनुसार, मनुष्य, पितृ तथा देव, इन तीनों लोकों में व्याप्त है। शास्त्र-दृष्टि-सम्पन्न ब्रह्मचारी समावर्तन संस्कार के पश्चात् इसी लक्ष्य के लिए इसके साधन काम्य-कर्म-प्रधान गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। सामान्य लोक-हित के जितने कार्य हैं, उनका समावेश यज्ञ में हो सकता है। परन्तु अपने अथवा दूसरों के प्रत्यक्ष विद्यमान लाभ पर दृष्टि न रखते हुए इनका अनुष्ठान करना शास्त्रोक्त सकाम कर्म की गणना में आ सकता है।

(ख) निष्काम कर्म—

साधनरूप में निष्काम कर्म के अनुष्ठान का मुख्य स्थान भी गृहस्थाश्रम ही है। शास्त्रदृष्टि से प्रायः दृढ वैराग्यवान् ही अन्य आश्रमों का अधिकारी है। अथवा इन आश्रमों में ब्रह्मविद्या के साधनों के अनुष्ठान के लिए स्वाश्रमोचित धर्म का पालन किया जाता है। इनमें अनन्त यज्ञों का विधान भी नहीं है। दृढ वैराग्यवान् गृहस्थ का संन्यास आश्रम में मुख्य अधिकार है। वर्तमान आश्रम-धर्मों की अव्यवस्था के कारण अथवा अन्य किसी कारण से वह इसे धारण न करे, तो यह अपवाद ही है। अतः अदृढ वैराग्यवान् गृहस्थी को दृढ जिज्ञासा के लिए और दृढ वैराग्यवान् गृहस्थी को भी लोकमर्यादा के लिए गृहस्थाश्रमोचित कर्म को निष्काम भाव से करने का अधिकार है। कारण, निष्कामकर्म—यज्ञ, दान, तप आदि—प्राक्तन पाप के संस्काररूपी मल को धो डालते हैं। दृढ वैराग्य हो जाने पर निवृत्तिमार्ग स्वाभाविक है और श्रुति इसका विधान भी प्रवृत्ति-मार्ग के समान लोकरक्षा के लिए ही करती है। यह अधिकार दीर्घकालिक, शुद्ध, निष्काम यज्ञादि के आचरणरूपी प्रवृत्तिमार्ग का ही फल है। और संन्यास आश्रम प्रवृत्तिमार्ग वालों को परम लक्ष्य की ओर सदा आकृष्ट करता रहता है। अतः प्रवृत्ति शुद्ध हो कर संसार की रक्षा का कारण बनती है, न कि संसार के संहार का। इसके अतिरिक्त संन्यासी शुद्ध आचरण तप आदि के द्वारा सूक्ष्म अध्यात्म वायुमण्डल को पवित्र भी करता है। इसलिए इन अनेक कारणों से प्रवृत्तिमार्ग का भी बहुत उपयोग है।

पहला अध्याय समाप्त।

दूसरा अध्याय

वैराग्य

१. तृष्णा तथा वितृष्णा

सकाम तथा निष्काम कर्मों का विवेचन हो चुका। प्राकृत, निरंकुश, राग-मोह-प्रयुक्त स्वाभाविक कर्म की अपेक्षा शास्त्रोक्त सकाम कर्म श्रेष्ठ, प्रशंसनीय तथा वरणीय है।

प्रजापति के प्रथम दो उपदेशों दया तथा दान में सम्पूर्ण सकाम कर्म का समावेश है। इसके द्वारा मनुष्य मृत्यु अर्थात् निकृष्टतम कीट पतंगादि योनियों की अज्ञान तथा कष्ट से युक्त गति से, जो निरंकुश स्वाभाविक कर्म का अनिवार्य फल है, बच जाता है। इसके द्वारा मनुष्य शास्त्र-वर्णित पितृ आदि लोकों की मध्यम तथा उत्कृष्ट गति को प्राप्त होता है। परन्तु ये सब प्रकार की गतियां हैं सांसारिक। इसमें सन्देह नहीं कि इनका उपदेश प्रजापति ने किया और यह दृष्टि भी शास्त्रोक्त ही है। इस पर आरूढ हुए विना और इसके अभ्यास से उपयुक्त सामर्थ्य प्राप्त किये विना मनुष्य अन्य शास्त्रोपदेश के अनुसार आचरण नहीं कर सकता और उसके फल से वञ्चित रह जाता है। इस प्रथम शिक्षा—अहिंसा तथा दान—के विना अन्यत्र किया गया सब परिश्रम निष्फल जाता है।

परन्तु दया तथा सामान्य दान मात्र पर ही जिन की अध्यात्म दृष्टि रुक जाती है, इस सामान्य व्यवहार शुद्धि में ही जो कृतकृत्यता मान बैठते हैं, उनकी यह सन्तुष्टि अज्ञानमूलक होने से परम लक्ष्य की दृष्टि से अनर्थकारी है। यह कर्मसम्बन्धी शास्त्रदृष्टि निकृष्टतम मृत्यु की असंदिग्ध अमृतरूपी ओषधि अवश्य है, परन्तु यह मृत्युमात्र की ओषधि नहीं। इससे मनुष्य दिव्य, रमणीक, सुखद, दीर्घ-काल तक स्थायी लोकों को प्राप्त करता है। परन्तु संसारमात्र का परिणाम—धर्मरूपी दोष—तो वहां भी हैं, अर्थात् पतन (मृत्यु) का अधिकार तो वहां भी रहता है। इसलिए परम लक्ष्य की सिद्धि के लिए मृत्यु तथा कष्टमय संसार से वैराग्य के द्वारा परम, अमृत, अनादि, अनन्त, भूमानन्द की प्राप्ति किये विना निरायास स्थिति, अलंवृत्ति और परम तृप्ति असंभव है। जैसे पूर्व वर्णित हुआ है, निष्कामकर्म—यज्ञ, दान, तप आदि—का अनुष्ठान भी पूर्वाभ्यास वश पाप तथा भोगतृष्णा के संस्कारों को क्षीण करके दृढ वैराग्य व वितृष्णा के सम्पादन के लिए ही है। उसके बाद इसका भी (आध्यात्मिक साधन की दृष्टि से) कुछ उपयोग नहीं रहता। कामना रहते हुए संसार-गति अनिवार्य है (मुण्डक उपनिषद् ३,२,२)। साधक वितृष्णा व वैराग्य से एक विलक्षण अनुपम शान्ति का अनुभव करता है, जो भोगकामी को भोग द्वारा कभी प्राप्त नहीं होती। कहा भी है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ गीता २,७०

"सब ओर से पूर्ण अचल ठहरे हुए समुद्र में जिस प्रकार सब ओर से नदियां प्रविष्ट होती हैं परन्तु उसे विचलित नहीं करती, इसी प्रकार जिस स्थिर-मति पुरुष

के मन में सब ओर से कामनाएं प्रविष्ट हो कर भी उसे विचलित नहीं कर पातीं, वही शान्ति को प्राप्त होता है, कामनाओं को चाहने वाला नहीं।"

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ गीता २,७१

"जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को त्याग कर निःस्पृह हो जाता है, वह ममता-शून्य तथा अहंकार-रहित व्यक्ति ही शान्ति को प्राप्त हो जाता है।" (देखें—महाभारत शान्तिपर्व १२,१७४,४६ *)

वैदिक तथा अवैदिक मोक्ष ग्रन्थों में परम शान्ति के साधन के रूप में वैराग्य को विशेष महत्त्व दिया गया है और वैराग्य-प्राप्ति के उपायों का भी सविस्तर निरूपण है। वैदिक ग्रन्थों के उपर्युक्त वचन इस विषय में प्रमाण हैं।

२. ब्रह्मविद्या में वैराग्य का प्रयोजन

वैराग्य का ब्रह्मविद्या में क्या उचित स्थान है, इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता है। श्रीमद्भगवद्गीता तथा योगदर्शन में वैराग्य को चित्त के निरोध या मन को जीतने का उपाय बतलाया गया है। गीता (६,३५) में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि वायु के समान बलिष्ठ, चञ्चल तथा प्रमथन-शील मन को अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा वश में किया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि केवल हठ ही इस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं है। केवल हठ से तो मन के चञ्चलतारूपी वेगों में असहनीय वृद्धि हो जाती है। अतः इस के लिए दोष-विचाररूपी वैराग्य की सहायता की भी आवश्यकता है। इसी विषय में पतञ्जलि मुनि के योगदर्शन के निरोध-उपाय-विषयक सूत्र (१,१५) की व्याख्या में भगवान् व्यास वैराग्य तथा अभ्यास के भिन्न २ प्रयोजन वर्णन करते हुए वैराग्यरूपी साधन की अनिवार्यता, इसका ब्रह्मविद्या में प्रयोजन, स्थान, महत्त्व तथा उपयोग बतलाते हैं। योगदर्शन के सूत्र (१,१२) में कहा गया है:—"चित्तवृत्तियों के निरोध रूपी योग से द्रष्टा (आत्मा) की स्वरूप में स्थिति होती है। चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास तथा वैराग्य से होता है।" व्यासभाष्य में इस सम्बन्ध में इस प्रकार विवेचन है:—"चित्त निरन्तर वृत्ति-प्रवाह-रूप धारा होने से नदी के समान है। यह दो प्रकार से बहती है, अर्थात् इसकी धारा दो भिन्न मार्गों का अनुसरण कर सकती है। यह चित्त-नदी कल्याण (इष्ट-मोक्ष)-प्रवाह वाली अथवा पाप-प्रवाह वाली होती है। जो चित्त का प्रवाह आत्मानात्मविवेक-रूपी प्रदेश से कैवल्य-मोक्ष-रूपी प्रदेश पर्यन्त बहता है, वह कल्याणवह अर्थात् कल्याण प्राप्त कराने वाला है। और, जो आत्मानात्म-अविवेक-रूपी प्रदेश से संसार पर्यन्त बहता है, वह पापवह अर्थात पाप की ओर लेजाने वाला है। वैराग्य से विषय—संसार-स्रोत—को न्यून किया जाता है, सुखाया जाता है अथवा निरुद्ध किया जाता है और विवेक-दर्शन-रूपी अभ्यास के द्वारा विवेक स्रोत का उद्घाटन

* इन्द्रोऽपि न सुखी तादृग् यादृग् भिक्षुर्हि निःस्पृहः ।
कोऽन्यः स्याद् इह संसारे त्रिलोकीविभवे सति ॥

किया जाता है, उसका प्रवाह जारी किया जाता है। चित्त-वृत्ति का निरोध इन दोनों उपायों के अधीन है, केवल एक से निर्वाह नहीं हो सकता"। उदाहरण के लिए एक ऐसा तालाब लें, जिसमें एक नाली से गन्दा और दूसरी से शुद्ध जल गिरता है। तालाब में शुद्ध जल प्राप्त करना हो तो केवल शुद्ध नाली खोल देने या केवल गन्दी नाली बन्द कर देने से काम नहीं चलता। उसके लिए तो दोनों नालियों का समुचित उपयोग करना होगा, अर्थात् गन्दी को बन्द कर देना और साथ ही शुद्ध को खोल देना होगा। वैराग्य के सम्पादन किये बिना, केवल नित्यानित्य वस्तु अथवा आत्मा-अनात्मा का शुष्क भेद-विचार बोध-रूपी फल को उत्पन्न करने तथा शोक-मोह की निवृत्ति तथा परम तृप्ति उत्पन्न करने में असमर्थ है। वैराग्य न हो तो अन्य विचारक्षेत्र में अभ्यास के द्वारा, सूक्ष्म तथा तर्क आदि से दक्ष बुद्धि के आधार पर आत्मानात्म विचार, आत्मानात्म-विषयक शास्त्र के श्रवण-मनन की योग्यता तथा अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसा विचार निष्फल तो होता ही है, साथ-साथ वह महान् अनर्थ का हेतु भी बन जाता है, जैसे अबोध बालक के हाथ में तीक्ष्ण चाकू। सांख्य दर्शन (३,३६) "वैराग्यादभ्यासाच्च" का भी यही भाव है।

३. उपनिषद् तथा गृहस्थाश्रम

इस विषय के सम्बन्ध में कठ (४,१; २,२३) श्वेताश्वतर (६,२२) उपनिषद् प्रमाण हैं। इसी प्रकार बृहदारण्यक (४,४,२३) में नित्यब्रह्म की कर्म से निरपेक्ष महिमा तथा उसके दर्शन के लिए अन्तरंग साधन, शम-दम आदि का विधान है। वहां पर जनक-याज्ञवल्क्य संवाद समाप्त होता है और जनक परमलक्ष्य की सिद्धि से कृतकृत्यता-रूपी परम तृप्ति को अनुभव करके अपनी राज्य-सम्पत्ति तथा अपने आपको भी दासरूप से याज्ञवल्क्य गुरु की तुच्छ भेंट के रूप में अर्पण करता है। वहां पर वे वचन हैं, जो ब्रह्मविद्या के अधिकारी के लक्षण, साधन-चतुष्टय विवेकादि, का सामान्यतया तथा शम-दम आदि षट्-सम्पत्ति रूप अन्तरंग साधन का विशेष आधार हैं। इनकी विशेष व्याख्या पूर्वोक्त अधिकारी प्रकरण द्वितीय खण्ड के तीसरे अध्याय में आ चुकी है। इन सबकी ओर लोग आजकल प्रायः विशेष ध्यान नहीं देते। प्रायः अनधिकारी पुरुष ब्रह्मविद्यादि उपनिषद्-ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। वे अनधिकारी होने से सर्वोत्तम ब्रह्मविद्या के गूढ रहस्य को न समझ कर अनेक वचनों का उनके वास्तविक अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ को ग्रहण करते हैं। वे ब्रह्मविद्या के सच्चे फल, उन्नति, परम तृप्ति, परम शान्ति तथा दिव्य व्यवहार की सिद्धि, नहीं कर सकते। उनकी यह विद्या वृथा श्रम मात्र तो होती ही है, साथ ही उनको इस अनधिकार चेष्टा का अवनति, तृष्णावृद्धि, घोर अशान्ति तथा सामान्य शास्त्रदृष्टि के विरुद्ध व्यवहार के रूप में कटुफल मिलता है। केवल कुतूहल, सूक्ष्मबुद्धि के अभिमान तथा अन्य सांसारिक लोभ के वश किया गया ब्रह्मविद्या का अध्ययन कदापि सफल नहीं हो सकता। दृढ वैराग्ययुक्त संन्यासी को ही ब्रह्मविद्या का अधिकार है। इस विषय की उपर्युक्त व्याख्या अनेक शास्त्रवचनों से सम्यक् पुष्टि होती ह। इस बारे में ब्रह्मसूत्र ३,३,४, (साधन अध्याय, अंगपाद), भाष्यकार शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों के वचन परम आदरणीय हैं। श्रीभाष्यकार ने भी उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र भाष्य में अनेक स्थलों पर इसी का प्रतिपादन किया है।

यदि गृहस्थी को भी साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होने से, जनकादि के इने गिने उदाहरणों के आधार पर, ब्रह्मविद्या का अधिकारी मान लिया जाय तो भी यह अपवाद रूप ही होगा, सर्वसाधारण नियम नहीं हो सकता। क्योंकि गृहस्थ में प्रवेश ही कामना के वश होता है। और उपनिषद् विद्या का विषय अति गूढतम ब्रह्मतत्त्व है। विचारवान् लोग स्वयं निश्चय कर सकते हैं कि इस अपवादरूप उदाहरण को सामान्य नियम बनाकर साधारण गृहस्थ आश्रमी नर, नारी, युवा, वृद्धों, गीता की परिभाषा में कामकामियों को इस विद्या की दीक्षा लेना तथा देना कहां तक उचित है ? इस से विद्या के सामर्थ्य तथा महत्त्व की हानि होती है और नास्तिकता की वृद्धि होती है। यह युग अन्य अनेक कारणों से वैसे ही नास्तिकता-प्रधान है, अतः इस प्रकार ब्रह्मविद्या जैसी परम पवित्र विद्या को भी नास्तिकता की वृद्धि का कारण नहीं बनाना चाहिए। ब्रह्मविद्या की सफलता के लिए साधन-चतुष्टय में से वैराग्य का महत्त्व श्रीभाष्यकार विवेकचूडामणि में इस प्रकार वर्णन करते हैंः—

"जिस भाग्यवान् अधिकारी को वैराग्य तथा मुमुक्षा तीव्र तथा दृढ विद्यमान होते हैं, उसके ही अन्य शम दमादि अन्तरंग साधन ब्रह्मसाक्षात्कार रूपी फल वाले होते हैं। परन्तु जहां पर ये दो साधन मन्द—शिथिल—होते हैं उनके शम दम तथा अन्तरतम श्रवणादि साधन मरुभूमि के जल के समान आभास (प्रतीति) मात्र ही होते हैं, अर्थात् सामर्थ्यहीन आकार मात्र होते हैं, कुछ फल उत्पन्न नहीं कर सकते।"*

इसी ग्रन्थ में दूसरे स्थान पर वैराग्यादि साधनों की अनिवार्य आवश्यकता अन्वय-व्यतिरेक से निरूपण की गयी है। 'विचारशील ब्रह्मवादियों ने ब्रह्मविद्या के अधिकार की जिज्ञासा के लिए वैराग्यादि चार साधनों का कथन किया है। जिन के होने पर ही ब्रह्मनिष्ठा सिद्ध होती है (अन्वय), तथा जिनके न होने पर ब्रह्मनिष्ठा सिद्ध नहीं होती है' (व्यतिरेक)। साधन-चतुष्टय के भाव तथा अभाव में ब्रह्मनिष्ठा का भी भाव तथा अभाव होता है। इनका तिल और तैल के समान अविनाभाव सम्बंध है†। सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह में भी इसी अर्थ से मिलता जुलता वचन कहा है कि 'वैराग्यादि की किञ्चित् न्यूनता से भी फल का अभाव हो जाता है। जो बुद्धिमान् साधन-चतुष्टय सम्पत्ति से युक्त होता है, उसे ही ब्रह्मविद्यारूपी फल की सिद्धि प्राप्त होती है। जहां किञ्चित् भी साधनों में कमी होती है वहां नहीं। परम ऋषियों ने इस लक्ष्य के लिए चार साधन कहे हैं, जिन के होने से सिद्धि होती है और जिन के अभाव में कदापि नहीं होती। यह अति निश्चित है, ध्रुव है, अटल है।'

श्री शंकराचार्य ने इसी प्रकार के अनेक वाक्य अन्यत्र प्रकरणग्रन्थों में लिखे हैं। ब्रह्मसूत्र (१,१,१) के भाष्य में वह वन्दनीय ब्रह्मविद्या के आचार्य लिखते हैंः—

* वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते। तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः॥
एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तिमुमुक्षयोः। मरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भासमात्रता॥ वि० चू० ३०,३१.

† साधनान्यत्रचत्वारि कथितानि मनीषिभिः। येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिद्धयति॥ वि० चू० १६.

'तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासायाः ऊर्ध्वम् च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च न विपर्यये' अर्थात् धर्म-जिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासा का कोई पूर्वापर कार्य-कारण रूप (अविनाभाव) सम्बंध नहीं है, क्योंकि धर्म-जिज्ञासा (पूर्वमीमांसा) के पूर्व (बिना धर्मजिज्ञासा के भी) अथवा अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा की सम्भावना हो सकती है। परन्तु साधनचतुष्टय के होने पर ब्रह्मजिज्ञासा तथा ज्ञान (परोक्ष अथवा अपरोक्ष) का होना संभव है। इस के विपर्यय में अर्थात् साधन-चतुष्टय के अभाव में जिज्ञासा तथा ज्ञान नहीं हो सकते। यहां पर भी अन्वय-व्यतिरेक से साधन-चतुष्टय तथा जिज्ञासा अथवा ज्ञान में हेतु हेतुमद्-भाव तथा कार्य-कारण-भाव सिद्ध किया है, जिसका कि ऊपर प्रकरणग्रन्थों में उल्लेख है। अर्थात् कुतूहल के वश कोई ब्रह्म-विचार में प्रविष्ट हो तो उसका साक्षात्काररूपी फल कदापि नहीं हो सकता। आनन्दगिरि आदि टीकाकारों ने भी प्रायः इस पंक्ति का इसी प्रकार का अर्थ किया है कि साधन चतुष्टय के अभाव में जिज्ञासा सच्ची नहीं होती। वह जिज्ञासा आभासमात्र, सामर्थ्य-हीन होती है। जैसे चित्र की गौ से सच्चा दूध मिलना असंभव है। किसी अन्य प्रलोभन तथा भयरूपी प्रतिबन्धक के आने पर विचार आदि सब छूट जाते हैं, अथवा वह शब्दब्रह्म का ज्ञान प्रलोभन की पूर्ति का साधन ही बन जाता है, जो हृदय-ग्रंथि को दृढ करता है तथा नाश कभी नहीं करता। वैराग्यादि के अभाव में श्रवणादि की अनधिकार चेष्टा का परिणाम केवल वृथा श्रममात्र ही नहीं होता, प्रत्युत इसका अति कटु दुष्परिणाम होता है, जिसका वर्णन परम सुन्दर भाव-पूर्ण शब्दों में भाष्यकार प्रकरणग्रन्थ शतश्लोकी में ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय की चेतावनी के लिए करते हैं:—

"जैसे गीला काष्ठ अग्नि से स्पर्श होने पर भी सहसा नहीं जलता और सूखे काष्ठ को अग्नि जलाता है। इसी प्रकार अपने वर्णाश्रम-कर्म, प्रजापालन, उत्पादन आदि तथा धन के द्वारा अनेक यज्ञ, दानादि करने से संस्कृतचित्त भी विषयों से भीगा होने के कारण ज्ञानाग्नि का सहसा स्पर्श नहीं कर सकता। सब से पहले उसे वैराग्यरूपी धूप में शुष्क करना आवश्यक है, फिर ज्ञानाग्नि का स्पर्श पाते ही तुरन्त आनन्द-प्रकाश-स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है।"

इसी लिए शुद्ध (सात्त्विक तथा दृढ) वैराग्य को मुख्य कहा गया है। उसी से ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार वेदान्त-सम्प्रदाय के आचार्यों के अनेक वचन इस विषय के पाये जाते हैं। उपदेश अधिकार के अनुसार ही सफल होता है। केवल ब्रह्मविद्या के महत्त्वसूचक वचनों के प्रलोभन से कुतूहलवश, आत्मा असंग है, निर्लेप है, इत्यादि विचार प्रधान होने से तथा स्थूल दृष्टि से अन्य व्यवहार सम्बन्धी शास्त्र की अपेक्षा सरल प्रतीत होने से उपनिषद् के श्रवण आदि में अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए। यदि ब्रह्मविद्या के महत्त्व का आकर्षण प्रबल हो, तो इस की सफलता के लिए पहले साधन-सम्पत्ति का संग्रह करना चाहिए। तदनन्तर ही वेदान्त के अध्ययन-अध्यापन में प्रवृत्त होना उचित है। अन्यथा ब्रह्मविद्या की शक्ति सामर्थ्य-हीन हो जाती है, तथा नास्तिकता की वृद्धि होती

है। गुरु का सम्पूर्ण श्रम व्यर्थ हो जाता है। टिप्पण में दिये हुए श्रुति तथा मनु के वचन इस सम्बंध में विचार तथा अनुष्ठान करने के योग्य हैं* ।

४. वैराग्य का उपाय—भक्ति

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि दृढ वैराग्यादि की आवश्यकता केवल ब्रह्म तथा उसके अन्तरतम साधनों के प्रतिपादन करने वाले विचारप्रधान उपनिषदादि शास्त्रों के श्रवण मनन के लिए है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि जिसे दृढ वैराग्य नहीं, वह किसी प्रकार ईश्वर-पूजा तथा भक्ति आदि का अनुष्ठान न करे। स्वाधिकारोचित ब्रह्म-पूजा का अधिकार तो मनुष्यमात्र को है। इसके विना तो वैराग्य का दृढ होना भी असंभव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। केवल विचार-प्रधान ब्रह्म-विद्या के विषय में ही यह कथन है कि दृढ वैराग्यवान् को ही इसमें अधिकार है, अन्यथा पतन का भय है।

५. वैराग्य तथा ब्रह्मपूजा—भक्ति—ईश्वर प्रणिधान

विषय-भोग में दोष बुद्धि से अध्यात्म मार्ग का आरम्भ होता है और आस्तिक शास्त्र की दृष्टि के अनुसार सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा की उपलब्धि से इस मार्ग का अन्त होता है। इन दो स्थितियों के बीच साधक की स्थिति के अनुसार साधनों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेद हो जाता है।

लक्ष्य तो पराभक्ति है, जो परप्रेम अथवा रसरूप ही है। यह भक्ति की पराकाष्ठा है। यहां साध्य साधन का भेद नहीं रहता। आनन्द स्वरूप परमात्मा के दर्शन द्वारा परम रस का पान कर, सारा संसार नीरस हो जाता है। साधक परम रस में दिन-रात छका रहता है। संसार तथा अपने आपे को भूल जाता है। रसरूप ही हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति से पूर्व ही अनेक शास्त्र-निर्दिष्ट उत्तम साधन यज्ञ, दान, तप, ईश्वर-समर्पण अथवा पूजाभावना, छूट जाते हैं। इन से उपेक्षा हो जाती है। ऐसी अवस्था को प्राप्त महात्मा का इन सब साधनों को छोड़ देना तो सहज ही है। कभी २ वे परमलक्ष्य की दृष्टि से इन का खण्डन भी कर देते हैं। शास्त्र में कई स्थलों पर ऐसे ऊंचे अधिकारियों की दृष्टि से निष्काम कर्म, वैराग्य, योग तथा (गौण) भक्ति का भी खण्डन पाया जाता है। ऊंचे अधिकारियों को तो इन साधनों द्वारा जो आध्यात्मिक उन्नति होनी थी वह हो चुकी, उनका मन शुद्ध तथा एकाग्र हो चुका, अब ये साधन उनके

---

* इदमष्टोत्तरशतं न देयं यस्य कस्यचित्।
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुराचाररताय वै ॥ मुक्तिकोप० १,४७
मद्भक्तिविमुखायापि शास्त्रगर्तेषु मुह्यते ।
गुरुभक्तिविहीनाय दातव्यं न कदाचन ॥ ४८
सेवापराय शिष्याय हितपुत्राय मारुते ।
मद्भक्ताय सुशीलाय कुलीनाय सुमेधसे ॥ ४९.
विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ मनु २,११३

परम लक्ष्य में बाधा रूप हैं। उनको साधन के ही निन्यानवे के फेर में पड़ा रहना ठीक नहीं है। साधन साधन ही है। परमलक्ष्य की ओर उन्हें अग्रसर होना चाहिए। उनकी दृष्टि से शास्त्र का इन साधनों की न्यूनता तथा अन्य दोषों का उद्घाटन कर इन से उपेक्षा उत्पन्न करना उपयुक्त ही है। परन्तु अनधिकारी इन वचनों के वास्तविक तात्पर्य को ग्रहण न करके निज अधिकारोचित भोग-दोष-चिन्तन, ईश्वर-प्रणिधान आदि छोड़ देता है, जिस के कारण वह उभयभ्रष्ट हो जाता है।

विषय-वासना की दासता के दोष दीखना आरम्भ हो जाने पर ही मनुष्य वासना से मुक्त नहीं हो पाता। प्राचीन संस्कार बलवान होते हैं, वे बार बार उदय होकर, उसकी भोग में दोषदृष्टि को भी कलुषित (दुर्बल) कर देते हैं। यदि ऐसा कभी न हो, तो भी हठात् कुमार्ग में धकेल कर ले जाना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में शुद्ध ब्रह्मविषयक उपनिषदों का निरन्तर मनन होना असंभव होता है और न ही इस साधन से उसे वासना रूपी शत्रु के सम्मुख सफलता ही हो सकती है। मनुष्य ईश्वर की सहायता के बिना इस दुस्तर माया को पार नहीं कर सकता। ईश्वर-प्रणिधान रूपी भक्ति का सहारा उसके लिए अनिवार्य है।

आरम्भ में उसका मन उपयुक्त मात्रा में शुद्ध तथा सूक्ष्म नहीं होता। विक्षिप्त-चित्त होने से कर्म नितान्त छूट भी नहीं सकता। अतः उसको ईश्वर-प्रसाद प्राप्ति के लिए निष्काम कर्मयोग अथवा कर्म द्वारा ईश्वर भजन रूप ईश्वर-प्रणिधान का अवलम्बन लेना पड़ता है। ओ३म् आदि जाप रूप ईश्वर-प्रणिधान भी करता है, परन्तु निष्काम कर्म योग ही उसके लिए मुख्य ईश्वर-प्रणिधान होता है। जब चित्त निर्मल तथा एकाग्र होने लगता है, तो ईश्वर-प्रणिधान शबल ओंकार के ध्यान का रूप धारण करता है और ध्यान में उसके साथ साथ यह भावना भी चालू रहती है कि ईश्वर सर्वज्ञ, नित्यमुक्त, क्लेश-कालिमा से रहित, सर्वशक्तिमान, दया, प्रेम तथा आनन्दस्वरूप और संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार का कारण है। इस ध्यान तथा उपासना के परिपक्व होने पर शुद्ध, त्रिगुणातीत परमात्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन का उपयुक्त स्थल है। उपर्युक्त विचार के आधार पर ब्रह्मपूजा (ईश्वर-प्रणिधान) के तीन भेद हो जाते हैं:—

१. निष्काम कर्मयोग तथा सामान्य जाप रूप ईश्वर-प्रणिधान—इसका अधिकारी विक्षिप्तचित्त वाला है, जिस ने संसारभोग के दोष को अनुभव करना आरम्भ कर दिया है, परन्तु अभी पूर्व भोगवासना बलवान् है। ईश्वर-प्रणिधान इन भोग-वासनाओं को निर्बल करने के लिए अत्यन्त उपयोगी साधन है। ईश्वर-प्रसाद से इनको जीतना बहुत सरल हो जाता है, अन्यथा अन्य साधनों के आधार पर वासनाओं को जीतना असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन है। उपर्युक्त ईश्वर-प्रणिधान वशीकार वैराग्य का साधन है।

२. सगुण ब्रह्म अथवा विराट् स्वरूप ईश्वर का ओंकार द्वारा ध्यान अथवा उपासना रूप ईश्वर-प्रणिधान—इस द्वारा स्थूल सूक्ष्म सम्पूर्ण जगत के भोग से उपराम हो जाता है। इस ध्यान-साधना के द्वारा पर-वैराग्य की सिद्धि होती है, अन्यथा असम्भव है।

३. निर्गुण ब्रह्मोपासना—श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि द्वारा—इस कक्षा में उपर्युक्त दो साधनों का कुछ उपयोग नहीं रहता। इसी लिए ऐसे जिज्ञासुओं की दृष्टि से इन दो साधनों का शास्त्र में निषेध पाया जाता है। उपनिषद् विशेषतया इसी कक्षा के लिए उपयुक्त हैं। ऐसी कक्षा के लिए इनका श्रवण आदि विशेष रूप से फलदायक होता है। अन्य साधक इन का कुछ श्रवण आदि करें, तो भी केवल इनके द्वारा वे लक्ष्य-सिद्धि कदापि नहीं कर सकते। उनको अपनी स्थिति के अनुसार पूर्वोक्त साधनों को करना ही पड़ता है तथा उनके लिए ऐसे ग्रंथों का अध्ययन अधिक लाभकर है, जिन में निष्काम कर्म, वैराग्य, सगुण अथवा विराट्-पुरुषोपासना का निरूपण हो। प्रथम कक्षों की भक्ति वैराग्य की सिद्धि का साधन है और तृतीय कक्षा की भक्ति का उपर्युक्त वैराग्य साधन है। यह सम्पूर्ण विवेचन साधक की दृष्टि से किया गया है, सिद्ध के लिए नहीं।

६. वैराग्य के सामर्थ्य का विचार

वैराग्य साधन मात्र है लक्ष्य नहीं

कौन ऐसा प्राणी है, जिसकी सुख और उसके साधन में प्रीति या राग, दुःख और उसके साधन से द्वेष या घृणा न हो, यह अनिवार्य है। सुख की आशा से किये गये प्रयत्न अनेक बार विफल हो जाते हैं। इष्टपदार्थ प्राप्त नहीं होता और प्राप्त होने पर भी शीघ्र या विलम्ब से इसका वियोग होना अनिवार्य है। इसी प्रकार उस वियोग से पैदा होने वाला दुःख भी आवश्यक है। भोग से लालसा—तृष्णा—प्रतिदिन बढ़ती है, शान्त नहीं होती।

कौन ऐसा वज्रहृदय मनुष्य है, जिसने मादक द्रव्य के सेवन में आसक्त मनुष्यों को, उन के सेवन से प्रतिक्षण बढ़ती हुई तृष्णा के कारण अपने सर्वस्व, धन, जन, वैभव, सम्पत्ति और मान आदि को आहुति करते न देखा हो और उसके मन में परिणामतः मद्यपों के प्रति करुणा तथा विषय-भोग के कटु विषमय दुष्परिणाम से भीति तथा ग्लानि न उत्पन्न हुई हो। कितने ही युवक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर काम-भोग की ज्वाला में अपने जीवन की आहुति दे देते हैं और अपनी प्राण-प्रिय पत्नी तथा संबंधियों को शोक की भट्टी में झोंक देते हैं। कई युवकों के देश, जाति तथा मनुष्य-समाज की सेवा के प्रशंसनीय विचार भोग-लालसा के कारण धूलि में मिल जाते हैं। कोई नित्य सुख है या नहीं है? उसका वास्तविक स्वरूप तथा प्राप्ति का साधन क्या है? सुख-दुःख का भोक्ता जीव नित्य है या अनित्य? आदि सिद्धान्तों के सम्बंध में, जिनमें अनेक मत भेद हैं, कोई मनुष्य निर्णय न कर सके, तो इसमें आश्चर्य नहीं। परन्तु ऐसा मनुष्य मिलना कठिन है, जिसने सुख-भोग के द्वारा लालसा-वृद्धि के कारण अपने सामान्य स्वार्थ तथा परम उदार आदर्शों की पूर्ति में बाधा न अनुभव की हो। अर्थात् भोग-तृष्णा के दुष्परिणाम से मनुष्यमात्र परिचित है। अतः यह स्वाभाविक है कि अपनी मनोभावना की पूर्ति तथा जीवन की रक्षा के लिए इस तृष्णा को विजय करने का यत्न करे। कई लोग इस प्रकार के होते हैं, जो इस तृष्णा की अदम्य ज्वाला

से खिन्न होकर इसके निर्मूल करने को ही अपना स्वतंत्र लक्ष्य या परमोद्देश्य बना लेते हैं। इस विचार की श्रेणी के लोग तृष्णा को ही जन्म, मृत्यु तथा उसके पश्चात् होने वाले सम्पूर्ण दुःखों का कारण मानते हैं और तृष्णा की निवृत्ति को ही ऐहिकसुख का एक मात्र कारण मानते हैं, जिसके वैराग्य, वितृष्णा, अनासक्ति आदि कई नाम रखे जाते हैं। इस में कोई सन्देह नहीं कि विरले ही ऐसे मनुष्य होते हैं, जो वितृष्णा के इस स्वरूप को समझते हैं और उसके विजय के लिए अपने प्राणों तक को अर्पण करने के लिए उद्यत होते हैं। जिन्होंने इस वितृष्णा के सुख को यत्किञ्चित् भी अनुभव किया है, वे लोग निम्नलिखित प्रकार के शब्दों में इस रस का वर्णन करते हैं:—

इन्द्रोऽपि न सुखी तादृग् यादृग् भिक्षुर्हि निस्पृहः।
कोऽन्यः स्यात् इह संसारे त्रिलोकिविभवे सति॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशीं कलाम्॥

"जितना निःस्पृह (तृष्णा-हीन) भिक्षु सुखी है, उतना इन्द्र भी नहीं, इस संसार में त्रिलोकी के ऐश्वर्य के होने पर भी तृष्णा-युक्त किसी अन्य के सुखी होने की तो बात ही क्या। जो संसार में कामना से उत्पन्न होने वाला सुख है, और जो बड़ा भारी दिव्य सुख है, वे सब सुख तृष्णा-क्षय के सुख की सोलहवीं कला के भी योग्य नहीं हैं।"

इस से मिलते जुलते भगवान् बुद्ध के अनेक वचन मिलते हैं। उपर्युक्त दृष्टि वाले सज्जन तृष्णा तथा तृष्णा के दुष्परिणाम के अज्ञान को ही दुःख की परम्परा का कारण मानते हैं। और उसके ज्ञान द्वारा दुष्परिणाम के अज्ञान की निवृत्ति तथा तृष्णा-निवृत्ति रूपी वैराग्य—वितृष्णा—अनासक्ति—को ही मनुष्य के जीवन का परमोद्देश्य मानते हैं तथा अनासक्त को ही आदर्श पुरुष मानते हैं। इसके अतिरिक्त कोई उपाय या लक्ष्य स्वीकार नहीं करते। इस विषय से मिलते जुलते वैदिक उपनिषद्-वचन भी मिलते हैं*। योगवासिष्ठ, महाभारत तथा मनुस्मृति में भी इस प्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं।

---

* कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥ मु० ३,२,२

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठ ६,१४

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम्॥ बृहदारण्यक ४,४,४

७. स्वतंत्र विचार-प्रधान तथा वेदोक्त वितृष्णा, वैराग्य, कामत्याग में भेद।

संसार-चक्र का मूल कारण आत्मा का अज्ञान है।

स्वतन्त्र विचार-प्रधान मनुष्यों के वितृष्णा, वैराग्य, काम-त्याग, अनासक्ति का स्वरूप, तथा दुःखमय संसार के उच्छेद करने के साधनों, और वेदोक्त वितृष्णा, वैराग्य, कामत्याग, अनासक्ति का स्वरूप, तथा संसार-चक्र के उच्छेद करने के साधनों में इनके स्थान तथा महत्त्व में भेद है। वैदिक संस्कार से शून्य मनुष्य इस परिणामशील, स्थूल अथवा सूक्ष्म देह के अतिरिक्त अन्य किसी नित्य तत्त्व को नहीं मानते, अथवा मानते भी हैं, तो उसके ज्ञान को परमलक्ष्य या साधनरूप में नहीं मानते, या स्वरूप स्थिति को परमलक्ष्य मानते हुए भी कामना-निवृत्ति मात्र से ही उसकी प्राप्ति मानते हैं और किसी उपाय की आवश्यकता उस के लिए स्वीकार नहीं करते। इन सब उपर्युक्त भिन्न २ विचारों वाले ये लोग इस एक विषय में सहमत हैं कि नित्य तथा अनित्य आदि दोषों के विचार से तृष्णा का मूल सहित नितान्त नाश हो सकता है। और क्योंकि यह तृष्णा ही संसार-चक्र का एकमात्र कारण है, अतः इसके नाश से संसार-भय की सर्वथा निवृत्ति तथा परमपद की प्राप्ति हो जाती है, अथवा तृष्णा-निवृत्ति और परमपद की प्राप्ति में कुछ अन्तर नहीं है। परन्तु श्रुति वैराग्य (अनासक्ति आदि) की आवश्यकता मानते हुए भी इसको ही स्वतन्त्र रूप से संसार-भय की निवृत्ति में साधन नहीं मानती। और प्रेय-प्रलोभन, प्रेयमार्ग में योग-क्षेम रूपी दोष, नाश-भय तथा भोग द्वारा तृष्णारूपी ज्वाला की वृद्धि को स्वीकार करती है। तथा संसार-चक्र और भय के कारणों में तृष्णा को उचित स्थान देती है। परन्तु वह इसे संसार-भय का परम कारण नहीं मानती। राग तथा तृष्णा का कारण विषय में सुख-प्रतीति है, परन्तु यह सुख की प्रतीति भी प्राणिमात्र तथा मनुष्यमात्र में प्रत्येक पदार्थ के विषय में समान नहीं होती। एक जाति, एक आयु, एक माता-पिता तथा अन्य बाह्य परिस्थितियों के समान होने पर भी इस संबन्ध में व्यक्तियों में भेद पाया जाता है। इसका कारण केवल योगाभ्यास की भिन्नता नहीं हो सकती।

भिन्न २ मनुष्यों के प्रेय-पदार्थों का वर्गीकरण किया जा सकता है। जैसे—कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनको रूप रस आदि विषय-भोगों में रुचि (प्रेम—आसक्ति) होती है। इनके प्रिय पदार्थों, भिन्न २ इन्द्रियों के विषयों अथवा एक ही इन्द्रिय के भिन्न २ रूपों या रसों में भेद हो सकता है, परन्तु इन सब में एक समानता है कि इनके प्रिय पदार्थ इन्द्रियों के विषय होते हैं। दूसरा वर्ग उन मनुष्यों का हो सकता है, जिन्हें भिन्न २ प्रकार के कर्मों, खेल-कूद, पर्यटन, तथा कला-कौशल के सञ्चालन, आदि में अधिक रुचि होती है। इन में उनकी दक्षता भी स्वाभाविक होती है। यहां भी कार्यों या प्रवृत्तियों के क्षेत्रों में भिन्नता होने पर भी एक प्रकार की समानता होती है, जिस से वे सब एक वर्ग में आ जाते हैं। तीसरे प्रकार के वे लोग हैं, जिन्हें संसार की पहेलियों को सुलझाने, नियमों को जानने आदि में विशेष रुचि होती है, ये ज्ञान-प्रिय खोजी एक स्वतंत्र वर्ग में रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार चौथी श्रेणी के वे लोग होते हैं, जिनमें प्रभुत्व का भाव अथवा शासन करने की रुचि तीव्र होती है। इन के

लिए वे धन, विषय-सुख, शारीरिक आराम, सगे सम्बंधियों तथा प्राणों तक को भी प्रसन्नता पूर्वक न्योछावर कर देते हैं। कुछ पांचवीं प्रकार के ऐसे भी मनुष्य दीखते हैं, जो दूसरों को धोखा देकर प्रसन्न होते हैं, दूसरों की वञ्चना करने में उन्हें विशेष आनन्द आता है, इसी को वे अपना आदर्श मानते हैं और इसका वर्णन गर्व से करते हैं। इस वर्गीकरण से यह ज्ञात होता है कि यह रुचि-भेद किसी सामान्य अभ्यास के कारण नहीं, प्रत्युत मन की कुछ विशेष गठन ही ऐसी है, जिस के कारण व्यक्तियों को विशेष २ वर्गों के पदार्थ ही प्रिय होते हैं। एक मनुष्य के लिए अपने वर्ग के पदार्थों (विषयों) का परिवर्तन कर देना ही संभव होता है, वर्गमात्र का परिवर्तन करना उसके लिए प्रायः असंभव होता है। उदाहरण के लिए जिन लोगों को इन्द्रियों के विषय प्रिय हैं, उनके लिए एक इन्द्रिय के प्रिय पदार्थ को छोड़ कर दूसरी इन्द्रिय के पदार्थों का ग्रहण कर लेना सरल होता है, परन्तु ज्ञान-प्रिय बनना उनके लिए असंभव है। कहने का अभिप्राय यह है कि विशेष पदार्थों में अनुभव होने वाले सुख, राग तथा तृष्णा का कारण अभ्यास नहीं है, प्रत्युत इसका कारण भिन्न २ व्यक्तियों के मनों की बनावट स्थिति या विशेष गुण हैं, जिन्हें शास्त्र की परिभाषा में सत्व, रज तथा तम कहा जाता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि इस सुख-दुःख, राग-द्वेष, तृष्णा, आसक्ति-अनासक्ति आदि भावों को मापने वाली, इनको स्वीकार और अस्वीकार करने वाली, इन भावों के गमनागमन को प्रकाश करने वाली कोई सत्ता है जो इन भावों से भिन्न है। उपर्युक्त व्यवहार ही उसके इन भावों से पृथक् होने के हेतु हैं। यह सत्ता किसी भाव के विद्यमान होते हुए तद्रूप सी भासती है, तद्भावरूप होने के कारण वैसा व्यवहार करने को उद्यत सी प्रतीत होती है। इस सत्ता की विद्यमानता और अभेद-भाव के विना किसी मानसिक भाव में कार्य-क्षमता नहीं होती। यह अभेद ग्रन्थि ही इस प्रवाह का मुख्य, मूल तथा अनादि कारण है।

विषयों में राग-द्वेष स्वाभाविक नहीं है। चित्त की तम आदि भिन्न २ गुणों की प्रधानता की अवस्था में भिन्न २ पदार्थ तथा भाव स्वाभाविकरूप से प्रिय भासते हैं। उदाहरणार्थ तमोगुण की प्रधानता में क्रूरता निद्रा आदि कार्य, रजोगुण की प्रधानता में खेल-तमाशे तथा विषय-भोग और सत्व-गुण की प्रधानता की अवस्था में ज्ञान-विज्ञान में रुचि होती है। जब प्रधान गुण परिवर्तित हो जाता है तो पूर्वकालीन प्रिय पदार्थों में स्वतः अरुचि हो जाती है। मन में प्रलोभन उपस्थित होने पर उसके वश में न आना, राग-मोह के वश उस विषय का सेवन न करना ही वैराग्य तथा अनासक्ति नहीं है, यह तो सामान्य संयम है। परन्तु गुण के परिवर्तित हो जाने पर किसी पदार्थ में सुख के उपभोग की लालसा का ही उदय न होना उस विषय में सामान्यतया वास्तविक वैराग्य (अनासक्ति) है। उपर्युक्त विचार से यह निश्चय होता है कि जाति (योनि) तथा चित्त के प्रधान गुण आदि के भेद के कारण राग-द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। इनके गुण और दोष आदि को विचारना, प्रकाश करना तथा तदनुसार ग्रहण अथवा त्याग करना, आसक्ति-अनासक्ति को तोलना आदि कार्य कोई अन्य शक्ति करती है, जो किसी प्रबल वेग की दशा में वेग तथा अपनी सत्ता में भेद नहीं करती। अतः उस वेग के अधीन व्यवहार होता है।

वह शक्ति सुख-दुःख मानती अथवा उस उस प्रकार का व्यवहार करती हुई प्रतीत होती है, परन्तु वेग के निर्बल होने पर भेद को कुछ कुछ अनुभव करती है। जब इस प्रकार क्रमशः तीनों गुणों का बल क्षीण हो जाता है, और चित्त-धारा निर्मल एकरस शान्त रूप से बहने लगती है, तब, यदि वह शक्ति अत्यन्त शास्त्र-श्रद्धा-हीन तथा संस्कार-रहित नहीं है, तो अपनी त्रिकालाबाध्य स्वतन्त्र सत्ता को अनुभव करती है। अतः यह ज्ञात होता है कि इस दुःखपरम्परा रूपी संसार-चक्र का मूलकारण विषय के सुख से उत्पन्न होने वाले राग की प्रबल अवस्था-तृष्णा-मात्र नहीं है। सुख दुःख आदि के अनुभव करने वाला अथवा प्रकाश करने वाला भोक्ता आत्मा इन सब सुख-दुःख, तृष्णा आदि के भावों से पृथक् है, परन्तु भ्रान्ति तथा भेद के अज्ञान के कारण भेद होते हुए भी इन भावों से तद्रूप हुआ और सुख-दुःखादि का भोक्ता प्रतीत होता है। इस निष्कर्ष से यह सिद्ध होता है कि अवैदिक विचार वाले जहां तृष्णा को ही संसार-चक्र का मूल कारण मानते हैं वहां श्रुति तृष्णा तथा आसक्ति को ही संसार-भय का मूल कारण स्वीकार नहीं करती।

श्रुति, परमलक्ष्य की सिद्धि में वैराग्य तथा तृष्णा के अभाव को उचित महत्त्व देते हुए, कहीं २ तृष्णा-रहित स्थिति को अमृतपद का विशेषण देते हुए भी, यह स्वीकार नहीं करती कि तृष्णा के क्षयमात्र से परम पद प्राप्त हो जाता है। क्योंकि वह इसी को संसार का मूल कारण स्वीकार नहीं करती। जैसा कि स्वतन्त्र विचार के लोग तृष्णा-रहित स्थिति, तथा कामना के अभाव को ही परम पद स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में कामना ही संसार-चक्र का मूल कारण है। श्रुति का तो यह अभिप्राय है कि इस आसक्ति, सुख-दुःख की अनुभूति तथा राग-द्वेष का भी मूल कारण आत्मानात्म का अविवेक है, जिसका स्वरूप अपने आप को स्थूल देह, बुद्धि तथा चित्त रूप मानना है। देह और आत्मा का अभेद-रूपी मिथ्या-ज्ञान का अभ्यास ही संसार-चक्र का अनादि कारण है। चित्त-जड़-ग्रन्थि तथा हृदय ग्रन्थि इसी का नाम है। उपर्युक्त सामान्य राग-द्वेष तथा तृष्णा इस मूल अज्ञान का अंकुर है, जो आगे चलकर प्रवृत्ति द्वारा जन्म मरण आदि अनन्त दुःख-परम्परा का कारण बनता है, जैसा कि न्याय दर्शन (१,१,२) में कहा है कि (१) आत्मा का स्वरूप-विषयक अज्ञान संसार-चक्र का मूल कारण है। (२) कुत्ता बिल्ली, मनुष्यादि शरीरों में आत्म-भ्रान्ति होने से उस योनि सम्बंधी राग-द्वेष, मोह-रूपी दोष स्वभावतया उत्पन्न होते हैं। (३) इन रागादि दोषों के कारण प्रवृत्ति अर्थात् (इष्ट-अनिष्ट-मोह वश) शुभाशुभ कर्म होते हैं। तथा (४) प्रवृत्ति का फल जन्म होता है और (५) जन्म—शरीर धारण—से दुःख होता है। यह चक्र अनादि काल से निरवच्छिन्न रूप से चला आता है। अवैदिक सम्प्रदायोक्त सामान्य तृष्णा की निवृत्ति अर्थात् स्वतन्त्र कामना की निर्मूलता से इस चक्र से निवृत्ति रूपी अपवर्ग नहीं हो सकता, प्रत्युत वह अपवर्ग आत्मा के ज्ञान द्वारा उस तृष्णा का मूल कारण आत्मा के अज्ञान की निवृत्ति से क्रमशः होता है। यह क्रम इस प्रकार है:—ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति, अज्ञान की निवृत्ति से दोष की निवृत्ति, दोष की निवृत्ति से प्रवृत्ति की निवृत्ति और प्रवृत्ति की निवृत्ति से जन्म—शरीर—की निवृत्ति। इस प्रकार शरीर से स्पर्श न होने पर दुःख का स्पर्श नहीं

होता। आत्म-ज्ञान के अभाव में नित्य-अनित्य आदि दोषों के विचार अथवा अन्य साधनों के बल से जो अनासक्ति सी भासती है, वह वास्तविक अनासक्ति नहीं है, वह तो आसक्ति की ही सूक्ष्म अवस्था है। बेशक, सामान्य सांसारिक मनुष्यों की तृष्णा-संयुक्त अवस्था की अपेक्षा यह अवस्था अत्यन्त निर्मल तथा शान्त प्रतीत होती है, परन्तु यह दशा परम अनासक्ति की नहीं है। इसमें अभी आसक्ति विद्यमान है और वह निर्बीज नहीं हुई है। क्योंकि इसका मूल बीज आत्म-अज्ञान अभी दग्ध नहीं हुआ। अतः यह वैराग्य की पराकाष्ठा नहीं। इस अवस्था का समय पाकर ह्रास होता है। प्रमाद-वश उस में फिर अंकुर उत्पन्न होकर संपूर्ण संसार-चक्र पूर्ववत् चल सकता है।

इसी प्रकार योगदर्शन (१,१२) में चित्त की वृत्ति के निरोध के लिए अभ्यास तथा वैराग्य दो उपाय बताये गये हैं। व्यास भगवान् ने इस सूत्र के अपने भाष्य में इन दोनों का भिन्न २ प्रयोजन बताया है। जिसका यह अभिप्राय है कि दो में से किसी एक को छोड़ा नहीं जा सकता। दोनों का समुच्चय रूप से अनुष्ठान आवश्यक है। पहले वैराग्य की अनिवार्य आवश्यकता का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि वैराग्य के विना किया गया विचार आदि प्रधान, आत्म-विवेक-अभ्यास कैवल्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। फिर यह भी बताया है कि केवल वशीकार वैराग्य द्वारा भी चित्तवृत्ति निरोध तथा स्वरूप-स्थिति (देहरूपी संसार दुःख से वियोग) नहीं हो सकती। क्योंकि सूत्र समुच्चय रूप से दोनों साधनों का निर्देश करता है। व्यास भगवान् की व्याख्या परम रहस्य पूर्ण है। आत्म-अज्ञान की निवृत्ति का मुख्य अन्तरतम साधन तो आत्म-विवेक-अभ्यास ही है। परन्तु वैराग्य के दृढ हुए विना केवल विवेकाभ्यास, अभ्यास का आभास मात्र वृथा श्रम है। इस से फलसिद्धि नहीं हो सकती। अतः आत्म-विचार आदि का अनुष्ठान वैराग्य सम्पत्ति आदि के सहित ही करना चाहिए। समुच्चय का भी यही अभिप्राय है कि केवल वैराग्य न तो परम लक्ष्य ही है और न परम साधन ही। जो व्यक्ति वैराग्य मात्र को परम लक्ष्य या साधन मान कर इसको सबीज (आत्म-अज्ञान के सहित) अन्तिम अवस्था मान बैठता है, वह अपनी इस भ्रान्ति, प्रमाद, अधीरता तथा नास्तिकता के कारण परम लक्ष्य, संसार-भय की निवृत्ति, परमशान्ति तथा परमानन्द से वञ्चित रह जाता है। शान्ति तथा आनन्द की अवस्थाओं में अनन्त तारतम्य है। अवधि वाले आनन्द तथा शान्ति में ही परमानन्द की भ्रान्ति हो रही है। यह भ्रान्ति शास्त्र तथा महापुरुषों में परम आस्तिकता तथा अनेक जन्मों के पुण्य प्रभाव से लब्ध श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निर्देश में परम श्रद्धा से निवृत्त हो सकती है। शब्द तो सामान्य निर्देश कर सकता है। अनुभवी महापुरुष अपनी अनुभूत परम शान्ति के आधार पर जिज्ञासु की स्थिति की न्यूनता विषयक निर्देश कर सकता है। दुराग्रहवश इस को ठुकरा देना अमृत पद को खो बैठना है। अतः शास्त्र तथा महापुरुषों के वचनों को अत्यन्त श्रद्धा-युक्त होकर समझने की चेष्टा करनी चाहिए और उनके निर्दिष्ट पथ पर चलना चाहिए।

८. कामना के अभाव को ही निःश्रेयस का मुख्य साधन कहने का वास्तविक तात्पर्य

उपनिषद् आदि शास्त्रों के जिन स्थलों में कामना से संसार तथा कामना के

अभाव से परम श्रेय की उपलब्धि का वर्णन आया है, उन स्थलों में आत्म-ज्ञान से रहित अकाम-भाव से स्वतन्त्र, साक्षात् अमृत पद की प्राप्ति का उल्लेख नहीं है। इसलिए इन वाक्यों का वास्तविक तात्पर्य ग्रहण न करके केवल वैराग्य तथा उसके साधन मात्र का आश्रय लेकर आत्माभ्यास तथा आत्म साक्षात्कार की ओर से प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि श्रुति का स्पष्ट तात्पर्य आत्म-ज्ञान का फल निःश्रेयस है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अतः उन वैराग्यप्रशंसक वाक्यों का अभिप्राय इस प्रकार है:—

(१) वैराग्य के प्रभाव को साधक के चित्त पर दृढ करने के लिए वे वाक्य अर्थवाद रूप हैं।

(२) अथवा आत्म-ज्ञान सहित वैराग्य का (वैराग्य सहित आत्म-ज्ञान का) फल निःश्रेयस सूचित किया गया है। वैराग्य रहित आत्म-ज्ञान वास्तविक नहीं है, अतः अविश्वसनीय है। क्योंकि राग अबोध का चिह्न है। सामान्य वैराग्य आत्म-ज्ञान के विना भी संभव हो सकता है। परन्तु आत्म-ज्ञान वैराग्य के विना अतीव असंभव है। अतः जब तक साधक के मन में विषयादि की वासना के वेग का प्रवाह चलता है, तब तक आत्म-ज्ञान को दृढ तथा फलोत्पादन में सामर्थ्यवान् नहीं समझना चाहिए। इसलिए वैराग्य के साधनों में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

(३) अथवा कमना के अभाव से उस निर्बीज कामना का अभाव अभिप्रेत है, जो आत्म-ज्ञान के पश्चात् ही होता है। जब आत्म-ज्ञान होने पर वैराग्य की पराकाष्ठा हो जाती है तब दग्ध बीज हो जाने से तृष्णा में अंकुर फूटने की सम्भावना नहीं रहती। इसी कारण से योगदर्शन में वैराग्य के दो भेद किये गये हैं।

योगसूत्रकार १,१५ सूत्र में वशीकार संज्ञा नामक अपर वैराग्य के निरूपण के अनन्तर १,१६ सूत्र में पर वैराग्य का इस प्रकार निरूपण करते हैं:—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

भगवान् व्यास के भाष्य का अर्थः—दृष्ट (लौकिक) तथा अनुश्रविक (पारलौकिक-जिनका बोध शास्त्र श्रवण से होता है) विषयों के दोषों (अनित्यत्व आदि) के साक्षात्कार से (अपर) वैराग्ययुक्त पुरुष, जिसकी बुद्धि प्रकृति तथा पुरुष के विवेकरूप दर्शन के निरन्तर अभ्यास द्वारा शुद्ध (रजोगुण और तमोगुण के क्षीण हो जाने से एक सत्त्व-प्रधान-प्रवाह-युक्त) हो गई हो तथा जो गुणों और पुरुष के उज्ज्वल विवेक से (पुरुष शुद्ध तथा अनन्त है और गुण इस से विपरीत हैं) पूर्ण हो चुकी है, अर्थात् समाधि-सम्पन्न योगी व्यक्त अव्यक्त धर्मों से युक्त गुणों से (गुणात्मक विवेक ख्याति से भी) विरक्त हो जाता है। अर्थात् पर (सर्वोत्तम) वैराग्य को प्राप्त करता है। यही दो प्रकार का वैराग्य है, (१) प्रथम वशीकार वैराग्य (२) द्वितीय परवैराग्य ज्ञान-प्रसाद मात्र है। यह वैराग्य निर्विषयक (आत्मा) ज्ञानालोक मात्र है। क्योंकि जिस ज्ञान के उदय होने के कारण पुरुष-ज्ञान से युक्त योगी ऐसा मानता है कि प्राप्त करने योग्य (मनुष्यजन्म का ध्येय—मोक्ष—) को प्राप्त कर लिया। नाश करने योग्य (वासना सहित अविद्या आदि) क्लेश नाश हो गये। जन्म मरण प्रवाहरूप संसार के कारण संश्लिष्ट (घने) कर्म

(धर्म अधर्म) छिन्न भिन्न हो गये हैं, जिनके छिन्न-भिन्न न होने से मनुष्य उत्पन्न होकर मरता है और मर कर पुनः जन्म लेता है, क्योंकि यह (पर पुरुष) ज्ञान की पराकाष्ठा ही है। ऐसे (ज्ञान स्वरूप) वैराग्य से भिन्न कैवल्य नहीं है। अर्थात् ऐसा ज्ञान अथवा वैराग्य ही कैवल्य (मोक्ष) है।

परवैराग्य पुरुष (आत्मा) के ज्ञान का फल है जो सम्पूर्ण गुणों के राग को भस्मसात् कर देता है। आत्म-ज्ञान के अनन्तर निर्बीज वैराग्य की पराकाष्ठा का ही यह नाम है। अथवा आत्म-ज्ञान की दृढावस्था का नाम ही परवैराग्य है। परवैराग्य ज्ञान का प्रसाद, ज्ञानालोक अथवा वह स्थिति है, जो आत्म-दृष्टि से ज्ञात है तथा संसार-गुण-मात्र की दृष्टि से परवैराग्य है। अतः जहां कठोपनिषद् आदि ग्रन्थों में कामत्याग, कामाभाव, वैराग्य, अनासक्ति तथा संकल्प-त्यागमात्र आदि का अमृतपद, परमसाधन अथवा परमपद के रूप में वर्णन किया है, उन सब स्थलों पर उपर्युक्त विवेचन के अनुसार संगति लगानी चाहिए।

आत्म-ज्ञान ही संसार मार्ग की निवृत्ति का एक मात्र उपाय है। इस सिद्धान्त का समर्थन निम्नलिखित श्रुति वाक्यों में पाया जाता है:—

तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। मुण्डक ३,२,८

"ऐसे ही विद्वान् अविद्याकृत नाम-रूप-संसार से मुक्त होकर, अव्यक्त प्रकृति से भी परे परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है"।

तरति शोकमात्मवित्। छान्दोग्य ७,१,३

आत्म-ज्ञानी शोक मोह से पार हो जाता है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। श्वेताश्वतर ३, ८

परमात्मा को जान कर मृत्युरूप संसार का उल्लंघन कर जाता है। मोक्ष का दूसरा (इस से भिन्न) और कोई मार्ग नहीं।

निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। कठ ३,१५

उस परमात्मा का निश्चित, असंदिग्ध साक्षात्कार प्राप्त कर जिज्ञासु मृत्यु के मुख से बच जाता है। पुनः इस जन्म मरण रूप संसार-चक्र में नहीं आता।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ईश ७

जिस अवस्था अथवा काल में विद्वान् के लिए सम्पूर्ण प्राणी (भूत) आत्मरूप हो जाते हैं, तब ऐसे एकत्वदर्शी के लिए कौन सा शोक और मोह रह जाता है, अर्थात् कुछ शोक मोह नहीं रहता।

उपर्युक्त मुण्डक तथा बृहदारण्यक उपनिषद् वाक्यों में जहां काम-विजय या कामाभाव शब्द आये हैं वहां साथ ही आत्मा का भी वर्णन है।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।

कृतात्मनः—जिसने आत्मा के ज्ञान द्वारा अविद्याकृत आध्यासिक देहतादात्म्यापन्न (देह युक्त चेतन ही आत्मा है) स्वरूप से शुद्धात्म स्वरूप को पृथक् कर लिया है, या ऐसा निश्चय कर लिया है, अथवा जिसने परमानन्द स्वरूप परमात्मा का अनुभव करके सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लिया है, या उस परमात्मा की कामना वाला हो गया है, उसकी यहां ही—इस शरीर में ही—अर्थात् यहां आत्मज्ञान से ही कामनाओं की सर्वोत्तम निवृत्ति होने का कथन है। ऐसे ही—विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। मुण्डक ३,२,८ अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः बृ ४,४,६ अर्थात् अब कामना रहित गति का निरूपण होता है—जो कामना रहित है, जिन की सर्व कामनाएं निवृत्त हो गयी हैं, अथवा जो केवल आत्मा की कामना वाला है, उसके प्राण देह से नहीं निकलते, वहीं लीन हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अकाम का भाव यहां पर आत्मकाम से है। कामना के अभाव अथवा आत्म-ज्ञान में कुछ भेद नहीं। जो फल वर्णन किया गया है, वह आत्म-ज्ञान का ही फल है। आत्म-ज्ञान से उसकी सम्पूर्ण अनात्म—कामनाओं का अभाव हो गया है। अतः वह किस प्रयोजन से शरीर से निर्गमन करे।

६. प्रकरण निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन का सार यही है कि सामान्य बीज सहित कामाभाव, वैराग्य, वितृष्णा, अनासक्ति तथा संकल्प के त्यागमात्र से संसार-भय की निवृत्ति नहीं होती। आत्म-ज्ञान (स्वरूप स्थिति) के विना वासना का मूल (आत्मा का अज्ञान) निवृत्त नहीं होता और निवृत्ति के विना वासना के चक्र के पुनः पूर्ववत् चल पड़ने की संभावना है। जन्म-मरण रूपी चक्र के उच्छेद के लिए, एकमात्र उपाय आत्म-ज्ञान है अन्य कोई विकल्प इस सम्बंध में श्रुति को स्वीकृत नहीं है। अतः जो लोग आत्म-ज्ञान के विना किसी अन्य स्थिति अनासक्ति वैराग्यादि को परम पद मानते हैं, या वैराग्यमात्र से ही परम लक्ष्य की सिद्धि मान कर कृतकृत्यता मान बैठते हैं, वे लोग उपर्युक्त विचार से सम्मत श्रुति के सिद्धान्त के अनुसार भ्रान्ति में हैं। उन्हें दुराग्रह छोड़ कर श्रुति में परम आस्था का अवलम्बन करके आत्म-ज्ञान के उपाय—श्रवण, मनन आदि—में प्रवृत्त होना चाहिए।

कई लोग इस प्रकार से विचार करते हैं कि स्थितियां दो ही हो सकती हैं। (१) संसार की अनात्मस्थिति, और (२) आत्मस्थिति। इसलिए जब केवल वैराग्य के द्वारा संसार की सब अनात्म वस्तुएं छूट जाएंगी तो आत्मस्थिति अनिवार्य होगी। वह स्वतः प्राप्त हो जाएगी। सामान्यतः स्थूलदृष्टि से तो यह ठीक ही है। परन्तु जैसे ऊपर कहा गया है कि वैराग्य में भी अनन्त तारतम्य है। संसार अनन्त है, और सूक्ष्म से सूक्ष्म है। श्रुति में परम श्रद्धा के विना आत्म-अनात्म-निर्णय सहज नहीं है। मनुष्य को किसी ऐसी अनात्मस्थिति में जो अति रम्य तथा सूक्ष्म है, उसमें आत्म-स्थिति की भ्रान्ति हो सकती है। अतः इस प्रमाद को त्याग देना ही श्रेयस्कर

है। वैराग्य को अधिक महत्त्व देकर आत्म-विषयक प्रमाद से जहां भय है, वहां वैराग्य को कम महत्त्व देना, उसकी ओर से उपेक्षा या प्रमाद करना भी उतना ही भयदायक है। उपर्युक्त साधनों के द्वारा वैराग्य-सम्पत्ति के सम्पादन के अनन्तर ही शुद्ध ब्रह्म-विचार-प्रधान ग्रन्थों के अध्ययन से उपयुक्त फल प्राप्त हो सकता है। अन्यथा पतन का भय है। अनधिकार चेष्टा से उभयभ्रष्ट होने की सम्भावना ही नहीं, किन्तु वह अनिवार्य है। अतः वैराग्य सम्पादन विषय में उचित प्रयत्न करना चाहिए। अधिकारोचित साधन का अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर है। प्रलोभन तथा कौतूहल के वश अधीर नहीं होना चाहिए। परन्तु केवल हठ या त्याग और केवल सामान्य नित्य तथा अनित्यादि दोष के विचार के द्वारा वैराग्य का सम्पादन करना सहज नहीं है। क्योंकि हठ से दबाए जाने पर वासनाओं का वेग बढ़ता ही है। अतः अपनी स्थिति के अनुसार मनोवेग का किसी सद्रूप-साधन, सामान्य कर्म, लोकहित, सेवा, सत्शास्त्र-अध्ययन, सत्संग तथा प्रेमपूर्वक ईश्वर पूजा व भजन में सदुपयोग करना चाहिए। और इस प्रकार प्राचीन वासनाओं के वेग को शनैः २ क्षीण करना चाहिए। रजोरूप शक्ति का नीति-युक्त उपयोग इस भांति करना चाहिए, जिस से यह अध्यात्म-पथ में बाधा न होकर सेवक का काम दे। गीता में भी ऐसा कहा है:—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ गीता २,५६

"विषय भोग को त्याग देने वाले मनुष्य के विषय निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् हट जाते हैं, परन्तु विषयों में रस बना रहता है। वह रस तो परमात्मा के दर्शन करने से ही नष्ट होता है।"

दूसरा अध्याय समाप्त।

तीसरा अध्याय

योग-भक्ति-निदिध्यासन

१. योग के सम्बन्ध में प्रथम भ्रान्ति

मोक्ष तो ज्ञान से होता है इसलिए योग में किया परिश्रम निष्फल है।

अध्यात्म-पथ में सकाम तथा निष्काम कर्म का महत्त्व, अधिकारी तथा साधन की अवधि, परमहित की दृष्टि से सिद्ध-स्वाभाविक मुख्य व्यवहार तथा वैराग्य का ब्रह्म-विद्या में उपयोग का सविस्तर विवेचन हो चुका है। योग—चित्तवृत्ति की एकाग्रता तथा निरोध—का भी समाधान प्रकरण में कुछ निरूपण हुआ है। इस के सम्बन्ध में कुछ अन्य आवश्यक बातें विचारणीय हैं।

२. योग के ब्रह्मविद्या में उपयोग-विषयक उपनिषदादि ग्रन्थों के वचन

द्वितीय खण्ड के सातवें अध्याय के समाधान प्रकरण में बृहदारण्यक उपनिषद् (४,४,२३) के आधार पर यह निरूपण किया गया है कि आत्मा की नित्य महिमा को जानने वाला विद्वान् शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर आत्मा का आत्मा में दर्शन करे अर्थात् समाहितचित्त—एकाग्रभूमि—के विना उपनिषद् विद्या के श्रवण में अधिकार नहीं होता।

आक्षेप—कई सज्जन योग को ब्रह्मविद्या में उचित महत्त्व नहीं देते और अपने इस पक्ष के समर्थन में कुछ श्रुतिवचनों को उपस्थित करते हैं। और वे ऐसा मानते हैं कि योग के विना केवल शास्त्र-विचार के आधार पर भी आत्म-ज्ञान की उपलब्धि तथा कृतकृत्यता प्राप्त हो सकती है।

(क) वे लोग निम्नलिखित उपनिषद् वाक्यों के आधार पर ब्रह्म को मन, वाणी आदि का अविषय कह कर ब्रह्म-ज्ञान-विषयक योग आदि साधनों के सम्बन्धी परिश्रम को निष्फल सिद्ध करते हैं।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो
यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ॥ केन १, ३.

"चक्षु, वाणी और मन की ब्रह्म तक पहुंच नहीं है। हमें ज्ञान नहीं है कि हम किस प्रकार उसका उपदेश करें। वह तो ज्ञान तथा अज्ञान से भी परे है"।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥ तैत्ति० २, ९.

"मन को साथ लिए हुए वाणी आदि इन्द्रियाँ जिस ब्रह्म को प्राप्त किए विना ही लौट आती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ मनुष्य कहीं से नहीं डरता।"

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।
माण्डूक्य० ७.

"उस अदृष्ट, इन्द्रिय से अग्राह्य, लक्षण-हीन, अचिन्त्य, शब्द से अकथनीय, एक ही आत्मा के ज्ञान से युक्त, प्रपञ्चहीन, शान्त, शिव और अद्वैत ब्रह्म को चतुर्थ पाद मानते हैं। वही आत्मा है और वही जानने योग्य है"।

(ख) अथवा वे लोग निम्नलिखित वचनों के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि मोक्ष तो केवल ब्रह्म-ज्ञान से होता है और ब्रह्म-ज्ञान के लिए उपनिषद्—श्रुति—ही अपूर्व एकमात्र प्रमाण है अतः योगादि अन्य साधन व्यर्थ हैं।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। श्वे० उ० ६, १५.

"उस नित्य, एकरस, आनन्द चिद्घन परमात्मा के ज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है, अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाश-शील संसार-चक्र से मुक्त होकर अमृतपद को प्राप्त कर लेता है। इस अमर धाम के लिये परमात्म-ज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग या उपाय नहीं है"।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। ईशोप० ७

"जब मनुष्य उस अद्वितीय परमात्मा के दर्शन कर लेता है, तब किसी प्रकार का भी शोक और मोह कैसे हो सकता है"?

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मुण्डकोप० २,२,८.

"उस परावर—कारण-कार्य-रूप अथवा शुद्ध-शबल स्वरूप—परमात्मा के साक्षात् दर्शन से इस जीव की आत्म-अनात्म-अविवेक रूपी हृदय की गांठ खुल जाती है। आत्मा, परमात्मा, परलोक आदि सम्बन्धी सम्पूर्ण संशयों का उच्छेद हो जाता है और समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों का नाश हो जाता है"।

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौकृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्। सां० द० ३,८४.

"पुरुष और प्रकृति के विवेक-ज्ञान से सम्पूर्ण दुःखों के नाश हो जाने से कृतकृत्य हो जाता है। अन्य कोई उपाय नहीं है, अन्य कोई उपाय नहीं है"।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।
न्या० द० १,१,२.

"आत्म-ज्ञान द्वारा (१) मिथ्या ज्ञान, (२) दोष—रागद्वेष—(३) प्रवृत्ति—कर्म—(४) पुनर्जन्म, (५) दुःख के क्रमशः निवृत्त हो जाने से अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है"।

तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि । बृ० उ० ३, ६, २६.

"मैं उस पुरुष के विषय में आप से पूछता हूं, जिस का उपनिषद् निर्देश करते हैं तथा जिस के ज्ञान का उपनिषत्-शिक्षा ही एक मात्र अपूर्व उपाय है"।

ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते ।

"ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है, जिस से संसार-चक्र से मुक्त हो जाता है"।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते । गीता ४, ३३.

"हे अर्जुन ! ज्ञान के उदय होने पर सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् उनका नाश हो जाता है। अथवा सम्पूर्ण कर्मों का परम फल प्राप्त हो जाने के कारण उनका कुछ व्यक्तिगत उपयोग नहीं रहता"।

एतेन योगः प्रत्युक्तः । वेदा० द० २,१, ३.

"पूर्वसूत्रोक्त सांख्य के खण्डन से ही योग का खण्डन हो जाता है"।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ॥ विवेक चूडा० ५८

"न योग से, न सांख्य से, न कर्म से, न विद्या—उपासना—से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष तो केवल ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व ज्ञान से ही सिद्ध होता है। मोक्ष-सिद्धि का अन्य कोई साधन नहीं है"।

इन सब श्रुतियों और स्मृतियों का एक स्वर से यह कथन कि ब्रह्म-ज्ञान ही साक्षात् मोक्ष का साधन है। ज्ञान के विना मोक्ष नहीं हो सकता।

उत्तर—(क) यद्यपि यह शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है कि ब्रह्म वाङ्मनसागोचर है, परन्तु श्रुति का परम प्रयोजन तो ब्रह्म-ज्ञान ही है और इसीलिए प्रधानतया श्रुति की प्रवृत्ति हुई है, अन्यथा श्रुति निष्फल तथा अप्रामाणिक हो जाती। यदि ब्रह्म-ज्ञान के उपाय ध्यान आदिकों का निषेध होगा, तो ज्ञान का उपायभूत उपनिषद् विद्या भी तो खण्डित हो जाएगी। इसलिए ज्ञान का उपाय उपनिषद् को स्वीकार करना ही पड़ेगा। श्रुति—उपनिषद्—के इस विषय में अपूर्व प्रमाण स्वीकृत होने पर भी जैसे अन्य प्रमाणों की सफलता के लिए अन्य सहकारी साधन अपेक्षित होते हैं, वैसे ही श्रुति प्रमाण की सफलता के लिए भी समाहितचित्त आदि अन्य सहकारी साधनों की आवश्यकता है।

(ख) इस लिए यद्यपि उपर्युक्त केन, तैत्तिरीय उपनिषद् आदि के श्रुति वचन ब्रह्म को वाङ्मनसागोचर तत्त्व प्रतिपादन करते हैं, परन्तु अन्य श्रुतियां बुद्धि के उपयोग का भी निर्देश करती हैं और योग का सहायकरूप से प्रतिपादन करती हैं।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ कठ ३,१२.

"यह आत्मा सर्व जड चेतन भूतों में माया के पर्दे के पीछे छिपा हुआ है, इस लिए सर्व साधारण बहिर्मुख, स्थूलबुद्धि वालों को उसका प्रकाश (ज्ञान) नहीं होता, परन्तु सूक्ष्मदर्शी, कुशल जन इस सूक्ष्मतम तथा अन्तरतम तत्त्व का एकाग्र तथा सूक्ष्म बुद्धि द्वारा साक्षात्कार करते हैं"।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ कठ २,१२.

"जो आत्म-तत्त्व योग-माया के पर्दे में छिपा हुआ है, जो सर्व पदार्थों में व्याप रहा है, तथा सब की हृदय रूपी गुफा में स्थित है, संसाररूप गहन वन में निवास करता है, जो सनातन है, इसीलिए जिसका दर्शन अत्यन्त कठिन है, शुद्ध तथा स्थिर मति वाले अध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा उसके दर्शन कर हर्ष शोक को छोड़ देते हैं"।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ कठ ६,१६.

"मनुष्य के हृदय से १०१ नाडियां निकलती हैं, उनमें से एक सुषुम्णा ऊपर की ओर जाती हुई मूर्धा—कपाल—ब्रह्म-रन्ध्र की ओर निकलती है। उसके द्वारा मनुष्य ऊपर के लोकों में जाकर अमृत पद को प्राप्त होता है। शेष १०० नाडियों द्वारा उत्क्रमण करने पर पुनः संसार की प्राप्ति होती है"।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ श्वेता० २,८.

"विद्वान् (शिर, ग्रीवा और छाती) ३ उन्नत भागों को सम (एक रेखा में सीधा) स्थापन करके तथा इन्द्रियों का मन सहित हृदय में निरोध करके, ओंकार रूप नौका के द्वारा सम्पूर्ण भयङ्कर प्रवाहों को पार कर जावे"।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संदधीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि । मुण्डक २,२,३.

"उपनिषद् में प्रसिद्ध धनुष रूपी महान् अस्त्र को लेकर उस पर उपासना (निरन्तर ध्यान) द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाए, फिर उसको (इन्द्रिय सहित मन को) अक्षर ब्रह्म में अनन्य भाव (भक्ति) द्वारा खींचकर अपने २ विषय से पृथक् करे। हे प्रिय ! उस अक्षर ब्रह्म रूपी लक्ष्य को ही विद्ध करे अर्थात् ब्रह्म में ही मन को स्थिर करके उसको ब्रह्माकार बना दे"।

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥ सांख्य ६,२९.

"ध्यान, धारणा, अभ्यास, वैराग्य आदि से मन का निरोध होता है"।

वैराग्यादभ्यासाच्च । सांख्य ३,३६.

"वैराग्य और अभ्यास द्वारा मन का निरोध होता है"।

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः । न्याय ४,२,४२.

"वन, गुफा, नदी तट आदि एकान्त, शुद्ध, निर्मल तथा अनुकूल स्थान में योग-समाधि अभ्यास का उपदेश है, अर्थात् योग में प्रतिबन्ध निवृत्ति के लिये एकान्त स्थान का सेवन करे"।

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः । न्याय ४,२,४६.

समाधि अथवा अपवर्ग की सिद्धि के लिए यम नियम अनुष्ठान द्वारा, तथा योग शास्त्र वर्णित आत्म-तत्त्व प्राप्ति के साधनों (प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान) द्वारा आत्मा का संस्कार करना चाहिए। अर्थात् इन साधनों से अधर्म का नाश तथा धर्म की वृद्धि से अन्तःकरण को लक्ष्यसिद्धि के लिये संस्कृत करना चाहिए।

अपवर्ग के साधन ज्ञान के सविस्तर निरूपण के पश्चात् न्यायदर्शन के इन दो सूत्रों में ज्ञान के साधन योग का, यम नियमादि अंगों के सहित उपदेश मिलता है, जिसका सम्यक् विस्तार योगदर्शन में हुआ है। और इसका आशय यह है कि तत्त्वज्ञान सामान्य तथा केवल तर्क—ऊहापोह—आदि के बल पर प्राप्त नहीं हो सकता। न्याय-दर्शन तर्कप्रधान शास्त्र होने पर भी यह स्वीकार करता है कि केवल तर्क या विवेचन द्वारा उस परम-तत्त्व का सफल साक्षात्कार नहीं हो सकता। प्रत्युत तत्त्व-प्रत्यक्ष तथा दोष-निवृत्ति से होने वाली तत्त्व-निष्ठा के लिए योग की अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार करता है।

योगदर्शन का तो कहना ही क्या है, जिसकी प्रवृत्ति ही योग के प्रतिपादन के निमित्त से हुई है। ब्रह्मसूत्र के कर्ता व्यास भगवान् का योगदर्शन पर अति प्राचीन तथा प्रामाणिक भाष्य मिलता है, इसलिए योग का समूल खण्डन नहीं किया जा सकता। ब्रह्म-सूत्र (२,१,३) "एतेन योगः प्रत्युक्तः" का उल्लेख किसी विशेष सिद्धान्त में मत-भेद के कारण किया गया हो सकता है। चित्त का समाधान ब्रह्मविद्या के अन्तरंगतम साधन षट्सम्पत्ति का अत्युपयोगी अंग है। और जिस योग का वर्णन अनेक स्थलों पर उपनिषदों में आता है, उसका समर्थन तथा उन उपनिषदों में वर्णित उपासनाओं के विषयों में संशयों का निवारण स्वयं ब्रह्मसूत्रकार ब्रह्मसूत्र के तृतीयपाद में करते हैं। वेदान्तदर्शन में भी योग का इस प्रकार समर्थन मिलता है:—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । वेदान्तदर्शन ३,२,३४.

भगवान् शंकरकृत भाष्य का अर्थ:—इन्द्रिय अग्राह्य (ग्रहण अयोग्य) होने पर भी समस्त प्रपञ्चशून्य (भिन्न) तथा अव्यक्त आत्मा को संराधन समय में देखते हैं। संराधन का अर्थ है-भक्तिसाधन आदि (जप नमस्कार······) अनुष्ठान द्वारा संस्कृतचित्त

का सर्वान्तर आत्मा में विशेष रूप से निधान—लगाना। यह कैसे पता चलता है कि संराधन समय में आत्म साक्षात्कार होता है? श्रुति-स्मृति द्वारा संराधन के महत्त्व का ज्ञान होता है। क्योंकि निम्नलिखित श्रुति-स्मृति इसका समर्थन करती हैं:—

(१) स्वयंभू (परमात्मा) ने अनात्म (भौतिक-बाह्य) पदार्थों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों की हिंसा की। (अर्थात् इन्द्रियां अमरत्व के साधनभूत आत्म-तत्त्व को देखने की योग्यता से शून्य हैं। इसलिए प्राणी इनके विषयों को ही परम इष्ट समझते हुए तथा इन इन्द्रियों के वश हुए आत्म तत्त्व को नहीं देखते। इसलिए कोई बुद्धिमान् मनुष्य (इन्द्रियों तथा इन के विषयों के संहार-मूलक दोष को समझने वाला) इन्द्रियों को (विषयों से) निरुद्ध कर, मोक्ष चाहने वाला अन्तरात्मा (शुद्धचित्त में शास्त्रद्वारा) के दर्शन करता है। कठ० ४,१

(२) जिन प्रयत्नशील साधकों ने विषय के संसर्ग से उत्पन्न हुई रागादि की कालिमा की निवृत्ति से ज्ञान (बुद्धि) के प्रसाद (स्वच्छता—शान्ति) द्वारा अन्तःकरण को पूर्णतया शुद्ध कर लिया है, उन में ही आत्मदर्शन की योग्यता होती है। इसलिए ऐसे साधक ही उस सर्व व्ययरहित आत्मा का (एकाग्रमन से) निरन्तर चिन्तन करते हुए उसका दर्शन करते हैं। मुण्डक ३,१,८

(३) निद्रा से रहित श्वास को वश में करते हुए (प्राणायामनिष्ठ) जिन की इन्द्रियां संयम में है, वे ध्यान करते हुए जिस ज्योति को देखते हैं उस योग-लभ्य आत्मा को नमस्कार है। उस सनातन भगवान् को योगी सम्यक् प्रकार से देखते हैं। (स्मृति इत्यादि)

बृहदारण्यकोपनिषद् (४,५,६) के उस प्रसिद्ध उपाख्यान में, जिसमें याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मदर्शन के माहात्म्य तथा उपायों को बताया; "न वा अरे पत्युः कामाय" से आरम्भ करके जाया, पुत्र, वित्त, ब्रह्म, क्षत्रजाति, लोक, देव सर्वपदार्थों का वर्णन करते हुए कहा है कि ये सब आत्मा को अपने लिए ही प्यारे होते हैं। पदार्थ पदार्थों के लिए प्यारे नहीं होते; "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" परन्तु सब कुछ आत्मा के लिए ही प्यारा होता है अतः—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो
मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्॥"

"हे मैत्रेयि! आत्मा को ही देखना, सुनना, मनन करना, ध्यान करना चाहिए, क्योंकि आत्मा के देखने, सुनने, मनन करने से यह सब कुछ देखा, सुना, मनन किया तथा जाना जाता है"। इस प्रसंग में भी आत्म-दर्शन के उपायरूप से उपनिषद्—ब्रह्मविद्या उपदेश—के केवल श्रवण अथवा मनन का ही निर्देश नहीं है प्रत्युत निदिध्यासन का भी है। अर्थात् निदिध्यासन की भी इन उपायों के साथ साथ अनिवार्य आवश्यकता है। केवल इतना ही नहीं प्रत्युत केवल श्रवण से इसका महत्त्व बहुत अधिक है, जिसका निरूपण स्वयं भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने विवेकचूडामणि में किया है:—

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति।
समाधिनाऽत्यन्तसूक्ष्मवृत्त्या ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः॥ वि० चू० ३६१.

"परमात्मा (अन्य अनात्म पदार्थों की अपेक्षा) अत्यन्त सूक्ष्म है। (इसलिए अनात्म स्थूलपदार्थ ग्राहक) स्थूलबुद्धि की समझ (पकड़) में नहीं आता। शुद्ध (विरक्त) बुद्धि-सम्पन्न श्रेष्ठ (वेदानुयायी आस्तिक) पुरुषों को समाधि (निदिध्यासन) से अत्यन्तसूक्ष्म (आत्माकार) वृत्ति द्वारा इस आत्मतत्त्व का जानना योग्य (युक्त) है"।

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ॥ वि० चू० ३६५

"श्रवण से सौ गुणा अधिक मनन को जानना चाहिए तथा मनन से भी निर्विकल्प निदिध्यासन को लाख गुणा अधिक जानना चाहिए"।

निर्विकल्पसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्।
नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत्। वि० चू० ३६६

"निर्विकल्प समाधि की महिमा तो अनन्त है, निश्चय ही निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्मतत्त्व निश्चित ही स्पष्ट समझ में आजाता है। इसके विपरीत मनोगति के चलने पर तो वह अन्य प्रत्ययों में मिला हुआ सा हो जाता है"।

पंचदशी में भी योग का ब्रह्म के साक्षात् ज्ञान के सहकारी साधन होने के रूप में वर्णन है:—

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसञ्चये ॥
वाक्यं प्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥
परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥
अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥ पंचदशी १,६१–६४

"निदिध्यासन अथवा योग द्वारा सम्पूर्ण वासना समूह सर्वथा विलीन हो जाता है और पापपुण्यरूप कर्मसंचय, अविद्या, राग आदि मूल सहित नाश हो जाता है। इसलिए निदिध्यासन से पूर्व महावाक्य द्वारा वासना तथा कर्मों के प्रतिबन्ध के कारण परोक्ष ज्ञान ही होता है। परन्तु निदिध्यासन से उपर्युक्त प्रतिबन्धों के नाश हो जाने पर महावाक्य द्वारा हथेली में रखे आंवले के समान ब्रह्मात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से महावाक्य के श्रवण के कारण उत्पन्न ब्रह्म का परोक्ष विज्ञान जानबूझ कर किये पापों को अग्नि के समान जला देना है; परन्तु निदिध्यासन से उत्पन्न आत्मा का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान संसार के पूर्ण अज्ञानरूपी अन्धकार को सूर्य के समान नाश कर देता है"।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए निदिध्यासन रूपी योग की अनिवार्य आवश्यकता है। यद्यपि ब्रह्म वाङ्मनसागोचर तत्त्व है, तो भी श्रुति उसके निरूपण का यत्न करती है। ब्रह्म नितान्त अज्ञेय नहीं है। ब्रह्म-ज्ञान ही संसार-बंधन के विमोचन का एकमात्र उपाय है, उसी का श्रुति प्रतिपादन करती है। इसी में श्रुति की अपूर्वता है। समाहितचित्त एकाग्र भूमि वाला ही इस ब्रह्मविद्या के श्रवण का अधिकारी है। और श्रवण के अनन्तर भी सामान्यतया मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता रहती है। निस्सन्देह श्रुति ही ब्रह्म के विषय में परम तथा अपूर्व प्रमाण है। और यह स्वीकार कर लेने पर भी कि श्रुति के अनुसार महावाक्य के श्रवण के विना ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो सकता, और सर्वोत्तम अधिकारी को केवल श्रवण से ही ज्ञान हो जाता है। परन्तु ऐसा सर्वोत्तम अधिकारी कोई विरला भाग्यवान् ही हो सकता है और वह अन्य साधारण अधिकारियों की अपेक्षा से ही तो सर्वोत्तम कहलाने के योग्य होता है। इसलिए यह नियम सर्वसाधारण अधिकारियों के विषय में लागू नहीं किया जा सकता। सामान्यतया तो यही नियम है कि ब्रह्म-विद्या श्रवण के अधिकार के लिए सामान्य समाहितचित्त का होना आवश्यक है। और श्रवण के पश्चात् भी मनन तथा निदिध्यासन का सामान्य नियम ही उपयुक्त है। सफल ज्ञान-निष्ठा का, निरन्तर दीर्घकालीन निदिध्यासन के विना होना असम्भव है। केवल शब्द (वाक्य-योजना) से तो निश्चित, असंदिग्ध परोक्ष ज्ञान का होना भी कठिन है। श्रुति के तात्पर्य का दृढ निर्णय ही समाहितचित्त के विना नहीं हो सकता, तो फिर सामान्य सूक्ष्म बुद्धि के भरोसे आत्म-साक्षात्कार तो असम्भव ही है (मुण्डक ३,२,३)।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

"यह आत्मा न प्रवचन (शास्त्र-व्याख्यान) से प्राप्त होता है, न मेधा (प्रकृष्ट बुद्धि) मात्र से और न बहुत शास्त्र श्रवण से परन्तु, जो जिज्ञासु अनन्य भाव से इस आत्मा का वरण करता है यह आत्मा अपने तन (स्वरूप) को इसके सम्मुख व्यक्त कर देता है"।

इसका विस्तार पूर्वक निरूपण करने की आवश्यकता इसलिए हुई है, क्योंकि आजकल प्रायः ऐसा समझा जाता है कि ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए केवल श्रवण और मनन पर्याप्त हैं निदिध्यासन की आवश्यकता नहीं है।

३. उपर्युक्त भ्रान्ति का दुष्परिणाम

शास्त्र में ज्ञान का महत्त्व दर्शाने के लिए अथवा अन्य प्रसंगों में किसी अन्य दृष्टि से जिन वचनों द्वारा योग का खण्डन किया गया है, मोह, प्रमाद अथवा आलस्य के वश उनका यथार्थ तात्पर्य ग्रहण नहीं किया जाता। और इसी लिए प्रायः आजकल किसी प्रकार की उपासना, ध्यान, योग को ब्रह्मविद्या में बाधक समझा जाता है और अधिकारोचित साधना को छोड़ कर केवल विचार ही ब्रह्मविद्या का एकमात्र साधन मान लिया गया है। अतः ध्येय की सिद्धि नहीं होती, केवल शब्द का चातुर्य अवश्य

हो जाता है। ऐसे लोगों में सामान्य बाह्य व्यवहार भी सर्व साधारण से कुछ विलक्षण नहीं होता, तथा संसार से विरति का कोई चिह्न नहीं दीखता। ऐसे केवल वाचक ब्रह्म-ज्ञानियों को देख कर सर्वसाधारण में ब्रह्मविद्या के प्रति नास्तिकता तथा अश्रद्धा हो जाती है। और उनके लिए भी यह केवल वाचक ब्रह्मविद्या परमलक्ष्य प्राप्त करवाने में असमर्थ होती है। इस प्रकार इसका दुरुपयोग होता है और मनुष्य उभयभ्रष्ट हो जाता है। जो श्रुति के वचन केवल ज्ञान से मुक्ति होने का प्रतिपादन करते हैं, वे सर्वथा सत्य तथा तथ्य है। परन्तु उनका तात्पर्य सामान्यावस्था के जिज्ञासु के लिए अन्य उपयोगी साधनों के खण्डन में नहीं है। श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मविद्या के अन्य उपयोगी योग, असंप्रज्ञातसमाधि, निदिध्यासन आदि साधनों सम्बंधी वाक्यों की सर्वथा उपेक्षा करके उपर्युक्त ज्ञान के माहात्म्य सम्बंधी श्रुति के वचनों का इस प्रकार से अर्थ करना युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि दूसरे उपयोगी साधनों के प्रतिपादक वचन भी तो श्रुति के ही हैं। यहां तक कि तर्कप्रधान शास्त्र न्याय दर्शन भी तत्त्वज्ञान के उपाय रूप में योगाभ्यास, ध्यान आदि का कथन करता है। निस्सन्देह योग, उपासना, वैराग्य आदि साधनों के सम्पादन करने की अपेक्षा शास्त्र का पाठ कर लेना सरल है, परन्तु इस सरल मार्ग की चाह में प्रमाद, आलस्य के वश इन उपयोगी साधनों का त्याग देना, उन का खण्डन करना अथवा जो कोई इन साधनों को करता है उसको अज्ञानी की उपाधि प्रदान कर अपनी तथा भोलेभाले अन्य सज्जनों की वञ्चना नहीं करनी चाहिए। लाखों रुपयों के गुणा भाग कर लेने मात्र से जैसे कोई लखपति नहीं हो जाता, ऐसे ही शास्त्रों के पाठ अथवा विचार मात्र से विरति, शान्ति तथा परमानन्द की उपलब्धि नहीं होती। अतः शास्त्रनिर्दिष्ट साधन चतुष्टय सम्पत्ति से सम्पन्न होकर, ब्रह्मविद्या का अधिकार प्राप्त करके उपनिषदादि का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन (योग) करने से ही परम लक्ष्य की सिद्धि होती है। इस शास्त्रोक्त मार्ग का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। कुछ विचारशील यहां यह आक्षेप करते हैं कि हठयोग आदि अनन्त दीर्घकाल तथा बहु आयास-साध्य उपासनाओं के अनुष्ठान से क्या लाभ है? कलियुग में अल्पायु मनुष्य इन में ही अपनी आयु का अपव्यय कैसे कर सकते हैं? यह बात सत्य है, कि सब उपायों को उपाय दृष्टि से ही उपयोग में लाना चाहिए। किसी साधन के विषय में ही निन्यानवे के चक्कर में पड़े रहना अनर्थकारी भूल है। इसलिए कुशल बुद्धि वाले ऐसे जिज्ञासुओं को, जिनका लक्ष्य मोक्ष है, इन साधनों के ही अत्यन्त विस्तार करने की आवश्यकता नहीं, परन्तु श्रुति प्रतिपादित योग मात्र का तिरस्कार तथा इस विषय में प्रमाद भी उसी प्रकार से तुल्य अनर्थ का हेतु है जिस प्रकार कि इन साधनों में लगे रहना और लक्ष्य को भूल जाना है। अतः इस से सतर्क रहना चाहिए और अपने अधिकार के अनुसार ब्रह्मविद्या के उपयोगी निष्काम कर्म अथवा योग, उपासना आदि का अवलम्बन करना चाहिए। केवल ज्ञान के महत्त्व का पाठ करके इन सब अत्यन्त उपयोगी साधनों को तिलाञ्जलि नहीं देनी चाहिए।

४. योग के सम्बन्ध में द्वितीय भ्रान्ति

परमलक्ष्य की सिद्धि में केवल योग पर्याप्त है, शास्त्रज्ञान निष्फल तथा बाधक है।

आजकल ब्रह्मविद्या के परस्पर उपयोगी अंग पृथक् पृथक् पड़े हुए हैं। श्रुति में भिन्न २ उपयोगी साधनों के वचन उन उन साधनों के यथास्थान मिलना आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु उनके परस्पर समुच्चयरूपी तात्पर्य को ग्रहण न करके किसी एक उपाय का अनुष्ठान तथा अन्यों का त्याग किया जाता है जिस का अनिवार्य दुष्परिणाम यह होता है कि फल की सिद्धि नहीं होती अथवा सिद्धि में न्यूनता रह जाती है।

पूर्वपक्ष—अध्यात्म-पथ के जिज्ञासुओं के दो वर्ग देखने में आते हैं। एक वर्ग का वर्णन ऊपर हो चुका है, जो केवल शास्त्रपाठ तथा विचार के आधार पर तत्त्वज्ञान की उपलब्धि करना चाहते हैं। जो ज्ञान को मोक्ष-सिद्धि का स्वतन्त्र साक्षात् साधन मानते हैं और योग आदि अन्य साधनों को अनावश्यक अथवा ज्ञान का बाधक मानते हैं। वे लोग योगरूपी एक पक्ष को काट कर केवल ज्ञानरूपी एक पक्ष के आधार पर एक पक्ष वाले पक्षी की तरह निज धाम में शीघ्रतम पहुंच जाने की इच्छा करने की भूल करते हैं। दूसरा वर्ग उन अध्यात्म-जिज्ञासुओं का है जिन पर योग के स्तुतिपरक शास्त्रवाक्यों का विशेष प्रभाव है। उनकी यह दृढ धारणा है कि केवल योग से ही परमलक्ष्य की सिद्धि निश्चित है तथा शीघ्रतम हो सकती है, वे शास्त्र-श्रुति-पठन-पाठन को निरर्थक ही नहीं प्रत्युत बाधारूप समझते हैं। उन्हें योगसम्बन्धी शास्त्र के भी पाठ की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वे कहते हैं कि योगशास्त्र पढ़ने से कहां समझ में आ सकता है? ऐसा कहना उनका सत्य भी है। अतः जैसे तैसे प्राप्त हुई योग की विधि का अनुसरण करते हुए ही उन्हें परमलक्ष्य की सिद्धि का दृढ विश्वास है। वे बुद्धि द्वारा विवेचन करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं समझते।

५. शास्त्र उपेक्षा का आधार

शास्त्र के वचनों की उपेक्षा में निश्चय वालों का आधार भी शास्त्रवचन ही हैं। परन्तु वे शास्त्र के वास्तविक तात्पर्य को न समझ कर ऐसी भूल करते हैं। वे अपने पक्ष में निम्नलिखित शास्त्रवचनों का प्रमाणरूप से उल्लेख करते हैं:—

मैत्रायणी उपनिषद् (४,८) कैवल्योपनिषद् (१,११) गीता (६,४६)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ मुण्डक ३,२,३.

यह (परमश्रेष्ठ) आत्मा न प्रवचन (बहुत शास्त्र-अध्ययनमात्र) से प्राप्त होता है; न मेधा (ग्रंथ अवधारणा शक्ति—तात्पर्य को ग्रहण करने और स्मरण रखने की शक्ति) से; न बहुत शास्त्र (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठगुरु द्वारा) श्रवणमात्र से। जिस परमात्मा को यह मुमुक्षु वरण करता है (अर्थात् प्राप्त करने की अनन्य इच्छा करता है); उस (अनन्य प्रेम) द्वारा ही वह परमात्मा प्राप्त होता है। (अन्य किसी साधन से नहीं) उस के लिए यह अपने

(अविद्या आच्छादित) तनु (आत्मस्वरूप) को प्रकाश कर देता है। अर्थात् यह (परम श्रेष्ठ) आत्मा जिज्ञासु का अपना आप है। इसका तथ्य स्वरूप इस से दूर अथवा पृथक् नहीं है। केवल अनात्म-प्रेम के कारण मोह—अज्ञान—द्वारा अन्यत्र संलग्न होने से सदा प्राप्त होने पर भी मानो अत्यन्त अप्राप्त सा हो रहा है, जैसे असंख्य योजन इस से दूर हो। केवल अनात्म-मोह अथवा अनात्म-दृष्टि को त्यागने मात्र से (बिना किसी अन्य उपाय के) वह सुलभ है।

अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ केन० १, ४.

वह आत्मा ज्ञात से भी भिन्न है और अज्ञात से भी भिन्न। यह हमने पूर्व (तत्त्व) आत्म-दर्शियों से श्रवण किया है, अर्थात् वह आत्मा स्वतःप्रकाश, स्वतःसिद्ध, ज्ञान तथा अज्ञान का विषय कदापि नहीं होता, अतः बहुशास्त्र-अध्ययन आदि निष्प्रयोजन है।

तमेव विज्ञाय धीरः प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ बृ० ४, ४, २१.

(उपदेश तथा शास्त्र से) इस अप्रमेय (स्वतःप्रकाश, ज्ञानस्वरूप होने से जो बुद्धि, चक्षु आदि प्रमाण का अविषय है) आत्मा को जान कर, ब्राह्मण (ब्रह्ममात्र जिज्ञासु) (जिज्ञासा को समाप्त करने वाली, शास्त्र तथा आचार्य के उपदिष्ट विषय) अप्रमेय, स्वतःप्रकाश आत्मा में निरन्तर बुद्धि को स्थिर करे अर्थात् आत्माकार वृत्ति का प्रवाहरूप से निदिध्यासन करे। शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश के तात्पर्य के असंदिग्ध निश्चय के पश्चात् निदिध्यासन रूप योग ही कर्तव्य है। बहुत शास्त्रों का अध्ययन न करे, क्योंकि, अध्ययन का फल—तात्पर्य-ग्रहण—सिद्ध हो चुका है, उसके पश्चात् यह पिष्ट-पेषण के समान निरर्थक है। यह वाणी से उपलक्षित बुद्धि का केवल श्रम मात्र है।

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम्।
एतज् ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः ॥ मैत्रा० उ० ४,८.

मन के निरोध का अभ्यास तब तक जारी रखना चाहिए, जब तक यह आत्मा में लीन नहीं हो जाता, (आत्मा से पृथक् प्रतीति ही आत्मा के ज्ञान तथा आनन्दानुभूति में बाधा है, अर्थात् आत्मानुभूति के लिए यह मनोनिरोध ही एक अनिवार्य उपाय है) इसलिए यह मनोनिरोध ही (ज्ञान तथा आनन्द-उपलब्धि रूप मोक्ष का साधन होने से) ज्ञान तथा मोक्ष है, इस से भिन्न तो ग्रन्थों का विस्तार मात्र है, उस से लक्ष्य सिद्धि नहीं होती।

भक्तिर्योगात्तथा योगः सम्यग्ज्ञानान्महीयते ॥

भक्ति योग से श्रेष्ठ है और योग सम्यक् (संशय विपर्यय रहित) ज्ञान से श्रेष्ठ है।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः ॥ कैवल्योपनिषद् १,११

(अन्तःकरण) आत्मा को नीचे की अरणि (अग्नि जलाने की लकड़ी) और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर अर्थात् सुविज्ञ, चतुर जिज्ञासु अपने मन बुद्धि का निरन्तर प्रणव (वाचक) तथा वाच्य ब्रह्म (अथवा प्रणव वाच्य—लक्ष्य—ब्रह्म) में लगाकर (प्रणव लक्ष्य ब्रह्म के निरन्तर ध्यान द्वारा) ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित कर, पाप तथा तन्मूल अज्ञान को भस्मसात् कर देता है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ गीता ६,४६

तपस्वियों, ज्ञानियों तथा कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है। इस लिए हे अर्जुन ! तू योगी बन।

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥ सांख्य दर्शन ५,११६.

समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्ष में आत्मा ब्रह्मरूप (अन्तःकरण वृत्ति परिच्छेद रहित अपरिच्छिन्न चिन्मात्र) होता है, दुःख-सुख, राग-द्वेषरूपी संसार कालिमा से रहित होता है। इन तीनों स्थितियों में केवल निम्नलिखित ही भेद होता है:—

(१) समाधि काल में मन विद्यमान होता है, परन्तु निरुद्ध होने से आत्माकार होता है। अनात्म-संसाररूप इसका ज्ञान अभ्यास से अभिभूत होता है। अतः जीवन-काल में ही जीव अपने शुद्ध, अपरिच्छिन्न, ब्रह्मस्वरूप में स्थित होता है। ज्ञानी इस काल में जीवन्-मुक्त के (स्वरूप) आनन्द का अनुभव करता है।

(२) सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण के अज्ञान में लीन होने से जाग्रत तथा स्वप्न-वृत्ति के अभाव के कारण वृत्तिप्रयुक्त परिच्छेद से रहित होता है, परन्तु अज्ञान में लीन होने से न अपने स्वरूप को तथा (स्वरूप) स्फुट आनन्द को अनुभव करता है। हां ! संसारविक्षेप के अभाव में समाधि तथा मोक्ष काल से इसकी समानता है, परन्तु ज्ञान तथा जीवन्मुक्ति के आनन्द तथा ज्ञान फल विदेह मुक्ति में भेद होता है।

(३) मोक्ष दशा में मन का नितान्त अभाव होता है (मन का स्वरूपनाश होता है—वेदान्त परिभाषानुसार) इसलिए वहां संसार कालिमा के सम्पर्क, अभाव तथा भाव (पुनरुत्थान दशा में) का प्रश्न ही नहीं होता। प्रथम समाधि स्थिति में मन निरुद्ध होता है। दूसरी सुषुप्त अवस्था में मन अज्ञान में लीन होता है और तीसरी मोक्ष दशा में मन का अत्यन्त अभाव होता है।

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते ।
तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥ ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ३.

क्योंकि निर्विषय मन की अवस्था को ही मुक्ति कहते हैं। जहां परम रस को पाकर परमतृप्ति लाभ करता है। यह अवस्था ही मुक्ति की जन्मदात्री है। उसके पश्चात् प्रेम, तथा यह अवस्था सहज हो जाती है, इसलिए मुमुक्षु

को मन निर्विषय करना चाहिए, अर्थात् मन के निरोधरूप असंप्रज्ञात अथवा निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करना चाहिए।

योगदर्शन तो सम्पूर्ण योग के निरूपण के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। वह चित्त-वृत्ति-निरोध से होने वाली स्वरूपस्थिति से ही परमलक्ष्य की सिद्धि का निरूपण करता है। योगदर्शन (३,६) में कहा है:—

तस्य भूमिषु विनियोगः

एक भूमि में संयम द्वारा उस भूमि के विजय हो जाने पर अर्थात् उस भूमि में संयम की दृढ, स्वाभाविक, निरायास स्थिति हो जाने पर दूसरी भूमि में संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) का अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि निकृष्ट तथा मध्यम भूमि-जय के अनन्तर ही प्रान्त भूमि में संयम का सामर्थ्य हो सकता है। इस भूमि के अनन्तर अब कौन सी भूमि है, अर्थात् अब आगे साधक को किस भूमि का अभ्यास करना चाहिए, इसका उपाध्याय (निर्देशक) कौन सा है ? इस प्रश्न के उत्तर में व्यास भगवान् इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं:—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते ।
यो अप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥

योग ही इस विषय में उपाध्याय (निर्देशक) है, अन्य कोई शास्त्रादि शिक्षक नहीं। योग से ही योग जानना चाहिए। योग के द्वारा ही योग की अनन्तर भूमियों में प्रवृत्ति होती है। जो साधन में प्रमाद नहीं करता, वह योग द्वारा योग में दीर्घ काल तक रमण करता है, अर्थात् उस की स्थिति—निष्ठा—दृढ हो जाती है। इस प्रकार के अनेक वचनों का भ्रान्तिवश ऐसा अर्थ समझते हैं कि योग में जिस किसी प्रकार एक बार प्रवृत्त हो जाने से फिर किसी बाह्य अन्य शास्त्रादि के निर्देश—शिक्षा—की आवश्यकता नहीं रहती, फिर योग स्वयं ही अन्तिम ध्येय तक पहुंचा देता है। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं के कारण अपने आप शास्त्र का मनन त्याग देते हैं तथा इसी प्रकार के विचार का प्रचार करते हैं। इस प्रकार योग के अलौकिक सामर्थ्य की स्थापना को द्वार बनाकर अपने महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। इसी भ्रान्ति तथा मोह के कारण अनेक क्षुद्र योग-मार्गों तथा उन मार्गों का आश्रय लेने वाले सम्प्रदायों का प्रचार हुआ है। और आर्य सन्तान श्रुतिसम्मत योग प्रणाली से पृथक् हो गयी है। तथा प्राचीन योग-प्रणालियों के अति गौण, क्षुद्र भागों को अनुचित महत्त्व दे दिया गया है। विना विशेष अनुभव के ग्रन्थों की रचना होने लगी है और इस ने तो रही सही योग की सनातन आर्ष प्रणाली को भी राख में मिला दिया है। इसका कुछ निरूपण अगले प्रकरण में होगा।

न च तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया ।
गतिं प्राप्नुवन्ति द्विजा योगाच्छक्ताः संप्राप्नुवन्ति याम् ॥ अत्रि संहिता

तीव्र तप, स्वाध्याय अथवा यज्ञों द्वारा ब्राह्मण उस गति को प्राप्त नहीं करता, जिसको कि योग की शक्ति से प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के अनेक वचनों के आधार पर अपने इस मत का, कि शास्त्र अध्ययन आदि की अपेक्षा योग की सामर्थ्य

विलक्षण है, समर्थन तथा अवलम्बन किया जाता है और कहा जाता है कि शास्त्र का अध्ययन उस वाङ्मनसागोचर तत्त्व के बोध में क्या काम दे सकता है। शास्त्र का अध्ययन निरर्थक है, ब्रह्म-विषयक ध्यान, प्रज्ञा, निष्ठा को ही दृढ करने का यत्न करना चाहिए। शास्त्र के अध्ययन से वाणी तथा अन्य इन्द्रियों और बुद्धि आदि को केवल श्रम होता है, इस से परमार्थ-सिद्धि नहीं होती। अथवा यह भी कहा जाता है कि आत्म-तत्त्वरूप ध्येय वस्तु में चित्त का निरोधरूपी योग ही ज्ञान तथा ध्यान है। शेष तो सब ग्रन्थों का केवल निरर्थक उलझनों में डालने वाला विस्तार या एक रूप है, जो कि जिज्ञासु के मन में अनेक संशय, तर्क-वितर्क का हेतु बनकर अश्रद्धा उत्पन्न करके उसे किसी मार्ग का अनुसरण करने के योग्य नहीं रहने देता। अथवा शास्त्र की आवश्यकता ही क्या है? योग में अद्भुत सामर्थ्य है। शास्त्र तो योग की उपज है। योगी तो स्वयं ऐसे शास्त्रों की रचना कर सकते हैं। ऋषि-मुनियों ने सृष्टि के उत्पत्ति काल में कौन से शास्त्र पढ़े थे? पूर्वकर्मों के परिपाक के वश तथा ईश्वरानुग्रह से उन्होंने इसी योग-विभूतिद्वारा—तीसरे दिव्य ज्ञानचक्षु द्वारा—ईश्वरीय नित्य ज्ञान को प्रत्यक्ष देखा था। क्या अब योग में वह सामर्थ्य नहीं? इस प्रकार के युक्ति क्रम से प्रमाद, मोह, तथा भ्रान्ति के वश और अपनी अनुचित महिमा के विस्तार के लिए या अपने शास्त्र-ज्ञान के अभाव रूपी हीनता आदि की लज्जा को छिपाने के लिए शास्त्र—श्रुति—का उपयुक्त आदर तथा उपयोग नहीं किया जाता।

उत्तर पक्ष—परन्तु ऐसा कहना अथवा करना मोहवश या जानबूझ कर श्रुति वाक्यों के तात्पर्य को अन्यथा ग्रहण करना या प्रकट करना है। इसका समर्थन उपर्युक्त वचनों से तथा पूर्व प्रकरण में उद्धृत श्रुति के श्रवण, मनन समर्थक वचनों तथा अन्य श्रुति के वाक्यों से किया जा सकता है। निस्सन्देह योग में बहुत सामर्थ्य है, सृष्टि के उत्पत्ति काल में वेद-मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने किसी सामान्य गुरु द्वारा श्रुति का स्वाध्याय नहीं किया था। परन्तु ईश्वर की यह उन पर विशेष कृपा निराधार नहीं थी। पूर्वकल्प में श्रुति के अध्ययन के अनन्तर श्रुति के मार्ग का अनुसरण करने का फलरूप ही तो यह अपार कृपा थी, अन्यथा जगत् नियामक ईश्वर पर ही विना कारण के राग-द्वेष तथा अन्याय का दोष लागू होता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि उस समय तो वेद—श्रुति—इस रूप से उपस्थित ही नहीं थे, अतः उनके अध्ययन का प्रश्न ही नहीं होता। क्या सर्वसामान्य मनुष्य दिव्य चक्षु सम्पन्न है, जो वह शास्त्र-आदेश या शिक्षा के विना निर्वाह कर सकता है? बृहदारण्यक उपनिषद् (४,५,६) में "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" में भी आत्मदर्शन के लिए तीन प्रधान उपायों का वर्णन है। आत्म-दर्शन के लिए आत्म-सम्बंधी उपनिषदादि का श्रवण और मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि तीन में से अकेले किसी एक से सफलता सम्भव नहीं है। यह हो सकता है कि इन साधनों का तारतम्य हो, परन्तु अपने २ स्थान पर तीनों ही आवश्यक हैं। निदिध्यासन का महत्त्व अधिक स्वीकार कर लें तो भी श्रवण के विना इसका अवकाश ही नहीं है। बीज का प्रथम अंकुर बहुत कोमल तथा बलहीन होता है, फूल, फल, पत्ते तथा

शाखाओं से युक्त महान् वृक्ष से जो कार्य सिद्ध हो सकता है, वह अंकुर से नहीं हो सकता, परन्तु यदि अंकुर ही न हो तो यह विशाल पेड़ होगा ही कहां से ? और यदि अंकुर की समय पर उचित रक्षा न की जावे तो वह उगता ही नहीं, उग जावे तो बढ़ता नहीं, बढ़ भी जाये तो फलवान् नहीं होता, यदि फल भी जाये तो वह अनेक दोषों से युक्त हो जाता है। इसी प्रकार यदि श्रवणहीन हो तो मनन तथा निदिध्यासन किस का होगा ? जिसकी उत्पत्ति ही नहीं हुई, उसके बाल्य तथा यौवन की क्या कथा ? श्रुति ही ध्येय तथा साधन के विषय में परम तथा अपूर्व प्रमाण है। इसका विस्तृत निरूपण प्रथमखण्ड के दूसरे अध्याय में हो चुका है। अतः श्रुति को छोड़ कर स्वतन्त्र मति से इस पथ में परिश्रम कहां तक सफल हो सकता है। ऐसे विचार रखना ईश्वर तथा योग में परम नास्तिकता है, आस्तिकता नहीं। श्रुति के विना यह निर्णय ही कैसे होगा कि जिज्ञासु सुपथ पर चल रहा है या कुपथ पर ? श्रुति तो परम प्रकाश है, जिसकी ज्योति में मनुष्य प्रत्येक तत्त्व को याथातथ्य रूप में देख सकता है। इस ज्ञान के प्रकाश के विना मनुष्य का सम्पूर्ण परिश्रम वैसा ही होता है, जैसे किसी यात्री का अमावास्या की घोर अन्धकारमय रात्रि में घने वन में होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक स्थान में तथा प्रत्येक वार्ता और व्यवहार में अति करने अर्थात् मर्यादा का उल्लंघन करने से हानि होती है। इसी प्रकार श्रुति का व्यसन होना भी हानि-प्रद है, अथवा बहुशास्त्र-अध्ययन से भी अनेक संशयों तथा वाद-विवाद द्वारा नास्तिकता का भय होता है। इसी में लगे रहने से अन्य उपयोगी निदिध्यासन आदि साधनों में प्रमाद हो सकता है। इस प्रमाद से बचाने के लिए ही श्रुति ने चेतावनी के रूप में निर्देश किया है कि बहुत शब्द रूपी शास्त्रों का अध्ययन न करे अर्थात् केवल शास्त्र के अध्ययन को ही परम लक्ष्य अथवा परम साधन न मान ले। परन्तु इन शास्त्र-वाक्यों का यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि शास्त्र को सर्वथा तिलाञ्जलि दे दी जावे और विना विचार के अंधाधुन्ध केवल निदिध्यासन अथवा योग में लग जाए। क्योंकि शास्त्र का लक्ष्य तथा साधन के विषय में उचित निर्देश पाकर ही मनुष्य वास्तविक मनन तथा निदिध्यासन में प्रवृत्त हो सकता है। श्रुति—शास्त्रज्ञान— तथा निदिध्यासन रूपी योग दोनों का परस्पर का सम्बंध तथा क्रम उपर्युक्त बृहदारण्यक उपनिषद् (४,५,६) से स्पष्ट ही है। दोनों का ऐसा ही संबंध है जैसे चक्षु तथा सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र का सम्बंध होता है। चक्षु जैसे अपने आप विना सूक्ष्म वीक्षण-यन्त्र के अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को देखने में असमर्थ होती है और सूक्ष्म वीक्षण-यन्त्र तो चक्षु न होने पर सर्वथा निरर्थक होता ही है उस से कुछ भी दीख नहीं सकता। इसी प्रकार शास्त्र तो चक्षु रूपी अपूर्व प्रमाण है और निदिध्यासन उसका सहकारी साधनरूपी यन्त्र है। दोनों का सहयोग होने पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतम ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति होती है। स्वतन्त्ररूप से पृथक् २ दोनों निष्फल होते हैं। केवल श्रुति के आधार पर अपरोक्षानुभूति यदि न भी हो, तो भी परोक्ष ज्ञान तो संभव है। परन्तु श्रुति की सहायता के विना स्वतन्त्र योग परमार्थलक्ष्य में विशेष उपयोगी नहीं है। जैसे भौतिक विज्ञान में सिद्धान्त-शिक्षा तथा प्रयोग साथ साथ चलते हैं, केवल सिद्धान्त प्रयोग के विना पङ्गु है और प्रयोग सिद्धान्त के विना चक्षुहीन है। इसी प्रकार स्वाध्याय तथा योग दोनों का साथ साथ प्रयोग आवश्यक है।

६. योगदर्शन के भाष्य की सम्मति

इसी रहस्य की दृष्टि से योग दर्शन (१,२८) सूत्र की व्याख्या में व्यास भगवान लिखते हैं:—"स्वाध्यायाद् योगमासीत, योगात् स्वाध्यायमामनेत्" अर्थात् योग तथा स्वाध्याय का पृथक् पृथक् अनुष्ठान न करे। स्वाध्याय के पश्चात् अर्थात् अध्यात्म-तत्त्व के श्रवण, मनन के अनन्तर शास्त्रोक्त ज्ञान के असंदिग्ध ज्ञान के लिए योग में स्थित हो। जब मनुष्य शास्त्र का श्रवण और मनन कर लेता है, उसके अनन्तर ही उसे तार्किक ज्ञान की अपूर्णता भासती है, और योग का महत्त्व सूझता है तथा सच्चे जिज्ञासु में योग की अदम्य जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त-सम्बन्धी शास्त्र के अध्ययन के पश्चात् ही प्रयोगात्मक ध्येय का पता चलता है, उसी प्रकार शास्त्र द्वारा योग के स्वरूप तथा लक्ष्य का ज्ञान होने के पश्चात् योगरूपी साधन के करने वाला किसी वास्तविक लक्ष्य को सामने रख कर उसमें प्रवृत्त हो सकता है। इन प्रयोजनों को दृष्टि में रख कर ही—"स्वाध्यायाद् योगमासीत" ये पंक्तियां कही गयी हैं, कि योग से प्रत्यक्ष अनुभूति हुए विना केवल शास्त्रज्ञान अनादि चित् जड़ ग्रन्थि को भेदन नहीं कर सकता। इसी वचन के दूसरे भाग में यह कहा गया है कि योग से निवृत्त होने पर स्वाध्याय करे, शास्त्र का श्रवण तथा मनन करे। जिस प्रकार स्वाध्याय कर लेने पर ही उसकी अपूर्णता खटकती है, इसी प्रकार स्वतन्त्र योग भी कई प्रकार की अनुभूतियों से कई संशय उत्पन्न कर देता है, जिनकी निवृत्ति के लिए अनुभवी महात्मा तथा शास्त्र की आवश्यकता प्रतीत होती है। सच्चा विचारवान् जिज्ञासु अपने अनुभव को शास्त्र से मिलान किये विना सन्तुष्ट नहीं होता। इसलिए उसे योग तथा स्वाध्याय की पृथक् पृथक् अपूर्णता स्वतः ही खटकती है। इसी रहस्य को दृष्टि में रख कर उपर्युक्त वचन कहा गया है। और बृहदारण्यक उपनिषद् के (४,५,६) में एक ही वाक्य में इन दोनों साधनों के समुच्चय का निर्देश किया गया है।

७. दर्शन के योग विरोधी वाक्यों का तात्पर्य

योग शास्त्र में भिन्न भिन्न सूत्रों के भाष्यों में उपर्युक्त स्वाध्याय तथा योग-सम्बन्धी वचन आते हैं, जिनमें से एक में तो यह कहा गया है कि योग से ही योग जाना जाता है और दूसरे में यह प्रतिपादन किया गया है कि स्वाध्याय से योग और योग के पश्चात् स्वाध्याय करे। स्थूल दृष्टि से देखने पर इन दो वाक्यों में विरोध प्रतीत होता है। परन्तु एक ही शास्त्र में आये दो वचनों में विरोध कदापि नहीं हो सकता। विचार करने पर तो यही प्रतीत होता है कि जो भाव पहले दर्शाया गया है, वही भाव इनका युक्तिसंगत हो सकता है। 'योग से योग जाना जाता है' यह वाक्य योग तथा स्वाध्याय के परस्पर सहयोग के खण्डन करने के लिए नहीं है। इसका भाव तो यह है कि शास्त्र तो योगभूमियों के स्वरूप का निर्णय करता है, परन्तु जिज्ञासु किस भूमि के योग्य है, इस योग्यता का निर्णय तो उस के पूर्वकृत योगाभ्यास के तथा सामर्थ्य के बल पर ही हो सकता है। शास्त्र स्वतन्त्रतया किसी की योग्यता का निर्णायक नहीं हो सकता।

८. योगशास्त्र में अश्रद्धा का कटु फल

वैदिक शास्त्र में श्रद्धा तथा स्वाध्याय-रहित मार्ग का अनुसरण करने में कितना महान् अनर्थ हो सकता है, यह योगदर्शन के (१,१६;२०) सूत्रों के व्यासभाष्य तथा तत्त्व-वैशारदी टीका में वायु पुराण के उद्धृत वाक्यों के मनन से स्पष्ट प्रतीत होता है:—

"यह असम्प्रज्ञात रूप परम योग के दो भेदों का वर्णन है। श्रुति में श्रद्धा रखने वाले, श्रुति के श्रवण और मनन के द्वारा परम लक्ष्य की ओर उसके साधनों की शिक्षा के अनन्तर जो जिज्ञासु परम लक्ष्य की सिद्धि के लिए यत्न करते हैं, बीसवें सूत्र में उनके मार्ग का निर्देश किया गया है, कि वे किस प्रकार क्रम से सच्ची विवेक-ख्याति द्वारा गुण अधिकार समाप्त हो जाने पर, असम्प्रज्ञात-स्वरूप स्थिति से परम लक्ष्य की सिद्धि में सफल-मनोरथ होते हैं। वे संसार-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और फिर संसार में नहीं आते। परन्तु जो लोग श्रुति-मार्ग का अनुसरण न कर, अन्य मार्गों का अवलम्बन करते हुए असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ करते हैं, उनकी वह असम्प्रज्ञात समाधि स्वरूप-स्थिति नहीं होती, वह एक प्रकार की लय अवस्था होती है, जिसको वेदान्त के ग्रन्थों में विघ्न कहा गया है।

असम्प्रज्ञात रूप योग के दो भेद हैं—(१) उपाय-प्रत्यय तथा (२) भव-प्रत्यय। भव-प्रत्यय का वर्णन निम्नप्रकार से है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। योग १,१९

"विदेह और प्रकृतिलीन अभ्यासियों का भव—संसार अनात्म पदार्थ—के ध्यान अथवा अनात्म में आत्मबुद्धियुक्त भव-प्रत्यय होता है।

व्यास भाष्य—विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति॥

विदेह नाम वाले देवताओं की असंप्रज्ञात स्थिति का कारण भव (अनात्म पदार्थों की उपासना) कारण होता है। पांच भूत तथा उनकी ग्राहक इन्द्रियों में आत्म-बुद्धि रखने वाले उन उन भूत आदि की उपासना द्वारा, जिनके अन्तःकरण उनकी वासना से युक्त हो गये हैं, वे शरीर समाप्ति के अनन्तर इष्ट भूत और इन्द्रियों में लीन हो जाते हैं, उनका मन संस्कार मात्र शेष रहता है। वे भौतिक शरीर के अभाव के कारण विदेह कहलाते हैं। वे विदेह केवल स्वसंस्कार से युक्त चित्त के द्वारा कैवल्य पद के समान अवस्था को अनुभव करते हैं (वृत्ति रहित होने से कैवल्य के साथ समानता है, अधिकार—भोग-मोक्ष रूप)—सहित संस्कार शेष से भिन्नता है। (उपासना रूप प्रयत्न के उपर्युक्त फल की अवधि समाप्त होने पर) वे निज संस्कार विपाक रूप उपर्युक्त स्थिति से च्युत होकर पुनः संसार में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार प्रकृति लय (जो अभ्यासी वैदिक श्रद्धा शून्य, पञ्च सूक्ष्म भूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति रूप प्रकृतियों में आत्म-भावना

के कारण, उन उन की उपासना द्वारा, देह पात के अनन्तर उन प्रकृतियों में लीन हो जाते है) अपने (अधिकार शेष) चित्त के प्रकृति में लीन होने पर कैवल्य के समान दशा को अनुभव करते हैं, जब तक कि भोग-मोक्षरूप चित्त के अधिकार—कर्तव्य—शेष के कारण पुनः इस संसार में नहीं लौटते अर्थात् उत्पन्न नहीं होते।

वायु पुराण के निम्नलिखित श्लोक व्यास-भाष्य की वाचस्पति कृत तत्त्व विशारदी टीका में उद्धृत किये गये हैं।

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रन्त्वभिमानिकाः ॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।
पूर्णं शतसहस्रन्तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ।

इन्द्रियों की आत्मभाव से उपासना करने वाले उपर्युक्त कैवल्य के समान दशा में दस मन्वन्तरकालपर्यन्त निवास करते हैं, और पञ्चभूतों के उपासक सौ मन्वन्तर, अभिमानिक (अहंकार प्रकृति के उपासक) हजार मन्वन्तर और बुद्धि के उपासक दस हजार मन्वन्तर तक उपर्युक्त क्लेश रहित अवस्था में रहते हैं। परन्तु निर्गुण पुरुष में यथार्थ आत्मबुद्धि वालों को ही यथार्थ कैवल्य की उपलब्धि होने से वे कालातीत हो जाते हैं अर्थात् पुनः संसार में नहीं लौटते।

उपायप्रत्यय का वर्णन निम्न प्रकार से है :—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ योग १,२०.

विदेह प्रकृतिलयों से भिन्न असंप्रज्ञात योगाभ्यासियों को स्थिति (समाधि) लाभ होने के ये कारण हैं:—

१ श्रद्धा, २ वीर्य, ३ स्मृति, ४ समाधि, ५ प्रज्ञान।

व्यास भाष्य—उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते। येन यथार्थं वस्तु जानाति। तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।

उपाय प्रत्यय तो केवल योगियों को होता है। (१) श्रद्धा (आगम अनुमान, आचार्य उपदेश द्वारा प्राप्त आत्मतत्त्व के विषय में) चित्त का संप्रसाद रुचि—तीव्र इच्छा—का नाम है, क्योंकि वही माता के समान पुत्र का कल्याण करने वाली योगी की रक्षा करती है, और पथभ्रष्ट नहीं होने देती। (२) ऐसे श्रद्धालु आत्म-अनात्म विवेकी को ही (परमलक्ष्य सिद्धि के लिए अदम्य) उत्साह उत्पन्न होता है। (३) ऐसे उत्साह (वीर्य) से

सम्पन्न मनुष्य की (अपने लक्ष्य की) स्मृति सदा बनी रहती है। (४) ऐसी स्मृति से चित्त का समाधान सहज (निरायास) ही लाभ होता है। (५) समाहितचित्त को ही यथार्थ प्रज्ञा—समाधि-जन्य विवेक—उत्पन्न होता है, जिससे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है। प्रत्यक्ष सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास से उसके विषय के यथार्थ बोधद्वारा उससे वैराग्य होता है। फिर असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है।

उपर्युक्त पांच उपाय प्रयुक्त योगियों (पातंजल अभिमत वैदिक योगियों) को असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। उपर्युक्त पांच कारणों में से प्रत्येक पूर्व पूर्व का कार्य है:—

सांख्यदर्शन सांख्यकारिका तथा ईशोपनिषद् में भी विदेह तथा प्रकृतिलयों का वर्णन मिलता है।

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्। सांख्य ३,५४

महदादि सांख्यप्रोक्त २३ प्राकृतिक तत्त्वों से वैराग्य हो जाने पर भी जब शेष चौबीसवें जड़, अनात्ममूल प्रकृतिरूप तत्त्व में आत्म-भावना (प्रकृतिपुरुष-विवेक अभाव के कारण) बनी रहती है, और उसकी आत्मभाव से उपासना की जाती है, तो प्रकृति-उपासना के फल रूप से ऐसा साधक देह-पात के अनन्तर उपास्य प्रकृति में लीन हो जाता है। उसके जन्ममरण रूप संसार-चक्र की निवृत्ति होकर कृतकृत्यता नहीं होती। क्योंकि जल में मग्न पुरुष के समान (एक लक्ष वर्ष के पश्चात्) पुनः उसका उत्थान होता है, अर्थात् इस व्यक्त कार्यरूप जगत् में प्रवेश होता है। प्रकृति-उपासना के कारण महान् सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी योग, क्षेम आदि अनन्त सांसारिक दोषों से उसका छुटकारा नहीं होता।

दैवादिप्रभेदाः। सांख्य ३,४६

दैव आदि व्यष्टि सृष्टि के अवान्तर भेद हैं:—(१) दैव सर्ग आठ प्रकार का है जैसे—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गांधर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच। (२) तिर्यग् योनि के पांच प्रकार हैं—पशु, पक्षि, मृग, सर्प के समान चलने वाले, तथा स्थावर (वृक्ष) (३) मानुष सर्ग एक प्रकार का है। विराट् से उपर्युक्त भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात्॥ सां० ३,४७

सर्वोत्कृष्ट दैवसृष्टि आदि सर्व विवेक-ख्यातिरूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि पर्यन्त है। अर्थात् विवेक-ख्याति के अभाव से सब दैवादि संसार-चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। इनको मोक्षरूप विश्रान्ति प्राप्त नहीं होती। ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त व्यष्टि सृष्टि भी विराट् सृष्टि के समान विवेक-ख्यातिरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए ही होती है।

वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्यात्तद्विपर्यासः॥ सांख्य कारिका ४५

पुरुषज्ञानरहित वैराग्यमात्र से प्रकृति के कार्यों—महत्, अहंकार, भूत और इन्द्रियों में लय अवस्था को प्राप्त होता है। जिन जिन की मनुष्य ने आत्मबुद्धि से

उपासना की है। राजस राग से दुःख स्वरूप संसार को प्राप्त होता है। ऐश्वर्य (उपासना द्वारा प्राप्त विभूति) के कारण प्रथम (प्रकृतिलय) की इच्छा का विघात नहीं होता, जो चाहता है वही कर सकता है। दूसरे (राजस राग युक्त) की इच्छा का विघात होता है अर्थात् अनैश्वर्य के कारण उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः॥ ईश १२

जो पुरुष असम्भूति प्रकृति—कारण अविद्या की उपासना करते हैं, वे उपास्य के अनुरूप अज्ञानात्मक तम (अंधकार) में प्रवेश करते हैं। और जो साधक सम्भूति-कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ—की उपासना करते हैं, वे पूर्व से भी अधिक तम में प्रवेश करते हैं।

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ ईश १३

अब १४ वें मंत्र में वर्णित समुच्चय का कारण जतलाने के लिए उपर्युक्त प्रत्येक उपासना में फलभेद का वर्णन करते हैं। कार्यब्रह्म की उपासना का फल अणिमा आदि ऐश्वर्य रूप है और प्रकृति (असम्भूति) की उपासना का फल पूर्वोक्त से भिन्न प्रकृति लय रूप है। यह हमने विद्वान् तथा धैर्यवान् महापुरुषों से सुना है। जो इन उपासनाओं के फलभेद का हमें उपदेश करते हैं।

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते॥ ईश १४

इसलिए उपर्युक्त संभूति तथा असंभूति की उपासना का समुच्चय संभव है, क्योंकि यह एक ही पुरुष के इष्ट तथा इष्ट-साधन बन सकते हैं, अर्थात् इसलिए जो साधक कार्यब्रह्म की अभेद उपासना तथा प्रकृति की उपासना एक साथ करते हैं, वे अनैश्वर्य तथा अधर्म कामादि रूप मृत्यु को लांघ कर अणिमादि की सिद्धि उपासना के बल से प्राप्त करते हैं और प्रकृति की उपासना से प्रकृतिलय लक्षण वाले सापेक्ष अमृत को प्राप्त करते हैं। अर्थात् कार्य-कारण ब्रह्म की उपासना से संसार-गति ही प्राप्त होती है; यद्यपि वह बहुत ऊंची स्थिति ही हो। संसार-चक्र की निवृत्ति कार्य-कारण अतीत निर्गुण ब्रह्म की उपासना से ही हो सकती है।

विदेह तथा प्रकृतिलय की अवस्थाएं महान् परिश्रम करके योगद्वारा प्राप्त होती हैं, क्योंकि उन अवस्थाओं की अवस्थिति के काल में मोक्ष के समान ही त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होती है, इसलिये इन अवस्थाओं में मोक्ष की भ्रान्ति होती है। ये अवस्थाएं दिव्यलोक के अधिपतियों (ब्रह्मा, प्रजापति, देवेन्द्र आदि) से भी अत्यन्त विलक्षण सुखदायी होती हैं। इन अवस्थाओं में उनके वर्तमान रहते हुए दुःख का लेशमात्र भी नहीं होता। जब जिज्ञासु श्रुति में आस्तिक भाव नहीं रखता और श्रुति प्रतिपादित,

परमध्येय ब्रह्म और उसके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान की साधना तथा श्रुति के अनुकूल योग का अनुसरण न करके केवल अपनी विचित्र मति के आधार पर स्वतन्त्रता पूर्वक किसी योग-विधि का अनुसरण करता है, तथा भौतिक पदार्थों में ही चित्त-वृत्ति का निरोध करता है, तब इस प्रकार के साधनों से वह विदेह तथा प्रकृतिलय दशाओं को प्राप्त कर लेता है, और इन्हीं स्थितियों से कृतकृत्यता मान लेता है। अतः परमध्येय को नहीं प्राप्त करता। वह इन स्थितियों में दिव्य गतियों के समान ही सहस्र मन्वन्तर वर्षों तक अर्थात् अनेक वर्षों तक त्रिविध दुःख से रहित स्थिति का अनुभव करता है और फिर इस दुःखमय संसार में लौट आता है। जब इस निरुद्ध स्थिति से ऐसे जीवों का उत्थान होता है, तब वे अज्ञान की विद्यमानता से पुनः संसारगति को प्राप्त करते हैं। यह अज्ञान आत्म-साक्षात्कार से ही नष्ट हो सकता है, जो उनको नहीं हुआ। उनकी भूत, तन्मात्रा आदि में ही आत्म-भावना है। श्रुति से असम्मत इस योग के फल का यह कितना भयानक चित्र है। महान् सिद्ध अर्थात् शक्ति सम्पन्न योगियों का भी यदि श्रुति के श्रवण आदि के तिरस्कार से इतना महान् अनर्थ हो सकता है, तो अन्य सामान्य अनासक्ति आदिकों को, अथवा शास्त्र, श्रद्धा तथा स्वाध्याय हीन सामान्य योग मात्र को ही सर्वस्व समझने वाले और सामान्य चमत्कारों या शान्त स्थिति में ही अपने आप को कृतकृत्य समझने वालों की भ्रान्त धारणाओं का दुष्परिणाम--संसार-गति—होने में सन्देह ही क्या हो सकता है। अतः शास्त्र में अनन्य श्रद्धा रख कर उसका श्रवण (स्वाध्याय) ब्रह्मविद्या का प्रथम अनिवार्य साधन है। इसीलिए योगसूत्र (१,२०) में वर्णित वेदोक्त योग के साधनों में श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया गया है। क्योंकि, वही श्रद्धा वीर्य (बल-धैर्य), स्मृति, समाधि-प्रज्ञादि तथा वेदोक्त असम्प्रज्ञातरूपी योग के उपायों की जननी है। अतः श्रद्धारूपी जननी के अभाव में अन्य उपायों तथा फलों का होना अत्यन्त असंभव है। इस लिये विचारयुक्त साधकों को योग के साथ साथ स्वाध्याय को भी उपयुक्त स्थान देना चाहिए।

९. योग के स्वरूप अथवा लक्ष्य सम्बन्धी भ्रान्ति

श्रुति और उसको अनुसरण करने वाला योगदर्शन लक्ष्य तथा साधन को याथा-तथ्य प्रकार से निरूपण करता है। योग के स्वरूप, साधना के भेद, अनुभूतियों का कार्य-क्षेत्र तथा परमलक्ष्य का श्रुति के संकेत के आधार पर भली प्रकार निरीक्षण किये विना योग में प्रवृत्ति सफल नहीं हो सकती। शारीरिक तथा मानसिक अनेक विघ्न योग में उपस्थित हो सकते हैं। उनको पहले से ही सावधानी से रोका जा सकता है और उनके उपस्थित होने पर उन्हें विघ्नरूप में पहचान कर उनका निवारण भी किया जा सकता है।

किसी डाक्टर महोदय ने योग पर एक ग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ में योग का लक्षण इस प्रकार किया है:—कि श्वास, प्रश्वास तथा हृदय के स्पन्दन का निरोध करना योग है। इसी लक्षण के तथा स्वरूप के आधार पर अन्य कई योग-साधनों का उसने निरूपण किया है। उस ग्रन्थ में लिखा है कि योगी जन दूध तथा फल का अल्प आहार करते हैं, एकान्त में रहते हैं, मौन धारण करते हैं और गुफा में निवास करते हैं। इस प्रकार का आचरण वे लोग इसलिए करते हैं कि CO_2 कम उत्पन्न हो, क्योंकि CO_2 कम

पैदा होने से योगी को हृदय गति के रोकने के कार्यों में सुविधा होती है। CO_2 वह कार्बोनिक एसिडगैस है, जो प्रति श्वास के रूप में मुख और नासिका से बाहर निकलती है। इस CO_2 गैस का तथा श्वास और प्रश्वास का इस प्रकार का वर्णन किसी प्राचीन योग-ग्रन्थ में नहीं है। हठयोग के ग्रन्थों में भी यह उल्लेख कहीं नहीं है कि गुफा आदि में इसीलिए निवास किया जाता है। आज कल योग के चमत्कार दिखाने वाले ऐसे योगी अवश्य मिलते हैं, जो जनता को हृदय तथा फुफ्फुस की गति बन्द करके दिखाते हैं। डाक्टर ऐसे अवसर पर परीक्षा भी करते हैं। इससे सामान्य जनता तथा डाक्टरों को यह भ्रान्ति हो सकती है कि योग का लक्ष्य तथा कार्य श्वास, प्रश्वास तथा नाड़ी की गति को रोकना है। इस प्रकार वे योगियों के आहार, निवास आदि के सम्बन्ध में यह धारणा कर सकते हैं कि योगी इस प्रकार की क्रियाएं CO_2 कम करने के लिए करते हैं, क्योंकि ऐसे योगियों का मुख्य चमत्कार श्वास तथा प्रश्वास की गति को रोकना ही होता है। अब कई महानुभावों ने राज-योग के ग्रन्थों की व्याख्या में भी इसी शैली का प्रयोग किया है। डाक्टर की योग की उपर्युक्त परिभाषा के साथ CO_2 की बात का कुछ युक्ति-संगत मेल भी हो सकता है, परन्तु राजयोग में, जहां योग की परिभाषा ही भिन्न है और योग का लक्ष्य चित्त-वृत्तियों का निरोध या जीवात्मा का परमात्मा के साथ मेल आदि है, इस CO_2 के भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त का कैसे सामञ्जस्य हो सकता है, यह बात समझ में नहीं आ सकती। इस एक उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि श्रुति द्वारा निर्देश किये गये योग के स्वरूप तथा लक्ष्य को यदि सर्वदा सम्मुख न रखा जावे, तो इस सम्बन्ध में भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है और इस भ्रान्ति के कारण साधनादि में भी भ्रान्ति अनिवार्य हो जाती है। इस प्रकार की अनेक भ्रान्तियों के कारण साधक का मनोरथ सफल नहीं होता।

१० योग की अनुभूतियों में भ्रान्ति

योग अत्यन्त रहस्यमय है। सामान्य बुद्धि से इस कार्य-क्षेत्र का निर्णय करना असंभव है। जिस प्रकार समुद्र में गोता लगाने पर रेत, पत्थर, मोती, और भिन्न २ प्रकार के हीरे आदि अनेक पदार्थ हस्तगत हो सकते हैं। यदि इन पदार्थों के भेद का ज्ञान न हो, तो मनुष्य जो कुछ भी उसे मिल जाए, उसी को हीरा समझने की भूल कर सकता है अथवा हीरे को पत्थर समझ कर फैंक भी सकता है। ऐसी भूल तथा मूर्खता के कारण मनुष्य जीवन की बाज़ी लगा कर भी फल से वञ्चित रह जाता है। ठीक इसी प्रकार योगरूपी क्षेत्र महान् रत्नों से भरा हुआ समुद्र है। इसका अनुष्ठान करने पर अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं। जो अनर्थकारी, निरर्थक या मूल्यवान् भी होते हैं। जो मूल्यवान् होते हैं, उन में भी मूल्य का तारतम्य होता है। इनके भेद को न जानता हुआ साधक भूल कर सकता है। वह निरर्थक को मूल्यवान्, मूल्यवान् को निरर्थक या कम मूल्य वाले को अधिक मूल्य वाला समझ कर और समझ के अनुसार आचरण करता हुआ विफलमनोरथ हो जाता है। योगसिद्धि की पहिचान तथा उसकी प्राप्ति के लिए शास्त्र-ज्ञान तथा धैर्य की बहुत आवश्यकता है। जब चित्त-वृत्तियों का सामान्य निरोध भी होता है, तो भी इसका कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होता है। पहले तो साधक के अपने

प्राचीन संस्कार ही वृत्ति का रूप धारण कर लेते हैं। वह इनको ही सूक्ष्म जगत् के यौगिक अनुभव मान लेता है तथा इस सामान्य तुच्छ रेत को ही योग की सिद्धि मान बैठता है।

जैसे इस जगत् में अनेक प्रकार के भले बुरे मनुष्य हैं, इसी प्रकार सूक्ष्म जगत् में भी असुर तथा देव शक्तियां हैं। प्रारंभिक जिज्ञासु के लिए इनमें भेद करना कठिन होता है। उसे जो भी अनुभव होता है, वह उसे ही अपने लोभ, मोह या अभिमान के वश हो कर दिव्य, तथ्य और परमोपयोगी अनुभव मान लेता है। उसके अपने प्राचीन दबे हुए संस्कार अपनी पूर्ति के लिए अनेक रूप धारण कर लेते हैं और आवेश के रूप में पूर्ति चाहते हैं, जिसका मनुष्य को ठीक बोध नहीं होता। किसी ऐसे अनुभव के दृश्य—शब्दादि—को परम सत्य मान लेना बड़ी भूल है। जिस परम सत्य की उपलब्धि के लिए "अनेकजन्मसंसिद्धिः" कहा गया है, उसे थोड़े ही दिनों में हस्तगत कर लेने की दुराशा केवल अभिमान तथा अज्ञान के कारण ही हो सकती है। बहुधा मनुष्य अधीरता के कारण उपयुक्त परीक्षा नहीं करता। दस बातों में यदि एक सच्ची और नौ झूठी निकलती हैं, तो उन नौ की उपेक्षा करके एक का अधिक मूल्य लगाता है और उसके आधार पर दिव्य सन्देश की घोषणा कर देता है। एक आध भविष्य की वार्ता तो अनुमान से भी ठीक निकल सकती है। इस एक आध से वास्तविक सिद्धि की क्या सम्भावना हो सकती है, परन्तु मोह तथा अभिमान इन सन्देशों तथा वाणियों में असल नकल की तुलना नहीं करने देते। अपने ऐसे मनोभावों और आकांक्षाओं को ही दिव्य सन्देश तथा दर्शनों का नाम दे दिया जाता है। जो देवताओं के या अन्य दिव्य दर्शन कहे जाते हैं, सम्भवतः वे भी संस्कारवश मिथ्या या आंशिकरूप से सत्य हो सकते हैं। यदि उनके सत्य या मिथ्या होने का निश्चय करना हो तो उनके प्रभाव आदि की विवेचना करनी आवश्यक होती है। परन्तु प्रारंभिक साधक में न तो इस विवेचना की योग्यता होती है और न ही उसे ऐसा विश्लेषण करना प्रिय लगता है। वह तो अपने वृथा अभिमान के कारण जो कुछ भी उसके सामने आता है उस पर भूखे के समान टूट पड़ता है। ऐसी अवस्था में शुद्ध-अशुद्ध तथा सत्य-असत्य के विवेक का धैर्य ही दुर्लभ होता है।

कई साधक अल्पकाल की साधना में ही ऐसा मानने लगते हैं कि उन्हें वास्तविक दिव्य तथा सगुण दर्शन हो रहे हैं, परन्तु उनके जीवन के व्यवहार तथा मानसिक सन्तोष और शान्ति आदि में कुछ अन्तर नहीं आता। क्या शास्त्र में भगवद्दर्शन का यही फल वर्णन किया गया है कि भगवद्दर्शन भी हो जाए और जीवन भी वैसा का वैसा अशान्त तथा विषयासक्त बना रहे। भगवान् के किसी रूप का दर्शन भी जीवन को आनन्दमय बना देता है। उसकी एक झलक भी एक वार में ही संसार-दर्शन को परिवर्तित कर देती है। भगवान् के दर्शन के पश्चात् भी वही राग-द्वेष तथा लोभ आदि से युक्त व्यवहार कैसे रह सकता है? ऐसे तामसिक व्यवहार तो दर्शनाधिकारी अभ्यासी के दर्शन से पूर्व ही निवृत्त हो जाते हैं। दर्शन के पश्चात् इनके ठहरने की तो बात ही क्या है? ये दिव्य दर्शन सम्पूर्ण जीवन को दिव्य बना देते हैं। कोई भाग्यवान् ऐसे दर्शन पाकर विस्मित होता है कि उसके लिए संसार कैसे परिवर्तित हो गया। उसकी काया पलट हो जाती है। मनुष्य चित्र में

भी तो भगवान् के सगुण रूप के दर्शन करता है, इस दर्शन से जीवन में क्या विशेष परिवर्तन होता है। यह चित्र लौकिक है, दिव्य नहीं, अतः उसका कुछ प्रभाव नहीं होता। ऐसे ही मनोभावना से कल्पित दर्शन वास्तविक दिव्य दर्शन से भिन्न है। इसका प्रभाव मनुष्य के मन तथा जीवन पर कुछ नहीं होता। परन्तु इस प्रकार के भेद तथा मीमांसा करने का जिज्ञासु के पास विवेक नहीं होता और न ऐसा करना उसको अच्छा लगता है, क्योंकि वह तो झट उसको सत्य मान कर योगोपाधि ग्रहण करने को उत्सुक होता है। यह उत्सुकता उसकी विवेचन की शक्ति तथा सत्यासत्य के निर्णय के सामर्थ्य को हर लेती है। इस प्रकार कुछ योगमार्गाभिमानी लोग बैठने पर ही झट दिव्य प्रकाश आदि करना कराना चाहते हैं। इन बातों के सिवाय अपनी तथा दूसरों की वञ्चना के अतिरिक्त और कुछ लाभ नहीं होता। ऐसे ही योग की अनुभूतियां अनेक प्रकार की होती हैं। योग से ज्ञान, आवेश, शक्ति आदि भिन्न २ प्रकार की होने वाली अनुभूतियों का विस्तृत विवेचन करने का यहां न तो अवकाश है और न आवश्यकता। इनके तथ्यातथ्य निर्णय करने के लिए शास्त्र-बोध ही सहायक है। यह सत्य है कि ऐसे गुह्य अध्यात्म-शास्त्र का रहस्य भी किसी अनुभवी के द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। अन्यथा जिज्ञासु-कई यथार्थ वर्णनों को कल्पना मात्र कह देता है अथवा किसी कल्पना (वर्णन) का वास्तविक तात्पर्य क्या है, इसका केवल शब्द के पाण्डित्य से निर्णय नहीं हो सकता। अनुभवी महात्मा तो अति दुर्लभ हैं ही, उनके महत्त्व का निरादर कौन कर सकता है, परन्तु श्रुति तथा ऋषिप्रणीत अध्यात्म-विद्यासम्बंधी ग्रन्थ भी रहस्यमय ब्रह्मविद्या के सच्चे अनुभवों से भरे हुए हैं। अतः शास्त्र में अनन्य श्रद्धा रख कर उन का सदुपयोग करना ही युक्ति-युक्त मार्ग है। जैसे भौतिक विज्ञान-क्षेत्र में उन्नति के लिए (१) प्राचीन विद्वानों के आविष्कारों सम्बंधी ग्रन्थ, (२) वर्तमान शिक्षक तथा यन्त्रों का प्रयोग और (३) अन्य प्रकार के प्रयत्न—ये तीन भिन्न २ साधन परस्पर सहायक हैं और उनके समुच्चय के प्रयोग से ही सफलता हो सकती है। इसी प्रकार अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में तो यह नियम और भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि यह विद्या अति रहस्यमय है तथा श्रुति सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परम-हितैषी ईश्वर का ज्ञान है और ऋषियों के अनुभव इसका अनुमोदन करते हैं। वर्तमान काल का साधारण योगाभ्यासी प्राचीन ऋषियों के समुच्चय अनुभव से अपने अनुभव की सामान्यतया कैसे तुलना कर सकता है ?

११. उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि वर्तमान काल में अध्यात्म विद्या के दो सहकारी तथा उपयोगी साधन श्रुति का स्वाध्याय तथा योग पृथक् पृथक् हो गये हैं। अतः परमलक्ष्य की सिद्धि में बाधा उपस्थित हो रही है, जिससे श्रुति के सिद्धान्त के प्रति विमुखता बढ़ती जाती है। शास्त्रपरायण विद्वान् शास्त्राध्ययन तथा अध्यापन को ही ब्रह्मविद्या का एकमात्र, परम तथा पर्याप्त साधन मानते हैं। ब्रह्म को औपनिषद तत्त्व मानते हैं, (जो ठीक ही है, क्योंकि वह केवल उपनिषद् से ही गम्य है)

इसलिए वे लोग योग, उपासना आदि को अज्ञानमूलक कह कर उनका तिरस्कार करते हैं और इन साधनों को उचित स्थान नहीं देते। दूसरा वर्ग योगमार्ग वालों का है, वे केवल योग से ही परमसिद्धि का होना मानते हैं। श्रुति के अध्ययन को विवाद, संशय, अश्रद्धा आदि का कारण मानते हैं और उसमें श्रम करने को वृथा तथा इन दूषणों को पैदा करने वाला मानते हुए श्रुति के अध्ययन को परमलक्ष्य में बाधक मानते हैं। ये दोनों वर्ग अनुग्रह के कारण श्रुति तथा विचारयुक्ति-सम्मत दोनों श्रेय साधनों के समुच्चय का अनुसरण नहीं करते, अतः विफल-मनोरथ होते हैं। इसलिए विचारशील जिज्ञासुओं को परमलक्ष्य की सिद्धि के लिए इन दोनों परमोपयोगी साधनों का उचित सदुपयोग करना चाहिए। शास्त्र-अध्ययन विना योग के पंगु है और योग विना शास्त्र-अध्ययन के अंधा है। इन दोनों का मेल ही एक दूसरे की अपूर्णता को दूर करके मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जा सकता है।

१२. यम नियम

योग की उपयोगिता तथा इसके सहकारी श्रुति, श्रद्धा, अध्ययन आदि का विवेचन हो चुका है। इसी बीच में योग के कतिपय विघ्नों का भी चेतावनी के लिए वर्णन किया है। असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद और इनमें कौनसा हेय तथा कौनसा उपादेय है, इसका भी निरूपण हो चुका है। अब योगविषयक कई अन्य उपयोगी बातों का निरूपण किया जाता है।

समाधान प्रकरण में इस विषय का निरूपण हुआ है कि समाधियोग तथा उपनिषद् विद्या के अभ्यास का सच्चा अधिकारी वही है, जो एकाग्र भूमि—समाहितचित्त—वाला हो। विक्षिप्त चित्त वालों के लिए योग के साधन पाद में अन्य उपयोगी पांच बहिरंग साधन बताए गये हैं। इन पांच में से पहले दो—यम-नियमों—का निरूपण योगदर्शन में किया गया है।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ योग २,३०

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ योग २, ३२

इनका ही सार रूप से प्रजापति के प्रथम दो उपदेशों में वर्णन है, जिन पर आचरण कर लेने के पश्चात् ही जिज्ञासु को देवताओं के उपदेश इन्द्रिय-दमन अर्थात् वैराग्य और अभ्यास आदि का अधिकार प्राप्त होता है। समाधि के अभ्यास वाले के लिए यम-नियमों का अनुष्ठान स्वाभाविक होता है, और विक्षिप्तचित्त वाले को इनका अनुष्ठान यत्न से करना पड़ता है। परन्तु इनके अनुष्ठान के विना किसी अध्यात्म-मार्गोपयोगी योग का अभ्यास नहीं हो सकता। हठयोग का भी कोई ऐसा प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलता, जिसमें सब से पहले इनका उपदेश न हो। परन्तु आजकल के भोग-प्रधान युग में यम-नियम की ओर कम ध्यान दिया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग में इनका अनुष्ठान अत्यन्त कठिन है, परन्तु कठिन होने से ही इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनके विना प्राणायाम आदि सभी योग-साधन निरर्थक कुञ्जर-स्नान के समान होते हैं। तथा अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुस्साध्य रोगों

और सर्व साधारण में योगसम्बन्धी अश्रद्धा की वृद्धि का कारण बन सकते हैं। इसलिए यम-नियमों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। यम-नियम का पालन करके आभ्यन्तर शुद्धि की ओर हठयोग की षट्-क्रिया से घटशुद्धि की अपेक्षा अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यम-नियम अर्थात् खान-पान का संयम, तथा ब्रह्मचर्यादि के बिना यह षट्-क्रिया भी दुःसाध्य रोग उत्पन्न कर देती है। इन यम-नियमों का सामान्य निरूपण प्रजापति के उपदेश* तथा कर्म प्रकरण+ में हो चुका है। अतः यहां पर इनकी उपयोगिता पर विशेष विचार नहीं किया जाता। इतना ही पर्याप्त है।

१३. हठयोग, षट्-क्रिया, प्राणायाम

आसनादि का मुख्य लाभ आध्यात्मिक है, शारीरिक लाभ गौण है।

आसनों तथा षट्-क्रियाओं का विधान हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों में किया गया है। इनका उद्देश्य आध्यात्मिक होता है, केवल शरीर की नीरोगता के सम्बन्ध में चमत्कारी प्रभाव के कारण ही इनका उल्लेख नहीं है। यद्यपि दुःसाध्य रोगों का निवारण भी इनसे हो सकता है, परन्तु आज-कल केवल इनकी शारीरिक उपयोगिता की दृष्टि से अनेक ग्रन्थ यौगिक चिकित्सा पर लिखे गये हैं, जिनमें आसनों आदि का सविस्तर निरूपण होता है। ऐसे कई योग आश्रमों की स्थापना हुई है, जिनमें विशेषतया केवल शारीरिक उपयोगिता की दृष्टि से इनकी ही शिक्षा होती है। इससे सामान्य जनता को यह भ्रान्ति होती है कि यह आसनादि ही योग हैं और इनका लक्ष्य केवल शारीरिक नीरोगता आदि ऐहिक लाभ हैं, यह बात भी सत्य है कि इन आसनादिकों में ये सब ऐहिक लाभ—शारीरिक नीरोगता आदि—प्राप्त करने के गुण हैं और जिन की दृष्टि केवल ऐहिक लाभ पर है वे भी इनकी ओर इसीलिए आकृष्ट होते हैं। शारीरिक नीरोगता की आध्यात्मिक मार्ग में गौण रूप से उपयोगिता भी है, क्योंकि शारीरिक नीरोगता तथा उपयुक्त सामर्थ्य के बिना कोई पुण्य-पापरूपी कर्म नहीं हो सकते। "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" निश्चित रूप से शरीर धर्म का सर्व प्रथम साधन है। परन्तु यह दृष्टि कोण ठीक नहीं है, क्योंकि हठयोगादि ग्रन्थ भी अध्यात्मविद्या का निरूपण करते हैं। ये वैदिक ग्रन्थ नहीं हैं। इनमें भी इन क्रियाओं का उल्लेख मुख्यतया आध्यात्मिक प्रभाव की दृष्टि से किया गया है। हठयोगप्रदीपिका में सिद्धासन का लाभ इस प्रकार वर्णित है:—

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम्॥ १, ३९
आत्मध्यायी मिताहारी यावद् द्वादशवत्सरम्।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात्॥ १, ४०

---

* ब्रह्मविद्या दूसरा खण्ड पहिला अध्याय।

\+ " तीसरा खण्ड " "

उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला।
तथैकस्मिन्नेव दृढे बद्धे सिद्धासने सति ॥ १, ४१
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ १, ४२

अर्थात् बहत्तर हज़ार (७२०००) नाडियों, जिनका वर्णन प्रश्नोपनिषद् (३,६) तथा कठोपनिषद् (६,१६) में पाया जाता है, के मल को शोधन करना तथा बारह वर्ष तक इस आसन का अन्य अंगों सहित अनुष्ठान करने से उन्मनी समाधि की अवस्था की सिद्धि आदि आध्यात्मिक लाभों का यहां उल्लेख है। इन आसनों का मुख्य प्रयोजन यह आध्यात्मिक लाभ ही है। इसी प्रकार षट्-क्रिया आदि का उपयोग भी इसी दृष्टि से किया गया है (हठयोग प्रदीपिका २,४)। इसका तात्पर्य यह है कि षट्-क्रिया आदि का निरूपण केवल शारीरिक आरोग्य के सम्पादन के लिए नहीं है, किन्तु शारीरिक नीरोगता गौण है और उन्मनी अवस्था की प्राप्ति, मध्य-मार्ग-प्रवेश तथा कुण्डलिनी के जागरण में सहायक होना इन सब साधनों के मुख्योद्देश्य हैं। यह अध्यात्म दृष्टि-कोण है।

१४. निपुण अनुभवी आचार्य की आवश्यकता

उपर्युक्त षट्-क्रिया आसन आदि का यहां पर विस्तार से निरूपण करना अभीष्ट नहीं है। विस्तृत निरूपण के पश्चात् भी इसके अनुष्ठान के लिए किसी जानकार की सहायता की आवश्यकता रहती है। केवल किसी ग्रन्थ के वर्णन के आधार पर इन आसन, षट्-क्रिया, प्राणायाम आदि को कोई विधि के अनुसार नहीं कर सकता। ऐसा करने पर अनेक भयानक प्राण-नाशक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। अतः बिना किसी दक्ष, निपुण गुरु के इस मार्ग में प्रवेश कदापि नहीं करना चाहिए। अन्यथा "पीछे पछताये क्या होत है, जब चिड़ियां चुग गयीं खेत" वाली उक्ति चरितार्थ होगी। कहा भी है:—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ हठयोग प्रदीपिका २,१६

भली प्रकार किये प्राणायाम आदि साधनों से सब रोगों का नाश होता है और अयुक्त ढंग से किये गये ये योग के अभ्यास सब रोगों को उत्पन्न करते हैं।

१५. हठयोगादि साधनों की उपयोगिता तथा मर्यादा

यहां पर हमारा उद्देश्य इन साधनों की मर्यादा, अवधि तथा उपयोगिता पर विचार करना है, क्योंकि उचित मर्यादा ही सर्वत्र दुर्लभ है। एक वर्ग ऐसा दीखता है, जो इन क्रियाओं तथा इनके शारीरिक लाभ को ही योग मान कर अपनी संपूर्ण आयु इन्हीं के अभ्यास में खपा देता है और परमलक्ष्य से कोरा रह जाता है। दूसरा वर्ग वह है, जो इन साधनों को योग-सिद्धि के लिए परमोपयोगी तथा अनिवार्य मानता है। वह यम-नियमादि द्वारा भीतरी शुद्धि को भी इन साधनों की अपेक्षा बहुत महत्त्व नहीं देता। इस प्रकार इन साधनों का अति प्रयोग हो जाता है और काल, अवस्था आदि के विचार के बिना इन को अनिवार्य मान लिया जाता है। इनको

अध्यात्म योग-साधना का सर्वस्व मान लेना भूल है, क्योंकि इनकी अपेक्षा सात्त्विक मिताहारमात्र से भी दीर्घकाल तक रहने से वही फल सिद्ध हो जाता है, जो इन साधनों से होता है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत् कर्म न सम्मतम् ॥ हठ० प्रदी० २,३६

षट्-कर्म के विना केवल प्राणायाम से ही सम्पूर्ण मल—स्थूलता, वात, कफ आदि—संपूर्णतया शुष्क हो जाते हैं। इसलिए याज्ञवल्क्य आदि कई आचार्यों को अन्य अर्थात् षट्-कर्म एतदर्थ अभिमत नहीं हैं।

परन्तु जहां इन का अति उपयोग, दुरुपयोग अथवा अनुचित महत्त्व भ्रान्ति-युक्त होने से हानिप्रद है, वहां हठयौगिक आसन षट्-क्रियादि का नितान्त तिरस्कार भी युक्तियुक्त नहीं है। इनका उचित उपयोग, किसी दक्ष की देख रेख में इनके शारीरिक तथा मानसिक प्रभाव के कारण, लाभदायक ही है। हां! केवल इन क्रियाओं को योग समझ लेना भूल है। दोनों वर्गों के लिये मध्यमार्ग ग्रहण करके स्वयं उचित लाभ उठाना श्रेयस्कर है। तथा अनुचित धारणा, अनुष्ठान तथा वचनद्वारा दूसरों को पथ-भ्रष्ट करने के पाप का भागी नहीं बनना चाहिए।

१६. योग के भेद

पातञ्जलयोग, मन्त्रयोग, हठयोग, कुण्डलिनीयोग, लययोग, भक्तियोग आदि के अनेक भेद हैं। उन सब का विस्तार यहां अनावश्यक है, क्योंकि यह केवल योग विषय का ग्रन्थ नहीं है। यहां तो केवल ब्रह्मविद्या के प्रधान अंग के रूप से योग के उचित महत्त्व, उसके शुद्ध स्वरूप, अन्य अंगों के साथ उसका सम्बन्ध तथा योग के विघ्न-विषयक विवेचन ही अभिप्रेत हैं, जिससे साधक केवल योग के अवलम्बन से अथवा योग को नितान्त त्याग करके चिरकाल तक महान् प्रयत्न करने पर भी विफल-मनोरथ न हो जाए अथवा लक्ष्य की भली प्रकार पहिचान न होने से बीच में ही अपने आप को कृत-कृत्य मान कर प्रयत्न न त्याग दे।

इन सब योगों का अनुष्ठान केवल शास्त्र के सहारे, किसी निपुण, परहित-परायण, अनुभवी महात्मा के विना नहीं हो सकता, नहीं तो अनेक प्रकार के विघ्न तथा भयानक रोग होने का दुर्निवार्य भय है। इस भूल से बहुत सचेत रहना तथा इस चेतावनी को सदा स्मरण रखना चाहिए। इस कारण से भी इनके विस्तार को अनुपयोगी समझ कर ऐसा नहीं किया गया। और इनके अनन्त विस्तार तथा अनुष्ठान का ब्रह्मविद्या में विशेष उपयोग भी नहीं है। यहां पर तो योग का उपयोग केवल चित्त के सूक्ष्म, दिव्य तथा समाहित करने में है, जिससे सूक्ष्मतम ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति हो सके। योग के अनन्त अनुष्ठानों से प्राप्त होने वाले आकर्षक अतः बाधारूप अवान्तर फलों से कुछ प्रयोजन नहीं। इसलिए इस प्रकार के ग्रन्थ में इतने महान् विस्तार का कुछ उपयोग नहीं है।

१७. योग का एक सरल तथा उत्तम मार्ग

मार्ग के साधन का महत्त्व तथा जन-प्रमाद

केवल एक सरल, परन्तु सर्वोत्तम, परमोपयोगी, परम सामर्थ्यवान् अमोघ साधन का वर्णन कर देना, सच्ची सात्त्विक श्रद्धा से सम्पन्न साधक के लिए उपयोगी होगा। इस अति सरल उपाय की महिमा के आधार पर प्राणायाम आदि कष्ट-साध्य साधनों का निरादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये सब साधन भी शास्त्रसम्मत हैं और इनकी महिमा तथा फलों का जो वर्णन शास्त्रों में मिलता है, वह सब सत्य और अनुभव से अनुमोदित है। पर, यह भी सत्य है कि ये सब रहस्यमयी विद्याएं सामान्य मानवीय बुद्धि का काम नहीं हैं। ये परम हितैषी भगवान् तथा महापुरुषों का मनुष्य जाति को दिव्य धाम की ओर लेजाने के लिए कृपाकटाक्ष का प्रसाद हैं। जिस प्रकार वेदादि शास्त्रों का महापुरुषों पर अवतरण हुआ है, उसी प्रकार प्राणायाम आदि के दिव्य ज्ञान का भी महापुरुषों पर भगवत्कृपा से अवतरण हुआ है। जो दिव्य पुरुष जन्म से ही इन दिव्य विभूतियों से सम्पन्न थे, उन्होंने मानवीय सामान्य बुद्धि के अगोचर इन मार्गों का मानव जाति के परम कल्याण के लिए उपदेश किया। परन्तु फिर भी यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि ये साधन हैं अतिकष्ट साध्य, और इनकी दीक्षा देने वाले निपुण गुरु का मिलना भी सुलभ नहीं है। यह कठिनाई ही इन मार्गों तथा विद्याओं के अधिक महत्त्व का कारण बन गयी है।

इन से भिन्न शास्त्र में एक सरल उपाय भी वर्णित है। शास्त्र इसकी दूसरे मार्गों की अपेक्षा भूरि-भूरि प्रशंसा भी करता है। परन्तु हम इसको साधारण समझकर इसे उचित महत्त्व नहीं देते। जैसे कोई बालक समझे कि मीलों तक फैला हुआ महान् अंधकार एक दियासलाई या दीपक के जलाने रूपी साधारण क्रिया से कैसे दूर हो जायगा, इसके दूर करने के लिए तो महान् प्रयासयुक्त कोई बहुत बड़ा यंत्र चाहिए। इसी प्रकार की धारणा हम ने भी इस सामान्य सरल साधन के विषय में बना ली है। हम इसका उपयोग विधि के अनुसार श्रद्धापूर्वक नहीं करते। हम सांसारिक मोहादि के वश हुए अध्यात्म-लक्ष्य की ओर से आत्म-घातक प्रमाद करते हैं। यदि कुछ चेतावनी आती है तो महान् कष्ट-साध्य साधनों की ओर आकृष्ट होते हैं। उन साधनों की उपयुक्त शिक्षा के अभाव से या तो उनका आचरण ही नहीं करते, केवल विचार मन में उठ-उठ कर वहीं लीन हो जाते हैं, अथवा स्वतन्त्ररूप से कुछ करते हैं, तो कई कष्टदायक विघ्नों के उपस्थित हो जाने पर विवश और हताश होकर हमें इस पथ को ही छोड़ देना पड़ता है, अथवा बहु आयास-साध्य होने के भय से हम इनमें प्रवृत्त ही नहीं होते। कोई विरला ही इन साधनों से सफलता प्राप्त कर पाता है। इतना होने पर भी प्राक्तन मलिन संस्कारों, नास्तिकता तथा अश्रद्धा के कारण हम इस सरल और सामान्य परन्तु सर्वोत्कृष्ट, परमोपयोगी और सर्व-विदित साधन की ओर ध्यान तक नहीं देते। इस साधन की शास्त्र में जो महिमा वर्णन की गयी है, वह भी उपर्युक्त अश्रद्धा आदि दोषों के कारण हमें कल्पना सी दीखती है। यह साधन ऐसा है कि इस का अनुष्ठान युवा, बाल, वृद्ध, पुरुष, स्त्री, अनपढ़, पण्डित, धनी, निर्धन, रोगी, बलवान् सभी समान रूप से कर सकते हैं। हमें इस

सरल उपाय का केवल इसकी सरलता के कारण या पाश्चात्य भौतिकशिक्षा के प्रभाव के कारण ध्यान तक नहीं आता। आप पूछेंगे कि इतनी लम्बी भूमिका तो हुई, परन्तु उस साधन का नाम-निर्देश आदि कुछ नहीं हुआ, वह भी तो होना चाहिए। परन्तु यह लम्बी भूमिका की अवतरणिका भी इसीलिए करनी पड़ी है कि आप झट कह देंगे कि यह तो पहले भी कई वार सुना है। इसमें नई बात ही क्या है? परन्तु इसमें नई बात यही है कि आप इसके अमित प्रभाव को नहीं जानते। इसलिए इसमें श्रद्धा नहीं होती। यदि कभी पढ़ते तथा सुनते भी हैं, तो अनसुना सा कर देते हैं, और यही कहते हैं अजी! यह तो दिल बहलावे की बातें हैं, इससे क्या होता है? अब तक इससे किसी का क्या हुआ है? बहुतों ने किया किसी को फल तो होते देखा नहीं। अमुक अमुक वर्षों से इसको करते हैं, परन्तु जीवन में रत्तीभर उन्नति नहीं हुई। इसके माहात्म्य की बातें सब दिल्लगी की बातें हैं। इसीलिए हमें भी इसकी महिमा का विस्तार करना पड़ा है। क्योंकि जनसाधारण अश्रद्धा तथा प्रमाद के वश इस पारसमणि से उदासीन है। और अपने आध्यात्मिक दारिद्रय का अमोघ उपाय सुलभ होने पर भी दिनरात मोह-पाश में बंधा हुआ अपार चिन्ता में डूबा रहता है। वह उपाय है—भक्तियोग और उसका अत्यन्त सरल तथा अमोघ अंग ओंकार (अथवा अन्य किसी भगवन्नाम) का अवलम्बन।

१८. उपनिषदादि में 'ओम्' महिमा।

'ओम्' की महिमा उपनिषदों में अनेक स्थलों पर वर्णित है।

नचिकेता यम आचार्य से प्रश्न करते हैं—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥ कठ २,१४

भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो धर्म तथा अधर्म से अतीत, कार्य तथा कारण जगत् से भी भिन्न, भूत, भविष्यत्, तथा वर्तमान तीनों कालों से अमर्यादित (कालातीत) तत्त्व को जो आप जानते हैं, वह मुझे बताएं।

यम आचार्य उत्तर देते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ २,१५

सम्पूर्ण वेद जिस परम पद का विस्तार से निरूपण करते हैं, सम्पूर्ण तपों का विधान जिस पद की सिद्धि के लिये किया जाता है, साधक जिसकी इच्छा से प्रेरित होकर ब्रह्मचर्य आदि कष्टसाध्य व्रतों का अनुष्ठान करते हैं, उस पद का संक्षिप्त रूप से मैं कथन करता हूं—वह अक्षर 'ओम्' ही है।

'ओम्' महिमा—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ २,१६

यह अविनाशी 'ओम्' ही ब्रह्म है। परमपद की प्राप्ति का साधन होने से यह 'ओम्' अक्षर ही मानों पर (ब्रह्म) है। नाम और नामी का यहां अभेद ही है। इस अक्षर 'ओम्' (की महिमा—प्रभाव) को जान कर अनन्य श्रद्धा के सहित इसका अनुष्ठान करने से मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ २,१७

यह अत्युत्तम आलम्बन (आश्रय—आधार) है, यह परम आधार है। इस आलम्बन (की महिमा) को जान कर इसके द्वारा ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होता है।

एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्
विद्वाने तेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ प्रश्नोपनिषद् ५,२

जब शिविपुत्र सत्यकाम ने पिप्पलाद महर्षि से मृत्यु के समय 'ओंकार' के ध्यान का फल पूछा, तो ऋषि ने उसे कहा—हे सत्यकाम ! निश्चय ही यह जो 'ओम्' है, यही पर तथा अपर ब्रह्म है। इस लिये विद्वान् (ओम् के महत्त्व को जानने वाला) इस ओङ्कार के आश्रय से ही पर तथा अपर ब्रह्म की (अपनी श्रद्धा के अनुसार) प्राप्ति कर लेता है।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः ॥ कैवल्योपनिषद १,११

अन्तःकरण को नीचे की अरणि (अग्नि मथने की समिधा) बनाकर 'ओंकार' को ऊपर की अरणि (अग्नि मथने की समिधा) बनाकर पण्डित ज्ञानरूपी मन्थन के अभ्यास से पाप तथा संसार-वासना को जला देता है।

ओमिति ब्रह्म। ओमिति इदं सर्वम्। ओमित्येतदनुकृति हस्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओं शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमिति अग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मैवोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति। तैत्तिरीय १,८

यह 'ओम्' ब्रह्म (पर) है। यह 'ओम्' ही सर्व (दृश्यमान जगत्) है, अर्थात् शबल ब्रह्म है। 'ओम्' के उच्चारण द्वारा ही श्रेष्ठ जन-किसी बात का अनुमोदन करते हैं। 'ओंकार' उच्चारण करके ही गुरु अथवा वक्ता उपदेश का आरम्भ करता है। साम के गान के आरम्भ में भी प्रथम 'ओंकार' का गान होता है। यज्ञ में शस्त्र-शंसन के कर्म करने वाला होता ऋत्विक् 'ओम्' के उच्चारण के अनन्तर ही शस्त्रमन्त्रों का उच्चारण करता है। अध्वर्यु ऋत्विक् भी 'ओम्' का उच्चारण कर प्रतिगर

मंत्र का उच्चारण करता है। ब्रह्मा भी 'ओम्' उच्चारण से अनुमति देता है। ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) 'ओम्' उच्चारण द्वारा ही (अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व) प्रार्थना करता है कि मैं वेद के अध्ययन की सामर्थ्य प्राप्त करूं। इस विधि से वह सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता है।

**प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्य-
तपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवःस्वरिति ॥
तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना
सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदं
सर्वम् ओङ्कार एवेदं सर्वम्** ॥ छान्दोग्य २, २३,२;३

प्रजापति ने लोकों के उद्देश्य से ध्यान रूप तप किया। इन अभितप्त लोकों से त्रयीविद्या की उत्पत्ति हुई। इस अभितप्त त्रयीविद्या से भूः, भुवः, और स्वः ये महाव्याहृतियां उत्पन्न हुई। उन अभितप्त महाव्याहृतियों से 'ओंकार' उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार नसें सम्पूर्ण पत्ते में फैली हुई होती हैं, इसी प्रकार 'ओंकार' से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है। 'ओंकार' ही यह सब कुछ है।

**वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे** ॥ श्वे० १,१३

जैसे योनि—आश्रयभूत काष्ठ—में स्थित अग्नि का रूप दिखाई नहीं देता, परन्तु उसकी सत्ता का नाश भी नहीं होता क्योंकि वह उपयुक्त यत्न से ईंधनरूप योनि से प्राप्त किया जा सकता है, ठीक ऐसे ही वह दोनों जीव और ईश्वर शरीर में ओंकार के द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं—

**स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत्** ॥ श्वे० १,१४

अपनी देह को (नीचे की) अरणि बना कर और प्रणव को ऊपर की अरणि बना कर ध्याननिर्मथनरूपी अभ्यास कर अर्थात् शरीर को स्थिर करके प्रणव का एकाग्र मन से अर्थभावना सहित अनन्य श्रद्धा से निरन्तर दीर्घकाल तक जप करे, तो हृदय में छिपे परमात्मा के दर्शन कर लेता है।

**अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्** ॥ मुण्डक २,२,६

जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे जुड़े होते हैं, ऐसे ही जिस हृदय में नाडियां स्थित हैं, जिस हृदय में अनेक प्रकार से उत्पन्न (व्यक्त) होने वाला वह आत्मा रहता है, इस

आत्मा का ओम् नाम द्वारा ध्यान करो। अज्ञानमय अन्धकार से अतीत तथा भवसागर के अन्तिम तट रूप आत्मा की प्राप्ति के लिये यह कल्याणकारी हो।

पतञ्जलि ऋषि ने योगदर्शन के समाधिपाद में जहां अनेक विधियों तथा अभ्यासरूपी साधन के सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञातरूपी भेदों का सविस्तर वर्णन (१७-२०) सूत्रों में किया है, वहां इस (ओम्) ही के अभ्यास द्वारा शीघ्रतम प्राप्ति का उपाय भी (२१-२२) सूत्रों में वर्णन किया है। सूत्रकार का विशेष निर्दिष्ट मार्ग यही प्रतीत होता है, क्योंकि विभूतिपाद में भी इसी का अन्यत्र वर्णन है। परन्तु यहां प्रथम समाधिपाद में अभ्यास के अनन्तर शीघ्रतम समाधिलाभ के उपाय के रूप में—विकल्परूप में—सूत्र २३ में ईश्वरप्रणिधान का निरूपण है। भगवान् व्यास का भाष्य इस सूत्र पर बहुत महत्त्व का है तथा परम श्रद्धालुओं के बहुत काम की वस्तु है।

व्यास भाष्य मेंजहां इस समाधि के लाभ के लिए अभ्यास के अनेक भेद बताए हैं, जिन का समझना तथा अनुष्ठान करना सुगम नहीं है, वहां इस सुलभ उपाय का भी वर्णन किया है; जिससे बहुत अल्पकाल में समाधि का लाभ स्वतः ही हो जाता है। इस में जो हेतु दिया गया है वह मर्मभेदी, रहस्यपूर्ण, अध्यात्मविद्या का सार तथा आस्था की वृद्धि करने वाला है। अन्य उपायों में साधक अकेला अपनी ही अल्पशक्ति के सहारे पर इतने कठिन कार्य में उत्तीर्ण होना चाहता है। परन्तु इस ईश्वरप्रणिधान—ओंकार के जाप तथा अर्थ-भावना—से सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा प्रसन्न होते हैं और उनके प्रसाद-मात्र से साधक का चित्त निज धाम में स्थिर हो जाता है। यह थोड़े से विचार से भी स्पष्ट हो जाता है कि जब इतनी महती शक्ति का सहयोग हो, तो फिर लक्ष्य-सिद्धि में क्या विलम्ब है ? तब सिद्धि तो निश्चित और हाथ में ही समझनी चाहिए। परन्तु यह है श्रद्धा का काम, जो श्रद्धा अनन्त जन्मों के पुण्यसञ्चय से प्राप्त होती है। जिनको अपनी बुद्धि तथा बल का मिथ्या अभिमान होता है उनके लिए इसे अपनाना कठिन है। गीता (७,१४) में भी भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को माया के विजय करने का सरल उपाय भक्ति को ही बताया है। गीता (६,४७) में भी सब योगों से भक्तियोग की श्रेष्ठता का वर्णन किया है। योगसूत्र (१,३०-३१) में भी इस एक उपाय—प्रणव के जाप—से ही योग के नौ अन्तराय तथा विक्षेपों की निवृत्ति और स्वरूप-स्थिति के लाभ का वर्णन है। सूत्र (१,२६) में प्रणव-जाप का ऐसा महत्त्वपूर्ण फल बताया गया है*।

परन्तु मनुष्य इतने सुलभ और महान् सामर्थ्यवान् साधन को छोड़ कर अन्यत्र भटकना चाहता है। यह उसकी इच्छा है। उस पर इस कलियुग में कौन सा अंकुश है। ईश्वर के ओम् आदि नामों का अमित प्रभाव है। परन्तु इतने पर भी जनसाधारण और कई महात्मा भी कहते सुने जाते हैं कि नाम से क्या होता है ? क्या भगवान् नाम तथा स्तुति का भूखा है ? सब संसार भगवान् का नाम लेता है, परन्तु कुछ फल तो दिखाई देता नहीं। अपने जीवन को सुधारना चाहिए। पाप तथा मलिन भोग-वासना को धो डालना चाहिए। फिर ईश्वर तो स्वयं आपके पास आ जायगा।

---

* योग के इन सूत्रों का सविस्तर अर्थ समाधान प्रकरण (पृ० १३१-१३३) में किया गया है।

यदि इस प्रकार के वचन नाम लेने का ढोंग करने वाले बगुला भक्तों तथा ऐसे साधकों, जो नाम के साथ व्यवहार की पवित्रता के सहयोग से अनभिज्ञ हैं, की चेतावनी के लिए कहे गये हों, तो उपयुक्त ही हैं। क्योंकि ओम् आदि भगवन्नामों का जाप भावना (श्रद्धा तथा शुद्ध व्यवहार) से ही फल दे सकता है। कौन ऐसा व्यक्ति है, जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर में श्रद्धा रखे और फिर ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध अन्याय का आचरण भी करे। व्यवहार की शुद्धि को स्वतन्त्र पर्याप्त साधन मानना और ईश्वर के नाम, जप आदि को निरर्थक श्रम और तोते की रट कहना अध्यात्म लक्ष्य तथा साधन से अत्यन्त अनभिज्ञता के कारण होता है। जैसे अग्नि का स्वाभाविक कार्य तथा गुण जलाना है। इसी प्रकार ईश्वर के नाम का प्रभाव भी है। परन्तु अग्नि के जलाने में भी कई प्रतिबंधक होते हैं। इसी प्रकार श्रद्धा से शून्य जाप तथा ध्यान आदि का विशेष फल नहीं होता। अथवा जिस जिस भावना से कोई नाम-जप श्रद्धा सहित करता है, उसको वही फल प्राप्त होता है। जो लौकिक फलों की कामना से जाप करते हैं, उन्हें परमार्थ-सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है? जो लोग विना श्रद्धा के केवल दूसरों को ठगने के लिए दम्भ करते हैं, उनको किस फल की सिद्धि हो सकती है? परन्तु इन लोगों के दम्भ के कुफल के कारण शुद्ध, सात्त्विक ईश्वर प्रणिधान, भक्ति, ध्यान, जप आदि को निष्फल समझना भूल है। हां, यह जाप विधि-सहित होना चाहिए। यदि कोई एकान्त में शुद्ध भावना से, सत्यादि का आचरण करते हुए सिद्धादि किसी एक आसन पर स्थिर होकर, ओंकार का प्राणसहित अजपा जाप ध्यान प्रतिदिन न्यून से न्यून तीन घण्टे करे तो कुछ काल में ही उसे इसका प्रभाव विभिन्न रूप से अनुभव होने लगेगा। यह अनुभव की वस्तु है। शब्द इसका क्या निरूपण कर सकते हैं। अश्रद्धालुओं के लिए तो यह सब कल्पनामात्र ही है। अनुष्ठान ही सब सन्देहों को भस्मसात् कर सकता है। शास्त्र तथा महात्मा तो इसका एक स्वर से अनुमोदन कर रहे हैं। लाभ उठाना या न उठाना मनुष्य के अपने भाग्य तथा पूर्वकृत पुण्य पर निर्भर है।

१६. योग में महान् विघ्नरूप सिद्धियां

किसी साधना के अनुष्ठान करने पर अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं, जिनमें से कुछ एक का उल्लेख चेतावनी के लिए पहले किया जा चुका है। उनसे भिन्न एक महान् अनर्थकारी विघ्न के विषय में उपयुक्त चेतावनी देकर विस्तार के भय से इस विषय को समाप्त किया जाता है।

योगदर्शन के विभूतिपाद में अनेक संयमों का वर्णन मिलता है, जिनके भिन्न-भिन्न विचित्र फल सिद्धि के रूप में कहे गये हैं। बहुत से लोग इन सिद्धियों को ही योग का परमसाध्य मानते हैं। और इस समय जब रेडियो आदि दूर-श्रवण तथा दूर-दर्शन के यन्त्रों का आविष्कार हो चुका है, तो वे लोग कहते हैं कि इस युग में योग की क्या आवश्यकता है? क्योंकि, उनकी दृष्टि में इन सिद्धियों को प्राप्त कर लेना ही योग का एकमात्र लक्ष्य है। कई सज्जन इन सिद्धियों से आकृष्ट हो कर ही योग में प्रवृत्त होते हैं परन्तु ये सिद्धियां योग का वास्तविक ध्येय नहीं है, प्रत्युत ये तो उसके परम लक्ष्य में बाधारूप हैं। शक्ति को योग का परम लक्ष्य समझना या शक्ति के विना योग को

निष्फल मानना अथवा शक्ति का किसी रूप से भी प्रलोभन साधक को सच्ची स्थिति से भ्रष्ट करने वाले होते हैं। प्रायः इस प्रकार की विपरीतभावना, शक्ति का मोह तथा अपने वृथा अभिमान के कारण साधक अपनी असत्य मनोभावनाओं को ही सिद्धि—शक्ति—की कल्पना करने लग जाता है। इस प्रकार वह सिद्धि की भी असल और नकल में पहिचान नहीं कर पाता। और काल्पनिक मनःस्थिति को ही भोले मनुष्यों में अपनी महिमा और प्रतिष्ठा के लिए सिद्धि कह कर प्रकट करता है। जैसे पहले भी कहा गया है कि यदि कभी किसी साधक को कुछ काल साधन करने के पश्चात् इस प्रकार के कुछ विलक्षण या दिव्य अनुभव होने भी लगें, जिनको सिद्धियां कहा जाता है, तो उसे धैर्य से काम लेना चाहिए, और अनेक वार परीक्षा करने के पश्चात् निष्पक्षभाव से किसी निर्णीत परिणाम पर पहुंचना चाहिए तथा इसको गुप्त रखना चाहिए। क्योंकि, मिथ्या अभिमान ही मिथ्या धारणा का कारण बन जाता है। परन्तु विना प्रकट किये इस मिथ्याभिमान की पूर्ति नहीं होती। अतः इस विषय में मौन धारण कर लेने से अधीरता तथा निर्णय करने में भ्रान्ति का मुख्यकारण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार योग मार्ग में अपनी उन्नति तथा किसी साधन के वास्तविक प्रभाव के जानने में गलती नहीं होती। इसके अतिरिक्त प्रकट कर देने से उन्नति में बाधा पड़ती है। 'गुप्ता सो सिद्धा' वाली उक्ति सच्ची है, इसीका अनुसरण करना चाहिए।

सिद्धियों का प्रलोभन केवल साधक की अपनी वास्तविक स्थिति के निर्णय करने में भ्रान्ति तथा सामान्य उन्नति में बाधा ही उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत परमलक्ष्य की प्राप्ति में अति भय-प्रद प्रतिबन्ध है, क्योंकि शक्ति का प्रलोभन अज्ञानमूलक तथा अयुक्त है और हृदयग्रन्थि को दृढ करता है। योगसिद्धियां तथा शक्तियां भी माया का अति सूक्ष्म दृढ पाश हैं, जिससे कोई विरला, भाग्यवान्, परम सात्त्विक, श्रद्धा वाला, अतिसूक्ष्म तथा शुद्ध बुद्धि वाला, नीर-क्षीर-विवेकी हंस के समान नित्य तथा अनित्य के दृढ विवेकवाला ही बच सकता है। इस विषय में स्वयं भगवान् पतञ्जलि सिद्धियों तथा विभूतियों के वर्णन करने के पश्चात् साधकों की चेतावनी के लिए लिखते हैं:—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ योग ३,३७

जो साधक आत्म-संयम के अभ्यास में प्रवृत्त होता है, कभी कभी उसे आत्म-दर्शन से भिन्न अन्य सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। उनकी प्राप्ति पर वह अपने आपको कृत-कृत्य मानने लग जाता है, और आत्म-संयम से उपरत हो जाता है। ऐसे अवसर पर ही इस सूत्र का उपयोग है।

व्यास भाष्य का अर्थः—व्युत्थितचित ही प्रातिभ आदि (पूर्वसूत्र में वर्णित सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट (दूर) अतीत तथा अनागत पदार्थों का ज्ञान) सामर्थ्य को ऐसे ही सिद्धि मानता है, जैसे कि जन्म से दरिद्र रत्तीभर स्वर्ण को स्वर्ण का भार (मनों) समझने लगता है और अपने आपको कृत-कृत्य मान कर व्यवसाय आदि से प्रमाद कर लेता है। परन्तु समाहित चित्त वाले को इन सिद्धियों से उपरत होना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसका लक्ष्य त्रिविध तापों की शान्तिरूप परम पुरुषार्थ है। अतः परमलक्ष्य की विरोधी सिद्धियों में वह कैसे रम सकता है।

उपर्युक्त प्रातिभ आदि सिद्धियां समाधि की वृद्धि में विघ्न हैं, क्योंकि हर्ष, विस्मय, प्रमाद आदि के कारण समाधि शिथिल हो जाती है। व्यवहाररूप व्युत्थान दशा में विशेष फल प्राप्ति का हेतु होने से सिद्धियां कहलाती हैं। भोजवृत्ति ३, ३७

कैवल्य साधन (आत्म-संयम) में प्रवृत्त होने पर, योगी को सिद्धिरूपी विघ्न उपस्थित होने पर, उस विघ्न-निवृत्ति का उपाय सूत्रकार इस (३,५१) सूत्र द्वारा बताते हैं:—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥ योग ३,५१

दिव्य लोकों के अधिपतियों के आदर सत्कार पूर्वक निमन्त्रण करने पर तथा अपने २ लोकों के दिव्य रमणीक भोग समर्पण करने पर, उन भोगादियों में आसक्तिवश, उनको ग्रहण नहीं करना चाहिए। और दोषदृष्टि से उन भोगों का त्याग करके भी, इस त्याग के अपने महत्त्व को देख कर विस्मित नहीं होना चाहिए। अर्थात् त्याग मात्र का भी इस प्रकार का अभिमान भी नहीं करना चाहिए कि इतने महान् ऐश्वर्य को जो मुझे अनायास ही प्राप्त होता था मैंने इसे त्याग दिया है। मैं इन में आसक्त नहीं हुआ हूं। क्योंकि इस अभिमान युक्त त्याग से अनिष्ट (जन्म-मरणरूपी संसार-चक्र) का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। त्याग में महत्त्व समझना भी आसक्ति का ही गुप्त रूप है।

व्यास भाष्य का अर्थ:—योगियों के चार भेद हैं:—(१) प्रथमकल्पिक—प्रवृत्त-मात्रज्योति—जिसने पर चित्तादि-विषयक ज्योति—ज्ञान—प्राप्त नहीं किया, अभी केवल तत्साधन में प्रवृत्त हुआ है (२) मधुभूमिक—ऋतंभराप्रज्ञ—जिसने संयम विषय का ज्ञान—ज्योति—समाधिप्रज्ञा को प्राप्त कर लिया है, परन्तु अभी इनसे उपरत नहीं हुआ, भूतेन्द्रियों को विजय नहीं किया, यद्यपि इनको विजय करना चाहता है। समाधि की यह आरंभिक दशा है। (३) प्रज्ञाज्योति—भूतेन्द्रियजयी-जिसने समाधि-प्रज्ञा दृढ होने से भूतेन्द्रियों को विजय कर लिया है। जिसने संयम द्वारा जाने हुए तथा जानने योग्य पदार्थों के ज्ञान को प्राप्त कर लिया है। यौगिक सम्पत्ति की रक्षा करने में जो समर्थ है। जो उपयुक्त साधन सम्पन्न है। (४) अतिक्रान्तभावनीय—जिसने योग का चरमफल सप्तविध प्रान्त-भूमिप्रज्ञा (विवेक ख्याति की पराकाष्ठा द्वारा) प्राप्त कर लिया है। जो गुण मात्र के बन्धन से मुक्त हो चुका है। जिसका एक मात्र लक्ष्य उपयुक्त दृढ आत्म-ज्ञान द्वारा असम्प्रज्ञात—निरोधाभ्यास—से चित्त का मूल कारण में लीन करना ही शेष है।

(१) प्रथम कक्षा में तो योग-साधना का आरंभ मात्र हुआ है, अभी संयम सिद्ध ही नहीं हुआ। (२) दूसरी में संयम सिद्ध है परन्तु अभी संयम-फल से उपरति नहीं। (३) तीसरी में अनात्म-संयमफल से उपराम भूतेन्द्रियों को वितर्कसिद्धि द्वारा जीत लिया है, परन्तु अभी गुणमात्र के व्यवहार को नहीं जीता। (४) चतुर्थ में योग की पराकाष्ठा है, जहां योगी ने योग के परम फल को प्राप्त कर लिया है। कक्षा ३ तथा ४ में इन्द्रियविजय आदि के द्वारा देवताओं के प्रलोभन दिव्य भोगों से ऊपर उठ चुके हैं। इसलिए देवता अपने आप को उनसे अत्यन्त निकृष्ट समझते हुए, उनको प्रलोभन नहीं देते (या नहीं दे सकते)। सामर्थ्य तथा प्रभाव के कारण वे प्रथम कक्षा को अत्यन्त उपेक्षणीय समझते हैं। शेष २य कक्षा मधुमती भूमि के साधक की सत्त्व (चित्त) शुद्धि को देखते हुए दिव्य लोकाधिपति देवता

उनको निमन्त्रित करते हैं:—"आओ यहां निवास करो" ये भोग वाञ्छनीय हैं, यह कन्या अति सुन्दर है, यह रसायन जरा-मृत्यु का निवारण करती है, यह आकाशचारी यान है, यह कल्प (मनोकामना पूर्ण करने वाला) वृक्ष है, यह पवित्र मन्दाकिनी नदी है, ये सिद्ध और महर्षि हैं, ये सुन्दर आज्ञाकारिणी अप्सराएं हैं, ये दिव्य श्रोत्र तथा चक्षु हैं, यह वज्र के समान काया है, ये सब दिव्य पदार्थ अपने उत्तम गुणों द्वारा आप ने प्राप्त किये हैं। कृपया इन्हें ग्रहण करें, यह देवताओं का अक्षय, अजर, अमर तथा प्रिय स्थान है।

इस प्रकार निमन्त्रित होने पर साधक इन प्रलोभनों से बचने के लिए आसक्ति के दोषों की इस प्रकार भावना करे:—"मैं संसार के अंगारों (अग्नि) में चिरकाल से पक रहा हूं और जन्म-मरणरूपी अंधकार तथा दुःखमय संसार में भटक रहा हूं। इन महान् दुःखों से त्रस्त हो कर किसी पुण्य प्रताप से अथवा भगवत्कृपा से अविद्या आदि क्लेश रूप अंधकार के नाश करने वाला योगप्रदीप मैंने प्राप्त किया है। ये दिव्यभोग तृष्णा के कारण, विषय रूपी आंधी हैं, मैं इस प्रकार के यौगिक प्रकाश को प्राप्त हूं, अतः यह विषयरूपी मृगतृष्णा अब मेरी वञ्चना कैसे कर सकती है कि मैं पुनः अपने आप को संसार-अग्नि का इंधन बना दूं। भगवान् हमारी इन स्वप्न के समान विषयों से, जिनकी याचना करने वाले दया के पात्र हैं, रक्षा करें"। ऐसी दृढ बुद्धि से पुनः आत्मसमाधि-अभ्यास में तीव्रता से प्रवृत्त हो जाये।

इन दिव्य प्रलोभनों में संग (आसक्ति) के वशीभूत न होने के पश्चात् निज महत्त्व पर ऐसा विस्मय (अभिमान आदि) भी न करे कि देवतागण भी मुझ से प्रार्थना करते हैं। क्योंकि इस अभिमान से अपनी स्थिति को स्थिर, सम्यक् निश्चिन्त समझने के कारण यह भावना उसकी दब जायगी कि मृत्यु ने मुझे केशों से पकड़ा हुआ है। ऐसी दशा में वह प्रमाद, जो साधक के दोषरूपी छिद्र की ताक में नित्य प्रयत्नशील रहता है, इस अभिमान आदि विवर (छिद्र) को पाकर अविद्या आदि क्लेशों को पुनः उभार देता है, जिस से पुनः महान् अनिष्ट—हानि—का अवसर उपस्थित हो जाता है।

उपर्युक्त विधि से आसक्ति तथा विस्मय, अभिमान आदि के न करने से संयम का अभ्यास दृढ होता है और जिस पदार्थ की योगी भावना करता है, वह प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) होता है। (योगदर्शन व्यासभाष्य ३, ५१)

इस प्रकार सूत्रकार इन सिद्धियों में आकृष्ट न होने के लिए कितनी मर्म-भेदी चेतावनी दिलाते हैं, कि इनका ग्रहण तो दूर रहा, इनको त्याग कर भी यदि अपनी महिमा का मिथ्या, अज्ञानकृत अभिमान तथा विस्मय हो जाए तो इतना अभिमान मात्र ही योगी के महान् प्रयत्न को निष्फल कर देता है। क्योंकि यह मिथ्या अनात्माभिमान ही संसार बंधन का मूल है। यदि यह शेष रह गया, तो मानना चाहिए कि संसार-पाश अभी दृढ ही है। इन सिद्धियों को जो ग्रहण करता है, उस में अनात्माभिमान तो स्पष्ट ही है, परन्तु त्याग भी तभी सफल होता है, जब त्याग का अभिमान उत्पन्न न हो। जो व्यक्ति इन सिद्धियों को त्याग कर अभिमान करता है, वह अपने इस आचरण से सिद्ध करता है कि उसके मन में इन सिद्धियों के प्रति महत्त्व

है, क्योंकि अभिमान किसी महिमा का ही होता है। अपवित्रता, मलिनता तथा संसार-बंधन के त्याग का क्या अभिमान हो सकता है? इसलिए इन सिद्धियों के महत्त्व के विषय में यह अभिमान भी भ्रान्ति का सूचक है। इस अनात्म-मोह तथा संसार के मूल कारण अज्ञान में क्या भेद है? इसीलिए कहा है:—

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज॥ महाभारत

धर्म अधर्म तथा सत्यानृत दोनों को छोड़ दो, इन द्वन्द्वों से भी पार हो जाओ, फिर जिस से यह छोड़ा है, उस त्यागाभिमान को भी छोड़ दो।

पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि का परम उपाय विवेक-ख्याति—प्रज्ञा—है। इसके बिना जो असम्प्रज्ञात समाधि लाभ होती है, उसे हेय कहा गया है। क्योंकि मनुष्य का जब उस से उत्थान होता है, तो वह पुनः दुःख-मय संसार-प्रवाह में पतित हो जाता है। साधक अवस्था में यह सम्प्रज्ञात द्वारा विवेक-ख्याति रूपी सिद्धि ही उपादेय कही गयी है। परन्तु इस बोध-स्वरूपवृत्ति में भी यदि साधक को राग हो जाए, तो भी वह स्वरूप-स्थिति को लाभ नहीं कर सकता। इसी लिए योगदर्शन सूत्र (३,५०) "तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्"—में उस विवेक-ख्याति में दोष के निरीक्षण करने से चित्त की उपरामता सम्पादन का आदेश किया गया है। यदि परमस्वरूप की तुलना में यह बोधस्वरूप सिद्धि भी दोष से पूर्ण है, तो संयम द्वारा या अन्य किसी साधन द्वारा प्राप्त होने वाली अणिमादि कल्पनामय मिथ्या सिद्धियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? वेदान्त के ग्रन्थों में भी इसी प्रकार सविकल्प (सम्प्रज्ञात) समाधि के रसास्वादन को विघ्नरूप से वर्णन किया गया है। अर्थात् इस को भी लय, विक्षेप, कषाय दोषों के समान ही वर्जनीय ठहराया गया है। इन के छोड़े बिना निर्विकल्प अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती।

१६. उपर्युक्त विचार का निष्कर्ष

उपर्युक्त विचार का सार यह है कि योग तथा शास्त्र-ज्ञान दोनों ही ब्रह्मविद्या के परमोपयोगी साधन हैं। शास्त्र में भिन्न २ प्रकरणों में जो इनकी प्रशंसा की गयी है, वह उचित ही है। इस से या अन्य किसी कारण से भ्रान्ति में पड़ कर किसी एक साधन का त्याग अथवा केवल दूसरे का अवलम्बन नहीं करना चाहिए। ये दोनों परस्पर सहकारी हैं। दोनों प्रशंसनीय तथा उपादेय हैं। योग द्वारा सूक्ष्म-बुद्धि हुए बिना शास्त्र-रहस्य का असंदिग्ध तथा याथातथ्य बोध सामान्यतया असम्भव होता है। कोरे वाचक ज्ञान से परमरस की अनुभूति, परमतृप्ति तथा अलम्प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए ऐसी स्थिति के विषय में वास्तविक ज्ञान ही असम्भव है। अत एव अनेक मिथ्या कल्पनाओं के पंक में निमज्जन होने के अतिरिक्त इस अनधिकार चेष्टा, दुराग्रह तथा शास्त्रपाण्डित्य के मिथ्या अभिमान से कुछ उत्तम फल की सिद्धि नहीं होती। यद्यपि योग—निदिध्यासन—के उपयुक्त अनुष्ठान द्वारा परम हित-साधन करना ही श्रेष्ठ है, तथापि योग भी बिना शास्त्ररूपी परमार्थ चक्षु के, अंधे के समान

भरसक प्रयत्न करने पर भी, सफलमनोरथ नहीं हो सकता। इसलिए योगाभ्यासियों को भी श्रुति-श्रद्धा से हीन योगमात्र का आश्रय न लेकर श्रुति-प्रतिपादित लक्ष्य की सिद्धि के लिए श्रुति-विहित योग का ही अनुसरण करना चाहिए। इसके लिए वेदोपनिषद् आदि शास्त्रों का ज्ञान अनिवार्य है। पुरुषों की परिमित बुद्धियों से निकली हुई संकुचित योगप्रणालियों का अनुसरण नहीं करना चाहिए, और न ही ऐसी प्रणालियों तथा सम्प्रदायों का प्रचार ही करना चाहिए। क्योंकि इस से अपना तथा दूसरों का महान् अनर्थ होता है। हठयोग आदि योगों का अनुष्ठान, विना किसी निपुण आचार्य की सहायता के शरीर तथा मन के अनेक दुर्निवार्य क्लेशों का कारण है, जिससे आध्यात्मिक लाभ के स्थान पर प्राणों का भी भय है। अतः इस से बचना चाहिए। परन्तु ये सब भिन्न भिन्न मार्ग ईश्वर के निर्दोष ज्ञान का साक्षात् प्रसाद हैं, अथवा महान् पुरुषों को भगवत्कृपा से इन का निर्देश—आविष्कार—हुआ है। ये किसी मानवीय बुद्धि की जोड़ तोड़ का परिणाम नहीं हैं। इनका अनुष्ठान शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि में दिव्य परिवर्तन कर देता है। अतः इन में से किसी का भी निरादर नहीं करना चाहिए। हां ! षट्क्रिया आदि किन्हीं सामान्य अंगों को ही योग का सर्वस्व समझना अथवा देश और काल की मर्यादा से रहित इनका उपयोग करना अयुक्त है। शास्त्र-विरुद्ध किसी मार्ग का अनुष्ठान सिद्धि का कारण नहीं, अपि तु अश्रद्धा का ही कारण होता है। इसलिए अति का सर्वत्र त्याग करना चाहिए।

सर्वोत्तम, सरल, परम समर्थवान् साधन 'ओम्' आदि नाम का अर्थ-भावनासहित जाप है। जो कि श्रद्धा तथा अन्य सत्य आदि नियमों के पालन सहित निरन्तर अनुष्ठान किया हुआ अवश्य अपने दिव्य प्रभाव को प्रकट करता है। इस अजपा जाप का सब युवा, वृद्ध, नर-नारी अनुष्ठान कर सकते हैं। इसमें विशेष भय नहीं। अनन्य श्रद्धा द्वारा ईश्वर-प्रसाद से सब विघ्न दूर हो कर इस साधन से अपेक्षाकृत अल्पकाल में ही परम लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। यह संसार-विशूचिका का महान् औषध है। हां ! सत्यादि व्यवहार का अनुपान लाभकारी है। परन्तु सामान्य व्यवहार को ही परमार्थ-सिद्धि के लिए पर्याप्त समझना भूल है। श्रद्धा तथा शुद्ध भावना से किया गया यह जाप सम्पूर्ण पाप तथा भोग-वासना को दग्ध कर सकता है। हां ! मनुष्य का उद्देश्य सत्य होना चाहिए। यदि केवल दम्भ के लिए ही इसकी साधना की जाए तो साधन का क्या दोष ?

सिद्धियों का परमलक्ष्य के साथ कुछ सम्बंध नहीं। अनात्ममोह तथा शक्ति-लालसा के रूपवाली ये सिद्धियां योग मार्ग में महान् प्रतिबन्धक हैं। अतः इनसे सावधान रहना चाहिए। इनके त्याग का भी अभिमान नहीं करना चाहिए। यह अभिमान भी किये कराये सब कुछ को मिट्टी में मिला देता है। यदि विवेक-ख्याति तथा सविकल्प समाधि का रस भी लय आदि प्रतिबन्धकों के समान विक्षेप और त्याज्य है, तो उपर्युक्त सिद्धियों की क्या गणना है ? इनकी विचित्रता के मोह से बचना चाहिए। इस प्रकार के परवैराग्य द्वारा ही स्वरूपस्थिति का लाभ हो सकता है, अन्यथा कदापि नहीं। इसके दीर्घ काल तक निरन्तर अभ्यास से ही ऐसी दृढ भूमि हो जाती है कि

फिर निरोध तथा व्युत्थान में कुछ अन्तर नहीं रहता। सर्वदा एकरस स्थिति बनी रहती है। जहां कहीं वेदान्त शास्त्रों में योग अथवा समाधि के निरादर के वचन आते हैं, वे ऐसे प्रौढ योग अथवा अनुभूति की परम निरंकुश तृप्ति की दशा की तुलना में हैं। अथवा उस मिथ्यामति के विचालन के लिए हैं, जो बुद्धि के व्युत्थान अथवा समाहित दशा से निज आत्म-तत्त्व को प्रभावित मान रही है। उन वचनों का तात्पर्य साधन रूप से योग की निन्दा का नहीं है। अतः योगादि अन्य साधनों का उचित उपयोग ब्रह्मविद्या सम्बन्ध में शास्त्रसम्मत है।

तीसरा अध्याय समाप्त।

चौथा अध्याय

श्रवण

१. पूर्व प्रकरणों में श्रवणसम्बन्धी विचार, श्रुति का महत्त्व तथा उपयोग

बृहदारण्यक उपनिषद् (४,५,६) में—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः"—परमइष्ट, प्रियतम, आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन—इन तीन उपायों का वर्णन किया गया है। जिनमें सबसे पहले श्रवण और अन्त में निदिध्यासन को स्थान दिया गया है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यहां पर यह क्रम क्यों रखा गया है, और इस ग्रन्थ में हमने पहले निदिध्यासन, तदनन्तर श्रवण और अन्त में मनन को रख कर युक्ति तथा श्रुति-प्रतिपादित क्रम को उलट क्यों दिया है ? परन्तु एक प्रकार से यह आक्षेप निर्मूल है, क्योंकि इस अद्वितीय भूमा, अखण्ड, आनन्द-स्वरूप आत्म-तत्त्व की मानवीय आकांक्षा के सम्बन्ध में प्रथम खण्ड के दूसरे अध्याय में प्रतिपादित किया गया है कि श्रुति ही इस विषय में एक मात्र तथा अपूर्व प्रमाण है। उसी स्थान में यह भी निरूपण करदिया गया है कि इस तत्त्व के विषय में स्वतन्त्र प्रत्यक्ष प्रमाण असमर्थ है, और अनुमान केवल अनुग्राहक मात्र है। क्योंकि इस विषय में श्रुति ही एक मात्र आधार है। अतः उसके विना मनुष्य इस मार्ग में एक पग भी नहीं चल सकता। परन्तु यह युग ऐसा है कि जनसाधारण श्रुति में यत्किञ्चित् भी श्रद्धा नहीं रखता। परमतत्त्व के विषय में उदासीनता व्यापक है। अनुमान आदि के आधार पर परमतत्त्व को आजकल अस्वीकार किया जाता है और स्वीकार करके भी कई लोग उसे अज्ञेय मान लेते हैं।

स्वतन्त्र बुद्धि के आधार पर जब परमतत्त्व की खोज की जाती है, तब उसका इस प्रकार का दुष्परिमाण होना अनिवार्य है। इन सब कारणों से पहले यह प्रतिपादन किया गया है कि श्रुति परमात्मविषय में अपूर्व प्रमाण है। इस प्रकार रूपान्तर से श्रवण का आरम्भ प्रथम खण्ड के दूसरे अध्याय से ही हो चुका है। और श्रुति की ब्रह्मविद्या में उपयोगिता, अपूर्वता तथा अनिवार्य आवश्यकता का कर्म, वैराग्य तथा योगादि अनेक प्रकरणों में यथावसर समय समय पर निरूपण किया गया है। उन्हीं प्रकरणों में यह भी सिद्ध किया गया है कि कर्म, शास्त्र, वैराग्य, अभ्यास आदि मोक्ष के साधन श्रुति प्रमाण के विना कितने अधूरे और अपूर्ण हैं। लौकिक सामान्य मानवीय दृष्टि के आधार पर निर्मित पाश्चात्य सामान्य कर्मशास्त्र कितना संकुचित, अपूर्ण और युक्ति-विरुद्ध है। यह तो मानवसमाज की लौकिक समस्या को हल करने में भी असमर्थ है। श्रुति-प्रतिपादित ईश्वर, परलोक, जीव, कर्म-फल आदि सम्बन्धी सिद्धान्त ही मानवीय बुद्धि को सन्तुष्ट कर सकने में समर्थ हैं। भौतिक विज्ञान से भ्रान्त बुद्धि इनको अभी अपनाने में असमर्थ है, परन्तु कालान्तर में अवश्य उसे श्रुतिमार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। क्योंकि भौतिक विज्ञान का झुकाव भी दिन प्रतिदिन इन श्रुतिसम्मत सिद्धान्तों की ओर हो रहा है। वैराग्य आदि साधन श्रुति के विना अपूर्ण हैं, वे मनुष्य

को पूर्णता की ओर नहीं ले जा सकते। संसार के चक्र का मूल कारण तृष्णा नहीं है। तृष्णा का मूलोच्छेद केवल नित्य तथा अनित्य आदि दोषों के विचार से ही सकना भी संभव नहीं है। यदि यह मान भी लें कि इस स्वतन्त्र नित्य तथा अनित्य के विचारादि से मनुष्य वैराग्य लाभ कर सकता है और तृष्णा को विजय कर सकता है, तो भी यह स्वीकार करना होगा कि इन साधनों से तृष्णा के बीज का नाश नहीं हो सकता। क्योंकि इसका आधार आत्मा का अज्ञान है, जो कि ज्ञान से ही नष्ट हो सकता है। तृष्णा को मापने वाला, स्वीकार तथा अस्वीकार करने वाला, इसके गमनागमन का प्रकाश करने वाला अवश्य कोई मानना पड़ेगा। जिसके याथातथ्य ज्ञान के बिना केवल तृष्णा की निवृत्ति अथवा वैराग्य से संसार-पाश का उच्छेद हो सकना संभव नहीं है। इसलिए आत्म-ज्ञान तथा वैराग्य के वास्तविक उपयोग तथा स्वरूप आदि के लिए श्रुति की शरण लेना अनिवार्य है। इसी प्रकार पूर्व अध्याय में यह दर्शाया गया है कि योगरूपी बल भी श्रुतिरूपी चक्षु के बिना इस जगत् रूपी वन में भटकाने का कारण ही बनता है, छुड़ाने का नहीं। इस प्रकार अनेक युक्तियों से श्रुति के महत्त्व तथा उपयोग को कई प्रसंगों में प्रतिपादित किया गया है। और यही निर्णय किया गया है कि श्रुति अथवा श्रवण ही ब्रह्मविद्या का प्रधान अंग है, क्योंकि यही अन्य सब साधनों का उद्‌गम स्थान है और इसके पश्चात् ही सब साधनों तथा उपायों में प्रवृत्ति हो सकती है। क्योंकि श्रुति ही अध्यात्म विषय में परम प्रमाण है, अतः यह आवश्यक है कि सबसे पहले साधन आदि के विषय में उस श्रुति के तात्पर्य का निर्णय कर लिया जावे।

२. श्रवण का तात्पर्य

इस श्रुति के तात्पर्य के निर्णय करने की प्रक्रिया का नाम श्रवण है। इसका अभिप्राय ब्रह्मसूत्र में मूल रूप से निरूपण हुआ है:—

तत्तु समन्वयात्। १,१,४

इस ब्रह्म या परम-आत्म-तत्त्व के साक्षात् अथवा परम्परा से निरूपण में ही सम्पूर्ण श्रुति का परम तात्पर्य है। श्रुति ही परम इष्ट के साधन ब्रह्मज्ञान में अपूर्व प्रमाण है। अन्य पूर्वोक्त सब साधन इसके सहकारी हैं। यद्यपि उनके बिना भी निर्वाह नहीं हो सकता, तो भी मुख्यता तो श्रुति की ही है। अतः साधन-चतुष्टय-सम्पन्न ब्रह्मविद्या के अधिकारी को सब से पहले श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में नम्रता पूर्वक, विधिवत् उपस्थित हो कर उचित सेवा तथा श्रद्धा के द्वारा गुरु का प्रसाद प्राप्त करके, उनसे अपनी मनोभावना को निवेदन कर के श्रुति के तात्पर्य का श्रवण करना चाहिए। क्योंकि जैसा पहले भी कहा गया है कि परमध्येय तथा उसके साधनों के सम्बन्ध में निर्दोष, निर्भ्रान्त तथा परम प्रमाण श्रुति ही है। अतः श्रुति-प्रतिपादित, निदिध्यासन प्रभृति योग-साधनों से सिद्धि हो सकती है। अन्य भ्रान्त तथा अपूर्ण योगादि साधनों से कुछ सिद्धि हो भी जाए, परन्तु उनसे परमलक्ष्य की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। इसलिए परम-श्रद्धा पूर्वक श्रुति का मन्थन परमावश्यक है।

कई प्राचीन आचार्यों ने उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों के तात्पर्य का प्रकाश करने वाले सविस्तर भाष्य किये हैं। इन भाष्यों में तथा इसी विषय पर अन्य वेदोक्त

दर्शनकारों ने स्व-रचित दर्शनों में श्रुत्यनुकूल शैली पर उपर्युक्त गम्भीर समस्याओं का क्रमबद्ध निरूपण किया है। इन सब का तात्पर्य क्या एक है? अथवा परस्पर भिन्न है? यदि इन में भेद है, तो कहां भेद है, और वह भेद क्या है, और क्यों है? क्या ये सब किसी प्रकार से तथ्य सिद्ध हो सकते हैं? अथवा इन में से कौन सा किस विषय में सत्य है और क्यों प्रमाण है? इन सम्पूर्ण विषयों का तुलनात्मक विचार करना इस ग्रन्थ के लिए अति विस्तृत है। इन सब विषयों को स्पष्ट करने के लिए तो पृथक् एक ग्रन्थ ही उपयुक्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त इन सब समस्याओं का विवेचन आदि करना इस ग्रन्थ का प्रयोजन भी नहीं है। इस ग्रन्थ के निर्माण का उद्देश्य तथा तात्पर्य यही है कि ब्रह्मविद्या के भिन्न २ उपयोगी अंगों के परस्पर सहयोग की आवश्यकता दिखाई जाए। क्योंकि इस समय ये सब आवश्यक अंग क्रियात्मक रूप से एक दूसरे से पृथक् तथा भिन्न हो गये हैं। अतः यहां पर तो श्रवण का क्या उचित उपयोग हो सकता है, इसी विषय में विचार करना है।

३. श्रवण की सफलता के लिए उपयोगी चेतावनी।

योग तथा उपनिषद् आदि के तात्पर्य समझने में प्राचीन भाष्यों का उपयोग

श्रवण अर्थात् श्रुति के तात्पर्य के निर्णय करने के लिए विचार तथा परम श्रद्धा अनिवार्य है। विचार के विना तो कुछ निर्णय नहीं हो सकता। जिस वचन की जो भी व्याख्या हो अथवा जो भी भाव उसका तुरन्त फुरे, विना विचार किये उसी को परम सत्य तात्पर्य मान लेना भी उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार के अर्थ के सम्बन्ध में कोई अनुष्ठान या धारणा नहीं हो सकती और इस से कुछ फल भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतः विचार की कौन बुद्धिमान् अवहेलना कर सकता है? वर्तमान युग में इस भ्रान्ति की सम्भावना कम है। परन्तु विचार निराधार नहीं हुआ करता। आजकल प्रायः बुद्धि स्वातन्त्र्य का युग है, और बुद्धि-स्वातन्त्र्य किसी रूप में और किसी अंश में आदरणीय भी है, परन्तु इसका दुरुपयोग भी हो सकता है। कई लोग योगादि प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थों की अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से व्याख्या करने को ही श्रेष्ठ समझते हैं और इसका अनुसरण करते हुए स्वयं इसका मनन, व्याख्यान अथवा प्रचार करते हैं। यह सत्य है कि लकीर के फकीर बनना भी बुद्धियुक्त नहीं। प्राचीन काल में प्रैस नहीं था। इन ग्रन्थों का प्रचार मौखिक होता था, अथवा हाथ से शास्त्र लिखे जाते थे। अतः वर्तमान काल में इन शास्त्रों के सम्बन्ध में कुछ अशुद्धता का अनुमान संभव है। परन्तु ऐसी अवस्थाओं में जिस विधि तथा सुयोग्यता से इनकी रक्षा हुई तथा निरवच्छिन्न धारा चलती आ रही है, यह सब परिश्रम अति प्रशंसनीय है, और इन में अशुद्धि की अपेक्षा शुद्धि की संभावना अधिक है। परन्तु अति प्राचीन काल से चला आरहा यह प्रवाह हमारे स्वतन्त्र विचार का समर्थन नहीं करता, अपि तु इस शैली का निषेध करता है, क्योंकि जिन शास्त्रों की रचना इतने प्राचीन समय में हुई, उस समय की संस्कृति, विचार-शैली, आदर्श तथा योग्यता आजकल से अत्यन्त भिन्न थी। इसलिए इस समय की स्वतन्त्र बुद्धि इन शास्त्रों के तात्पर्य को समझने में नितान्त असमर्थ है। प्राचीन ऋषि मुनियों के भाष्य ही इस विषय में यथासंभव

अधिक श्रेष्ठ प्रमाण हो सकते हैं। क्योंकि वे ऋषि मुनि तत्कालीन संस्कृति, विचार-धारा तथा आदर्श में पले थे। गुरु-परम्परा से उन्होंने शास्त्रों के गुप्त रहस्य को ग्रहण किया था, तथा सूक्ष्म तत्त्वों के अन्वेषण करने की यौगिक शैली से सम्पन्न थे। अतः उनके भाष्यों के विना उनके वचनों के तत्त्व को समझना कठिन है। नवीन ढंग की कल्पनाओं के आधार पर, केवल शब्द-पाण्डित्य तथा भौतिक विज्ञान के बल पर अर्थ निकालने में अधिक भ्रान्ति की सम्भावना है।

दिल्ली कई बार बनी तथा उजड़ी है—पतन और उत्थान का चक्कर निरन्तर घूमता रहता है। यह जो निश्चय है कि संसार आरम्भ से लेकर क्रमशः उन्नति की ओर ही जा रहा है, निर्मूल है। यदि किसी एक क्षेत्र में मान भी लिया जाए, जैसे कि भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में पिछली दो शताब्दियों में विशेष विकास हुआ दीखता है, परन्तु यह सब क्षेत्रों में सत्य नहीं हो सकता। अपितु निष्पक्ष विचार करने वाला प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करेगा और इस बात का समर्थन करेगा कि गत महायुद्ध से पूर्वकाल की अपेक्षा वर्तमान काल में मनुष्यों का अतिशोचनीय आध्यात्मिक पतन हुआ है। इस समय यह दशा हो गयी है कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे पर विश्वास नहीं कर सकता। अपने शब्दों की हेरा-फेरी से मनोभाव को उलटना-पलटना साधारण बात बन गयी है। सत्य, न्याय, पर-हित, शरणागत-रक्षा आदि दिव्य भावों के वाचक शब्द कोषों में ही देखने को मिलते हैं, या इनका उपयोग दूसरों को ठगने में होता है। प्राचीन समय में मतान्धता के कारण जो घोर युद्ध हुए, उनकी भरसक निन्दा करते हुए भी, इस समय के देश, जाति के भयानक पक्षपात-पूर्ण जनून को, जो उन मजहबी जनूनों से भी अधिक विनाशक युद्धों का कारण बन रहा है, आदर्श माना जाता है। इन भौतिक विषयों में उन्मत्त जगत् के इस काल में आध्यात्मिक आदर्श की यह उक्ति कैसे समझ में आसकती है:—"आत्मार्थं त्यजेत् सर्वम्" यह ऐसा काल आया है कि इसमें उच्च आध्यात्मिक भावों की हंसी करने में ही महत्त्व समझा जाने लगा है। उस महापुरुष की, जो शत्रु-मित्र तथा सुख-दुःख में समभाव रखता है, तुलना उस चूहे से करने में आजकल तनिक लज्जा अनुभव नहीं की जाती, जिस चूहे की ग्रीवा की एक नाडी काट देने से उसकी स्मृतिशक्ति का लोप हो जाता है और वह बिल्ली से पूर्ववत् भय नहीं मानता, अपितु उसके सामने चला जाता है। आध्यात्मिक अधःपतन का यह थोड़ा सा दिग्दर्शन इसलिए कराया गया है कि इस सिद्धान्त का, कि नवीनता ही सर्वत्र सत्य है तथा जगत् निरन्तर उन्नति की ओर ही चला जा रहा है, संसार का इतिहास और इस समय का प्रत्यक्ष अनुभव समर्थन नहीं करता। यह संभव है कि इस से पूर्व अथवा वर्तमान कल्प के आरंभ में भी किन्हीं क्षेत्रों में आज की अपेक्षा विशेष उन्नति रही हो। इस आज की नवीनता को ही सत्य तथा सब कुछ मानने वाले भ्रान्ति-युक्त विचारों के आधार पर प्राचीन शास्त्रों के अर्थ स्वतन्त्र बुद्धि से करना और प्राचीन आदर्शों का तिरस्कार करना युक्तिसंगत नहीं है, इससे कुछ फल नहीं निकलता।

४. अनन्य श्रद्धा तथा अविचल धैर्य की आवश्यकता

इस प्रकरण में श्रद्धा की आवश्यकता का उल्लेख करने की आवश्यकता इसलिए हुई है, क्योंकि जब हम सामान्यतया आध्यात्मिक लक्ष्य से प्रेरित हो कर प्राचीन

शास्त्रों का अवलोकन कुछ श्रद्धा से करते हैं, तो वह हमारी श्रद्धा भी अति मलिन तथा नवयुग के प्रभाव से मिश्रित होती है। हम इसलिए प्राचीन विधि से शास्त्रों का श्रवण, मनन नहीं करते। गुरु-परम्परा की शृङ्खला प्रायः अस्त-व्यस्त हो चुकी है। श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु मिलना कठिन है। हम शास्त्र के भाव को नवीन शैली से ही समझने की चेष्टा करते हैं, इसलिए उन अनेक बातों को झट से कल्पना कह देते हैं, जो हमारी समझ में नहीं आतीं। यदि प्राचीन शास्त्रों के ऋषि-मुनियों के किये हुए भाष्यों के रूपान्तर या भाषान्तर हमें मिलते हैं, तो वह भी इस घातक विष से मिश्रित होते हैं। एक प्रसिद्ध महात्मा, जो संस्कृत के विद्वान् भी हैं, कहते थे कि वे योगदर्शन पर एक टीका लिख रहे हैं। उन्होंने शिक्षित सज्जनों की उपस्थिति में किसी प्रकरण में कहा कि 'मन्त्र' का अर्थ विचार है। अतः कई प्राचीन आविष्कार विचार के ही फल हैं। यह सुन कर मैं दंग रह गया कि योगदर्शन पर भाष्य करने वाले प्राचीन ढंग के महात्मा भी मन्त्र शब्द का इस प्रकार से अर्थ करते हैं। मन्त्र शब्द का अर्थ विचार भी हो सकता है, परन्तु इतना संकुचित अर्थ, जो शास्त्र के प्रतिकूल ही प्रतीत होता है, उन शास्त्रों पर लगाना, जिनमें मन्त्र का अर्थ उनकी शैली के अनुसार स्पष्ट ही विचार नहीं है, सर्वथा अयुक्त है। इस प्रकार हम योगादि साधनों की दीक्षा लेने पर भी झट ऐसे प्राचीन शास्त्रों के अर्थ नवीन कल्पना के आधार पर करते हैं। और यदि कोई बात हमारी समझ में नहीं आती तो तुरन्त उसे भ्रान्त कह देते हैं। हमें अपनी अल्प बुद्धि तथा क्षुद्र अनुभव का मिथ्या अभिमान है। शास्त्रों के विषय में ऐसा विचार आध्यात्मिक उन्नति में बहुत घातक है। श्री ज्ञानेश्वर जी महाराज ने अपने गीता भाष्य के छठे अध्याय में कुण्डलिनी जागरण के प्रभाव पर विस्तृत व्याख्यान लिखा है। शब्दपाण्डित्य अथवा क्षुद्र अनुभव के आधार पर झट इन सब को कल्पनामय कहा जा सकता है। संभव हो सकता है कि ऐसे स्थलों में कुछ कल्पना से भी काम लिया गया हो, परन्तु अनुभवी कहते हैं कि ऐसे विषयों में अधिक कल्पना नहीं होती। यद्यपि वाङ्मनसागोचर तत्त्वों के लौकिक वाणी से निरूपण करने पर कुछ कल्पना अनिवार्य है, परन्तु वहां तक कल्पना है और कौन सी बात सत्य है, यह निर्णय करना किसी ऐसे भाग्यवान् का ही काम है, जिसे पूर्व जन्म के पुण्य-विपाक के कारण दिव्य बुद्धि तथा अन्य उपयोगी साधन प्राप्त हुए हों और जिसने इनके दीर्घ सदुपयोग द्वारा अध्यात्म रहस्यों को अनुभव किया हो। मेरा नम्र निवेदन इतना ही है कि बहुत उदारभाव तथा श्रद्धा से शास्त्रों को प्राचीन भाष्यों के आधार पर समझने की चेष्टा करनी चाहिए और दीर्घकाल की साधना के अनन्तर उनके वास्तविक भाव का निर्णय करना उचित है। इतने पर भी यदि किसी भाष्यकार का अर्थ अपने अनुभव तथा युक्ति के आधार पर बुद्धि में न जंचे, तो झट उसे भ्रान्त नहीं कह देना चाहिए। यह अभिमान महाशत्रु है। यदि हम अपने अथक प्रयत्न को प्रमाद अथवा अभिमान के वश विफल हुआ देखना नहीं चाहते, तो प्राचीन ऋषि-मुनियों के चरणों में अनन्य-श्रद्धा से बैठना चाहिए। कुछ अयुक्त प्रतीत होने पर भी उसे झट रद्दी की टोकरी में फेंक देने से कुछ लाभ नहीं होगा। धैर्य से पुनः-पुनः उसके मनन आदि करने का अभ्यास बनाना चाहिए। आशा है, ऐसा करने से बहुधा ग्रन्थियां खुल जाएंगी। यदि किसी संकुचित पक्षपात-युक्त भावना से साधना का अनुष्ठान भी किया तो भी वास्तविक अनुभूति

का होना संभव नहीं है, या दीर्घकाल के पश्चात् भ्रान्ति का पता चलेगा तो समय तथा श्रम के व्यर्थ जाने का पश्चात्ताप होगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि बिना विचारे लकीर को ही पीटता चला जाए। अभिप्राय यह है कि दीर्घकाल तक विचार करने और अनुभव के बिना किसी प्राचीन लकीर को त्याग देना भी अच्छा नहीं है। उदार भाव तथा श्रद्धा-युक्त विचार से शास्त्रों का श्रवण तथा मनन करना चाहिए और साधना का अनुष्ठान करना चाहिए।

५. श्रवण के उपयोगी अन्य साधन

परम इष्ट के साधनभूत ज्ञान का विषय ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म तथा वाङ्मनसागोचर है। इस विषय में श्रुति ही अपूर्व प्रमाण है। इसीलिए ब्रह्म के विषय में कहा गया है—'औपनिषदं तत्त्वम्, नावेदवित् मनुते तं बृहन्तम्, नैषा तर्केण मतिरापनेया, शास्त्रयोनित्वात्'—इन विचारानुमोदित वचनों के आधार पर अनुभव तथा युक्ति-विरुद्ध महान प्रतिबंधक मिथ्या धारणाओं से वर्तमान युग के मनुष्यों को सचेत करने के लिए श्रुति के वास्तविक महत्त्व का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। और यह निश्चय किया है कि श्रुति का श्रवण तथा मनन अनन्य श्रद्धा, उदारभाव और अक्षुब्ध धैर्य से करना चाहिए, अन्यथा महान् परिश्रम के निष्फल हो जाने में कुछ सन्देह नहीं है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अन्य सहकारी साधनों के बिना भी श्रवण और मनन ज्ञान के सफल कारण हैं। यदि यह धारणा है तो, यह भी पहले प्रकार की विपरीत धारणा के समान ही श्रुतिविरुद्ध, अज्ञानाश्रित धारणा तथा चेष्टा है, जो कि ज्ञान के रास्ते में उसी प्रकार से प्रतिबंधक है। ऐसी मिथ्या तथा अनिष्ट धारणा का मूल भी मोहयुक्त प्रमाद ही है, जिस के कारण मनुष्य केवल शास्त्र-चर्या के आधार पर बिना अन्य किसी प्रकार के प्रयत्न तथा पुरुषार्थ के इतने महान् परम फल की दुराशा करता है। इस प्रकार के अयुक्त धारणा वाले व्यक्तियों को लक्ष्य करके उनकी चेतावनी के लिए भाष्यकार विवेकचूडामणि में लिखते हैं—

ऋणमोचनकर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः।
बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन॥ वि० चू० ५३

पुत्र आदि सम्बन्धी पिता को ऋण से मुक्त कर सकते हैं, परन्तु निज पुरुषार्थ के अतिरिक्त अन्य कोई भी संसार-बन्धन से नहीं छुड़ा सकता।

अविद्याकामकर्मादि पाशबन्धं विमोचितुम्।
कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि॥ ५७

बिना अपने (शास्त्रानुकूल) प्रयत्न के अविद्या, (तत्-जन्य) कामना और (तत्-जन्य) कर्म के (दृढ) पाश से शत कोटि कल्प (अनन्त काल में) में भी कौन छुड़ा सकता है ? अर्थात् अन्य कोई भी नहीं छुड़ा सकता।

वीणाया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादनसौष्ठवम्।
प्रजारञ्जनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते॥ ५९

वीणा के रूप सौन्दर्य तथा तन्त्री आदि अन्य गाने के यन्त्रों को उपयुक्त रीति से बजाने से मनुष्य समाज को प्रसन्न मात्र कर सकता है, उस से (लौकिक अथवा आध्यात्मिक) साम्राज्य प्राप्त नहीं हो सकता।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये।
स्वैरेव यत्नः कर्तव्यो रोगादाविव पण्डितैः ॥ ६८

इसलिए पण्डित (साधन और साध्य के रहस्य के ज्ञाता) को भवबंधन से मुक्ति के लिए, पूर्ण बल के साथ स्वयमेव यत्न करना चाहिए जैसे कि रोग आदि की निवृत्ति के लिए स्वयं ही औषधि का अनुपान सहित सेवन करना पड़ता है। औषधि के नामोच्चारणमात्र से अथवा अन्य किसी ऐसे प्रयत्न से कुछ लाभ नहीं हो सकता।

मुण्डकोपनिषद् ३,२,३ में वर्णित आत्मा की अनन्य जिज्ञासा रूप मुख्य, अनिवार्य, अन्तरंग साधन के अन्य सहकारी साधनों का अगले मंत्र में निर्देश है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ मुण्डकोप. ३,२,४

इस आत्म-तत्त्व को (आत्मनिष्ठाजनित) बल-वीर्य-उत्साह के बिना नहीं प्राप्त कर सकता और न (लौकिक पुण्य आदि में आसक्तिरूप) प्रमाद से, और न ही संन्यासरहित ज्ञान के अन्य उपाय श्रवण आदि से पा सकता है, परन्तु जो विद्वान् (सच्चा जिज्ञासु) उपर्युक्त उपाय (बल, अप्रमाद, संन्यासयुक्त श्रवणादि) से यत्न करता है उसका ही आत्मा ब्रह्मपद को प्राप्त करता है।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तदिति ॥ बृह० ४,४,२१.

धीर (बुद्धिमान्, साध्य-साधन-विवेकी) पुरुष शास्त्र तथा आचार्य से आत्म-विषयक (संशय आदि रहित) यथार्थ (परोक्ष) ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर साक्षात् करने के लिए (ब्रह्माकार वृत्तिप्रवाह) प्रज्ञा (निदिध्यासन) करे। केवल अनन्त शास्त्राध्ययन के व्यसन में ही न फंसा रहे, क्योंकि इस से वाणी, बुद्धि आदि का वृथा श्रममात्र होता है, परमलक्ष्य की सिद्धि कदापि नहीं होती।

६. शास्त्र-वासना

आजकल यह भ्रान्ति बहुत फैल गई है, जिसके कारण कुछ लोग इस मिथ्या धारणा में पड़े हुए हैं कि केवल शास्त्रविचार से ही उन्हें परमलक्ष्य की सिद्धिहो जाएगी। इस मोह, प्रमाद तथा आलस्य के वश हो कर वे लोग योगादि अन्य सहकारी तथा अत्यन्त उपयोगी साधनों से उदासीन हो जाते हैं। कभी-कभी यह शास्त्राभ्यास मोह के कारण शास्त्र-वासना का रूप धारण कर लेता है। शास्त्र का अध्ययन भी धन आदि की भांति एक स्वतन्त्र इच्छा, तृष्णा तथा साध्य बन जाता है, जिसकी पूर्ति कभी नहीं होती। उसकी पूर्ति हो भी कैसे सकती है? तृष्णा तो तृष्णा ही है, जिसका स्वरूप ही यह है कि वह

भोग प्राप्ति से बढ़ती है, घटती नहीं। श्रवण और मनन निःसन्देह ब्रह्म की प्राप्ति का एक परमोपयोगी साधन हैं, परन्तु ये साध्य तो नहीं हैं। अतः इसकी वासना भी परमलक्ष्य में प्रतिबन्धक है। इसका तो "कण्टकेन कण्टकम्" न्याय से ही उपयोग है। कांटा तो कांटा ही है। इस कांटे का यथार्थ उपयोग तो इतने तक ही है कि दूसरे कांटे को निकाल कर इसको भी फेंक दिया जाए, न कि इस कांटे से मोह करके इसको ही उद्देश्य बना लिया जाए और यही फिर मनुष्य को चुभने लगे। यही अवस्था शास्त्र-वासना की है। इसी शास्त्र-वासना की भ्रान्ति की चेतावनी के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् का वचन है :—

या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ बृ० ३,५,१

कुषीतक के पुत्र कहोल के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है। अर्थात् एक लोकैषणा ही है जो कि साध्यरूप है, दोनों बाकी एषणाएं (पुत्रैषणा और वित्तैषणा) साधन के रूप से हैं। इसलिए ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) पाण्डित्य (आत्म-विज्ञान) को पूर्ण रूप से जानकर ज्ञान-बल के भाव से स्थिति की इच्छा करे। ज्ञान-बल के भाव तथा पाण्डित्य (आत्म-ज्ञान) को भली प्रकार जान कर ही मुनि (योगी) होता है। आत्म-ज्ञान तथा अनात्म में आत्म-ज्ञान के मिथ्या ज्ञान तथा अनात्म-ज्ञान के नाश के फल को जान कर ही ब्राह्मण (कृतकृत्य) होता है। वह ब्राह्मण किस आचरण से होता है वह उपर्युक्त प्रकार के आचरण से ही होता है। उस से भिन्न विनाशी है। याज्ञवल्क्य से इतना सुनने पर कहोल चुप हो गये।

अर्थात् शास्त्र द्वारा तत्त्व के निर्णय मात्र से जिज्ञासु ब्राह्मण ब्रह्म-पद अथवा ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता, परन्तु बल अर्थात् अविचल धैर्य से अखण्ड, अद्वितीय आत्मस्वरूप के बोध द्वारा प्राक्तन अज्ञान-जन्य वासना तथा प्रवृत्ति का निरोध करना होता है, तभी ज्ञान तथा निष्ठा दृढ हो सकती है और निरवच्छिन्न परम-रस की अनुभूति हो सकती है। इस प्रकार के संशय तथा विपरीत भावना—अनात्म भावना—से रहित दृढ, अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान और उस ज्ञान से उत्पन्न होने वाली परम रस की अनुभूति ही संसारवासना रूपी पाश और उसके मूल अज्ञानाध्यास को निवृत्त करने में समर्थ है। कोरा वाचक ज्ञान प्रायः अज्ञान और वासना की वृद्धि का कारण बन जाता है। विवेक चूडामणि में कहा है।

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥ वि० चू० २७१

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥ २७४

वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा।
मलिना जन्महेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ॥

अनात्मा में आत्माध्यास के तीन भेद हैं:—

१. लोकाध्यास—लोकनिन्दा-स्तुति से अपने आप को बड़ा छोटा समझना, अथवा इहलोक तथा परलोक के भोगों में आस्था तथा आसक्ति तथा अपने आप को इन भोगों के कारण सुखी-दुःखी मानना, अर्थात् लोकोक्त गुण-दोष (निन्दा-स्तुति) को अपने में आरोप करना कि ये गुण-दोष सचमुच मुझ में हैं। अथवा इहलोक तथा परलोक के भोगों का स्वामी तथा उनके भोग से प्राप्त होने वाले सुखों व दुःखों से अपने आप को सुखी व दुःखी समझना और गुण-दोष, सुख-दुःख रहित निर्विकार सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल जाना।

२. देहाध्यास—देह को अपना आपा मान कर, देह के गुणों—गौर श्याम, लम्बा छोटा, अमु का पुत्र तथा पुण्य पाप आदि—को अपने में आरोप करना और इनकी वृद्धि-हानि में हर्ष-शोक अनुभव करना। देह के तीन भेद हैं—(१) स्थूल देह—जिसका माता पिता से जन्म होता है। (२) सूक्ष्म देह—५ प्राण, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ बाह्यज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण-चतुष्टय अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। (३) कारण शरीर—जो सूक्ष्म शरीर का कारण होने से कारण शरीर कहलाता है जिसमें सूक्ष्म शरीर गाढ निद्रा की अवस्था में लीन हो जाता है। इन तीन देहों में अभिमान के कारण इनके गुण तथा धर्मों को अपने आप में मानता है।

३. शास्त्राध्यास—आस्तिक की स्थिति के अनुसार शास्त्र में ऐसा वर्णन आता है कि जीव स्थूल देह से भिन्न एक नित्य पदार्थ है। जो देह के नाश तथा उत्पत्ति से नष्ट तथा उत्पन्न नहीं होता, जो अपने कर्मानुसार संसार-चक्र में भ्रमण करता रहता है, ऊँच-नीच योनि को प्राप्त हो कर अनेक सुख-दुःख भोगता है। जीव जब संसार-चक्र में दोष देखता है, तब शास्त्र उसको निष्कामकर्म, भक्ति अथवा ज्ञान का उपदेश करता है। इन उपर्युक्त शास्त्रोक्त गुणों को अपने में आरोप कर तदनुसार व्यवहार में जन्म जन्मान्तर में संलग्न रहता है।

इसलिए विवेक चूडामणि के उपर्युक्त श्लोक में यह आदेश है कि मनुष्य को निज-अध्यास (भ्रान्ति अज्ञान) की निवृत्ति के लिए, उपर्युक्त तीन प्रकार की भ्रान्तियों को शास्त्र तथा आचार्य के आत्मस्वरूप उपदेश के निरन्तर चिन्तन द्वारा दूर करना चाहिए। (२७१)

क्योंकि मनुष्य उपर्यु तीन प्रकार के अध्यास के कारण तीन वासनाओं से बंधा हुआ है, जिसके कारण आत्म-विषयक यथार्थ ज्ञान (आत्मा उपर्युक्त तीन

अनात्मपदार्थों से भिन्न एकरस, नित्य है) को भूला रहता है। इन वासनाओं का जीवन्मुक्ति-विवेक के वासना-क्षय प्रकरण में विस्तार से निरूपण है। वासना के दो भेद हैं— (१) शुद्ध वासना—जो स्थूल देह के निर्वाह मात्र का हेतु है। जिसके आधार पर शास्त्र के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा स्वरूपस्थिति तथा पर-तत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त होने से मनुष्य जन्म-मरण रूपी चक्र से मुक्त हो कर मानो निज सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। (२) शास्त्रवासना—उस ग्रन्थ में शास्त्रवासना का भी निम्न रीति से विस्तार पूर्वक विवेचन है:—

शास्त्र-वासना के भी तीन भेद हैं:—

(१) पाठ-व्यसन—भारद्वाज की पाठ वासना का वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है कि भारद्वाज को वृद्धावस्था में वेद अध्ययन करते समय इन्द्र के दर्शन हुए। उन्होंने इन्द्र से वर मांगा कि उनकी आयु १०० वर्ष हो जाए जिससे कि वह शेष वेद का अध्ययन कर सकें। इन्द्र तथास्तु कह कर अन्तर्धान हो गये। १०० वर्ष भी बीत गये, परन्तु भारद्वाज की पाठवासना पूर्ण नहीं हुई, क्योंकि वेद फिर भी समाप्त नहीं हुए। पुनः इन्द्र से १०० वर्ष आयु का वर मांगा। इस प्रकार तीन वार वर प्राप्त कर लेने पर भी, वह वेद को समाप्त नहीं कर सके और यह पाठवासना उनकी शान्त नहीं हुई। पाठ का पूर्ण न होना तथा वासना का तृप्त न होना ही इस वासना की मलिनता है। चतुर्थ वार इन्द्र को भारद्वाज के पाठवासनारूपी मोह के कारण उस पर दया आई इसलिए इन्द्र ने भारद्वाज को चेतावनी दी तथा सगुणब्रह्मोपासना का उपदेश किया और शास्त्र-पाठ से निवृत्त किया।

(२) बहुशास्त्र-व्यसन—बहुशास्त्र श्रवण तथा मनन मात्र से परमपुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। इसी कारण से यह वासना भी मलिन है। दुर्वासा मुनि की बहुशास्त्र-वासना का वर्णन कावषेय गीता में इस प्रकार है कि दुर्वासा मुनि पुस्तकों के अनन्तभार को साथ लिए हुए महादेव के पास नमस्कार के लिए गये। वहां नारद ने उनकी उपमा भार-वाही गर्दभ से दी तो दुर्वासा ने इस से अत्यन्त कुपित होकर सम्पूर्ण पुस्तकों को समुद्र में फेंक दिया। तब महादेव ने दुर्वासा को आत्मविद्या में प्रवृत्त किया। अन्यत्र भी कहा है:—चार वेदों तथा अन्य धर्मशास्त्रों का अध्ययन करने पर भी यदि ब्रह्मतत्त्व को नहीं समझा तो ऐसे अभागे मनुष्य के लिए शास्त्राध्ययन निरर्थक, श्रम मात्र है। जैसे कड़छी दिन रात अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों में घूमते रहने पर भी उनके रस से वञ्चित है, ऐसे ही यह मलिनबुद्धि मनुष्य भी विद्या के फलस्वरूप परम रस से वञ्चित रहता है। इस विषय में छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत नारद सनत्कुमार संवाद भी विशेष मनन के योग्य है।

(३) अनुष्ठान-व्यसन—निदाघ के अनुष्ठानव्यसन का विष्णु पुराण में वर्णन है। यह वासना भी पुनर्जन्म का हेतु होने से मलिन तथा त्याज्य है।

चौथा अध्याय समाप्त।

पांचवां अध्याय

मनन—(तर्क)

१. ब्रह्मविद्या के अंगों में विरोध के परिहार की आवश्यकता

संसार में जीवन और मृत्यु दोनों दिखाई देते हैं। जीवन का आधार परस्पर सहकारी द्रव्यों का उपयुक्त सहयोग है, और इनका पृथक् पृथक् हो जाना, संघर्ष विरोध तथा मृत्यु का कारण है। प्रत्येक व्यक्ति, संसार तथा संसार के भिन्न २ क्षेत्रों में जब भिन्न २ शक्तियों का सहयोग होता है, तब व्यक्ति, संसार तथा संसार के भिन्न २ क्षेत्रों में जीवन-धारा का विकास और वृद्धि दिखाई देती है। कभी कभी इस के विपरीत सहकारी अंगों में सहयोग के स्थान में संघर्ष की वृद्धि होती है, जिसका परिणाम व्यक्ति आदि का ह्रास तथा नाश होता है। वैयक्तिक, सामूहिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में संहार का यही कारण होता है। जैसे आजकल भिन्न २ देशों तथा जातियों में सहयोग का अभाव तथा संघर्ष की वृद्धि हो रही है, जिसका परिणाम नाश स्पष्ट दीख रहा है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र ब्रह्मविद्या के सहयोगी अंगों में प्रभुत्व के लिए परस्पर कलह, क्लेश, संग्राम हो रहा है। धर्म, भजन, शास्त्र, योग तथा मनन, तर्क, बुद्धिस्वातंत्र्य में इस समय सहयोग नहीं है। प्रत्येक एक दूसरे का तिरस्कार, खण्डन, विरोध तथा निरादर करने का भरसक प्रयत्न कर रहा है। किसी को एक दूसरे का विश्वास नहीं रहा। उपर्युक्त योग के अङ्ग उचित सहयोग से एक दूसरे की अपूर्णता को दूर करके परस्पर उपयोगी सिद्ध नहीं हो रहे, वरन् एक दूसरे से शत्रु की भांति असहयोग की नीति का आचरण कर रहे हैं। आध्यात्मिक उन्नति के लिए यह शुभ चिह्न नहीं है। ये सब के सब ब्रह्मविद्या के परस्पर सहयोगी अङ्ग हैं। किसी को एक दूसरे से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। इन सब का एक ही लक्ष्य परमतत्त्व का अन्वेषण करना है। कोई भी मनुष्य स्वतन्त्र रूप से एक साधन द्वारा परमहित के साधन में समर्थ नहीं हो सकता। उसे सब का यथोचित आदर तथा अनुष्ठान करना पड़ता है।

२. ब्रह्मविद्या में मनन का उचित महत्त्वपूर्ण कार्य

मनन—तर्क—का नितान्त निरादर श्रुतिसम्मत नहीं है।

श्रुति ही इस ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में परम प्रमाण है। उपर्युक्त पक्षपात से शून्य विवेचन तथा विचार के आधार पर यही निर्णय हो सका है कि श्रुति में अनन्य श्रद्धा होना आवश्यक है। परन्तु इसका अर्थ अंधविश्वास कदापि नहीं है। बुद्धि द्वारा विचार करना नास्तिकता नहीं है, प्रत्युत ईश्वरप्रदत्त बुद्धिरूपी शक्ति का उचित, मर्यादित उपयोग न करना ही नास्तिकता है। यही अन्ध परम्परा है। जो लोग निर्बल हैं, शिक्षा तथा विचार से शून्य हैं, वे ही अपनी अयोग्यता तथा त्रुटि को छिपाने के लिए ईश्वरीय प्रसाद बुद्धि के निरादर को साधन बनाते हैं। वे लोग ही श्रद्धा का दुरुपयोग युक्तिरूप से करते हैं। निस्सन्देह अद्वितीय आत्मतत्त्व वाङ्मनसागोचर

है। यह मति (अद्वैत आत्मतत्त्व की अदम्य आकांक्षा, जिज्ञासा तथा बोध) शुष्क तर्क द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती (कठ)। यह तत्त्व औपनिषद (उपनिषद्-गम्य) है। उपनिषद्—श्रुति—के बिना अन्य किसी प्रमाण से स्वतन्त्रतया इसका बोध नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त सर्वश्रुति-सम्मत है और अभिमान से शून्य मानवी बुद्धि श्रुति के वास्तविक तात्पर्य को ग्रहण कर सकती है। परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि युक्तिसंगत नहीं हो सकता कि बुद्धि द्वारा विचार का इस क्षेत्र में कुछ उपयोग ही नहीं है। और बुद्धि द्वारा किसी प्रकार की शंका या ऊहापोह करना ही इस क्षेत्र में कुफ्र (नास्तिकता—दण्डनीय) है। यदि यही सिद्धान्त स्थिर कर लिया जाए, तो फिर प्रत्येक वचन तथा किसी प्रकार का भी अनुभव प्रमाणित हो सकता है, और मनुष्य को परस्पर विरोधी घटनाएं और अनुभव मान लेने पड़ते हैं। श्रुति द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को ही जिस किसी प्रकार से इस बुद्धि द्वारा ही समझना है। अतः बुद्धि का नितान्त निरादर श्रुति को कभी सम्मत नहीं हो सकता। इसी लिए बृहदारण्यक के प्रसिद्ध वचन में श्रवण के अनन्तर मनन को स्थान दिया गया है। ऊहापोह में समर्थ बुद्धि के बिना श्रुति-प्रतिपादित तत्त्व को याथातथ्य रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। मनुस्मृति में आया है:—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ मनु० १२,१०५

जो धर्म का तत्त्व जानना चाहता है, उसे (धर्म—साधन—द्रव्य, गुण, जाति—के ज्ञान के लिए) प्रत्यक्ष और अनुमान को और (धर्म के स्वरूप के ज्ञान के लिए) आगम (अर्थात् वेद तथा वेदमूल स्मृति आदि) को भली प्रकार जानना चाहिए, अर्थात् मनु को भी धर्म तथा आत्मा के बोध के लिए ये तीन प्रमाण ही अभिमत हैं।

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ १२,१०६

जो (आर्ष) वेद, (धर्मोपदेश) वेदमूल स्मृति आदि को वेद अविरोधी तर्क (मीमांसा आदि न्याय) से विचारता है, वही धर्म को जानता है, अन्य कदापि नहीं।

३. छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र-विरोचन की गाथा

*इन्द्र तथा विरोचन दोनों क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह आदि से रहित सत्य संकल्प से युक्त हुए आत्म-तत्त्व के ज्ञान के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने सोचा कि आरम्भ में ही नित्य आत्म-तत्त्व का निर्देश कर देना इनके लिए उपयोगी नहीं होगा। सर्वसामान्य प्राकृत जन स्थूलतम देह को ही आत्मा समझते हैं। अतः इस देह को आत्मा मानने में दोष दिखा कर, इन अनात्मपदार्थों में आत्म-बुद्धि का निषेध करके, इनको शनैः शनैः यथार्थ आत्म-तत्त्व का उपदेश करना चाहिए। अथवा उनकी मानसिक स्थिति की परीक्षा करने के लिए प्रजापति ने उन दोनों से कहा कि दर्पण में देखो, जो

* छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ८, खण्ड ७—१२

कुछ उसमें दीखता है, वही आत्मा है। दोनों को दर्पण में अपनी देह का प्रतिबिम्ब दीखा। अतः उन दोनों ने देह को ही आत्मा समझा और घर को चल दिये। असुराधिपति विरोचन को, जिसकी बुद्धि मलिन थी, इसमें कुछ सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ। उसने घर लौट कर असुरों को उपदेश दिया कि यह देह ही आत्मा है। इसको सुन्दर वस्त्रों तथा आभूषणों से सजाना चाहिए। इन्द्र की बुद्धि सात्त्विक थी। उसने विचार किया कि इस देह में तो अनेक विकार हैं, अतः यह देह शोक, मोह आदि द्वन्द्वों से रहित, सत्य संकल्प आत्मा कैसे हो सकता है ? वह पुनः प्रजापति के पास लौट गया। इस प्रकार कई बार गुरु से उपदेश ग्रहण करके तथा उस पर निरन्तर मनन करने से वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान गया और कृतकृत्य हो गया। परन्तु विरोचन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से उपदेश ग्रहण कर लेने पर भी मलिन बुद्धि होने से ऊहापोह के अयोग्य तथा मनन में असमर्थ होने के कारण आत्मबोध से वञ्चित रहा। इसी उपनिषद् की गाथा के आधार पर सांख्यसूत्र की रचना हुईः—

नोपदेशश्रवणेऽपि कृत-कृत्यता परामर्शाद् ऋते विरोचनवत् ॥ सांख्य ४,१७

"केवल उपदेश श्रवण कर लेने से ही मनन के विना कृतकृत्यता नहीं होती जैसे विरोचन को नहीं हुई।"

स्थूल देह आदि अनात्मपदार्थों में आत्म-अध्यास अनादि काल से चला आरहा है, अतः एक बार के उपदेश से ही पुनः पुनः मनन किये विना आत्मा का ठीक बोध नहीं होता। उसके विषय में अनेक तर्क-वितर्कों का होना स्वाभाविक है, जैसे गाथा में वर्णित इन्द्र को हुआ। जिस किसी को तर्क-वितर्क किये विना ही यथार्थ बोध हो जाता है, उसके लिये यह समझना चाहिए कि उसने पूर्व अनेक जन्मों में श्रवण, मनन आदि साधन किये हैं और उन किये हुए साधनों के संस्कार ही इस समय होने वाले बोध के कारण हैं। ऐसा कोई विरला भाग्यवान् जिज्ञासु होता है। सामान्य जिज्ञासु को तो साधारणतया अनेक संदेहों का होना स्वाभाविक है। उन संदेहों को निवृत्त करने के लिए मनन के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। वे सामान्य मनुष्य, जिनको आत्मोपदेश-श्रवण के अनन्तर विरोचन की भांति कोई संदेह नहीं होता, उनकी बुद्धि अति तामसिक है। वे लोग इस उपदेश के अधिकारी नहीं हैं। वे उपदेश के अयथार्थभाव को ग्रहण करके उसी में सन्तुष्ट हो जाते हैं। उन्हें उपदेश का कुछ लाभ नहीं होता। इसीलिए कहा गया है:—

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभिः श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिर्मत्वा च सततं ध्येयः, एते दर्शनहेतवः इति।

"श्रुति युक्ति और अनुभूति द्वारा श्रुतिवाक्यों को सुनना चाहिए फिर युक्ति द्वारा उन का मनन करना चाहिए, मनन करके उसका ध्यान करना चाहिए, ये ही आत्मदर्शन के हेतु कहे गये हैं।

४. उपनिषदों में तर्क का उपयोग

उपनिषदों में भी आत्म-तत्त्व के स्वरूप के प्रतिपादन के संबंध में अनेक

युक्तियां मिलती हैं। छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में जब आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से पूछा कि क्या तुमने वह उपदेश ग्रहण किया है, जिससे न सुना हुआ—सुना हुआ, न विचारा हुआ—विचारा हुआ, न जाना हुआ—जाना हुआ हो जाता है। तब श्वेतकेतु ने पूछा कि भगवन् ऐसा कैसे हो सकता है ? तब उसके पिता ने कई दृष्टान्त इस सिद्धान्त की पुष्टि में उपस्थित किये हैं:—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् ।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ६,१,४

हे सौम्य ! जैसे (लोक में कमण्डलु, घट आदि के कारण भूत) एक ही मृत (मिट्टी) पिण्ड (के ज्ञान) द्वारा सम्पूर्ण (घट, कमण्डलु आदि) मृन्मय पदार्थों (विकारों) का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि (घट आदि) विकार तो नाम मात्र हैं, जिन का आलम्बन (आश्रय) वाणी है, अर्थात् घट आदि वाणी उच्चारित नाम से अतिरिक्त कुछ स्वतन्त्र सत्य नहीं है। सत्य तो केवल मृत्तिका ही है, अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से घट आदि अपने कारण मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण (कार्य) जगत् अपने कारण ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है, अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से जगत् ब्रह्ममात्र ही है। जगत् ब्रह्म स्वरूप ही है, अतः ब्रह्मज्ञान से सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान हो जाता है।

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात् ।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ६,१,५

हे सौम्य ! जिस प्रकार एक सुवर्ण के ज्ञान से सम्पूर्ण (कटक, कुण्डल आदि) सुवर्णमय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि विकार वाणी पर अवलम्बित नाम मात्र हो है, सत्य केवल सुवर्ण ही है, ऐसे ही सम्पूर्ण (ब्रह्म विकार) जगत् का ज्ञान (जगत् के कारण) ब्रह्म के ज्ञान से हो जाता है।

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात् ।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवं सोम्य स
आदेशो भवतीति ॥ ६,१,६

हे सौम्य ! जिस प्रकार एक नखकृन्तन (नाखून काटने वाले शस्त्र) के ज्ञान से संपूर्ण लोहे के पदार्थ जान लिए जाते हैं, क्योंकि विकार वाणी पर अवलम्बित केवल नाम मात्र है, सत्य केवल लोहा ही है। हे सौम्य ! ऐसा ही वह आदेश है।

५. श्रुति के तात्पर्य-निर्णायक षड्-लिङ्गों में उपपत्ति की गणना

श्रुति के तात्पर्य का निर्णय भी उपपत्ति—युक्ति—के विना नहीं हो सकता। इसलिए जिन लिङ्गों से श्रुति के तात्पर्य का निर्णय किया जाता है वे इस प्रकार हैं:—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्तिश्च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

१. "उपक्रम (आरंभ) २. उपसंहार ३. अभ्यास ४. फल की अपूर्वता ५. अर्थवाद और ६. उपपत्ति—इन छः लिंगों से ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय हो सकता है।"

(१) उपक्रम तथा (२) उपसंहार अर्थात् शास्त्र अथवा प्रकरण के आरम्भ और अन्त में जिस विषय का वर्णन है (३) अभ्यास अर्थात् युक्ति द्वारा पुनः पुनः क्या सिद्ध करने की चेष्टा की गई है (४) अपूर्वता अर्थात् शास्त्र का विषय-तात्पर्य अपूर्व होना चाहिए, जिस विषय का शास्त्रभिन्न किसी अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से ज्ञान न हो। फल अर्थात् शास्त्र अथवा उपदिष्ट विषय का फल—प्रयोजन—क्या है (५) अर्थवाद अर्थात् किसकी प्रशंसा शास्त्र में पायी जाती है (६) उपपत्ति शास्त्रोक्त युक्तियां किस विषय को सिद्ध करती हैं।

श्रुति को अपूर्व तथा परम प्रमाण मान लेने पर भी मनुष्य ने तो इसके तात्पर्य को अपनी बुद्धि से ही ग्रहण करना है। ऐसा हो सकता है कि किसी एक वाक्य के आपाततः कई अर्थ प्रतीत हों। उस समय, कौन सा अर्थ उपादेय है और कौन सा हेय, या कौन सा अर्थ श्रुति के अभिप्रेत वास्तविक तात्पर्य को प्रकट करता है, इत्यादि निर्णय मानवीय बुद्धि को अपने विचार द्वारा ही करना पड़ेगा। यह भी सत्य है कि सामान्य मनुष्य का इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। उन दिव्य तथा सूक्ष्मबुद्धिसम्पन्न ऋषियों के वचन ही इस विषय में प्रमाण हो सकते हैं, जो श्रुति के मर्म को भली प्रकार गुरुपरम्परा से षडंगों सहित तथा योगादि साधनों से विभूषित होकर जानते थे। परन्तु, ऋषियों ने तात्पर्य का निर्णय विचार आदि द्वारा किया है। सामान्य अधिकारियों को ऋषियों द्वारा प्रकाशित अर्थ को अपनी बुद्धि के आधार पर ही ग्रहण करना होता है, इसके अतिरिक्त और मार्ग ही कौन सा है? इसी लिए पूर्व-मीमांसा आदि ग्रन्थों में उपर्युक्त ६ लिङ्गों द्वारा शास्त्रतात्पर्य के निर्णय करने की विधियों का विस्तार किया है। इसलिए उपपत्ति (युक्ति, तर्क तथा विचार) के विना श्रुति के तात्पर्य का निर्णय कर सकना असंभव है।

६. बुद्धि का कार्य

बुद्धि का यह कार्य है कि जब उसके सम्मुख दो पृथक्-पृथक् विचार या घटनाएं अथवा अनुभूतियां उपस्थित हों, तब वह उनको तोल, माप कर निश्चय करे कि क्या इन दो में किसी प्रकार का सम्बन्ध है या नहीं? क्या इन दो को आपस में मिलाने वाला कोई तन्तु विद्यमान है या नहीं? क्या ये दोनों आपस में भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं? स्वतन्त्र होने पर भी क्या ये सर्वथा असम्बन्धित हैं (जो इस जगत् में असंभव है)। यह तो उस बुद्धि को निर्णय करना होगा कि इन दो अनुभूतियों में क्या कोई विरोध है? क्योंकि यदि उन दोनों में विरोध है, तो उन दोनों को सत्य नहीं माना जा सकता। उस विरोध के कारण दो में से एक तो स्वतः ही असत्य सिद्ध हो जाती है। अथवा उनमें से एक विचार या अनुभूति के स्वरूप को इस प्रकार परिवर्तित करना होगा कि जिससे वह विरोध दूर हो जावे। यह भी हो सकता है कि जो विरोध दीख रहा है वह प्रतीति ही भ्रान्तिजन्य हो। कुछ भी हो, जिस किसी प्रकार भी इस विरोध का परिहार करना ही होगा। मानवीय बुद्धि का स्वभाव है कि वह दो सत्य विचारों या घटनाओं में परस्पर विरोध को सहन नहीं कर सकती। बुद्धि इस माप, तोल या निर्णय करने के

अपने स्वभाव को छोड़ नहीं सकती। वह बिल्कुल जड नहीं बन सकती। यह हो सकता है कि उसका निर्णय सत्य हो या भ्रान्त, परन्तु निर्णय वह अवश्य करेगी। घटनाएं जो हो रही हैं वे बुद्धि के माप तोल से स्वतन्त्र ही माननी पड़ेगी। घटनाओं के स्वरूप के बोध में बुद्धि को असाधारण कारण नहीं माना जा सकता, परन्तु इस बोध को मापना तोलना, जांचना बुद्धि का कार्य है। जब तक बुद्धि का अस्तित्व है, वह अपने इस स्वभाव को अग्नि के जलाने के स्वभाव की भांति नहीं छोड़ सकती। इसको छोड़ कर मनुष्य सामान्यतया मनुष्य नहीं रह सकता। श्रुति में परम आदर और श्रद्धा रखते हुए भी जब कभी श्रुति के वाक्यों के आपाततः गृहीत अर्थों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, तो बुद्धि का यह आक्षेप तो यथार्थ और अनिवार्य होता है कि ये दोनों अर्थ ठीक नहीं हो सकते। इन दो अर्थों में से किसी एक अर्थ को परिवर्तित करना चाहिए अथवा इस विरोध का किसी प्रकार परिहार करना चाहिए। मानवीय बुद्धि को इस प्रकार के प्रश्न करने का अधिकार है और श्रुति इसका कदापि निरादर नहीं करती। अन्यथा एक ही श्रुतिवाक्य के अनेक मनमाने अथ किये जा सकते हैं, और ऐसा होने पर श्रुति अपने प्रमाणत्व को ही खो बैठेगी। अतः परस्पर विरोध का विवेचन तथा संगति का अधिकार बुद्धि को देना ही पड़ेगा। जैसे बुद्धि रूप के विषय में कुछ नहीं कह सकती, क्योंकि रूप में प्रमाण तो चक्षु ही है परन्तु दो रूपों के परस्पर विरोधी होने पर वह चक्षु आदि पर आक्षेप कर सकती है। ऐसे ही श्रुति में परस्पर विरोध होने पर वह इस समस्या का उत्तर मांग सकती है। इस रूप से बुद्धि, युक्ति, तर्क आदि श्रुति के सहकारी होते हैं। बुद्धि श्रुति-विषयक भ्रान्ति का निवारण करती है। अन्यथा श्रुति भ्रांतियुक्त बोध का जनक होने से स्वयं अप्रमाण तथा अनर्थ का हेतु बन जाती है। इस कसौटी के आधार पर ही परस्पर विरोधी प्रामाणिक ग्रन्थों की तुलना तथा हेय उपादेय का निर्णय हो सकता है। और अनेक वचनों में जब भिन्न-भिन्न परस्पर अविरोधी अर्थों का प्रतिपादन हो तब उनमें कौनसा गौण और कौनसा मुख्य है अथवा भिन्न-भिन्न तात्पर्यों का क्या मूल्य है—यह सब बुद्धि की सहायता के विना नहीं हो सकता। अतः श्रुति में तथा तर्क और युक्ति के इस स्वभावसिद्ध अधिकार में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, अपितु युक्ति तथा तर्क श्रुति की सहायता करते हैं, यह उपर्युक्त विचार से स्पष्ट है और इस सहायता की श्रुति को महती अपेक्षा है।

परन्तु यही बुद्धि जब अपने इस क्षेत्र का उल्लङ्घन करके वाङ्मनसागोचर अद्वैत तत्त्व प्रतिपादक अपूर्व श्रुति तथा श्रुति प्रतिपादित मार्ग के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई अनुभूति के विषय में अपनी कल्पनाओं को ही परम सत्य कहती है और स्वतन्त्र रूप से स्वयं इस तत्त्व को प्रतिपादन करने की चेष्टा करती है, तब वह बुद्धि श्रुति से उसके इस अपूर्व अधिकार को छीन लेती है। यह इसकी अनधिकार चेष्टा है। ऐसा करके यह बुद्धि अपनी सामर्थ्य के विषय में स्वयं भूल करती है। यह परस्पर का विरोध ही हानिकारक है और मनुष्य जाति का अनिष्ट करने वाला है। जैसे बुद्धि तथा चक्षु के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, ये दोनों अपने कार्य-क्षेत्र को उल्लङ्घन करके एक दूसरे के असाधारण कार्य का सम्पादन नहीं कर सकते, इनका आपस का सहयोग ही इष्टप्रद है, इसी प्रकार सामान्य तर्क-वितर्क, युक्ति, बुद्धि, श्रुति तथा दिव्यानुभूति का भी उचित सहयोग ही श्रेयस्कर है। मोह, अविवेक तथा अभिमान के वश यदि इनमें से कोई एक या सभी एक दूसरे को उसके असाधारण क्षेत्र से निकाल

कर अपने आप उसका स्थान लेने की चेष्टा करें, तो यह अव्यवस्था की स्थिति मनुष्य के परमध्येय के लिए विष के समान नाशकारी सिद्ध हो सकती है।

७. योग-अनुभूति तथा तर्क

ऊपर जो कुछ मनुष्य जाति के श्रेय के लिए श्रुति तथा युक्ति (तर्क) के सहयोग के विषय में कहा गया है, वही सब कुछ योग तथा तर्क के विषय में भी सत्य है। दोनों को अनुचित अभिमान त्याग कर परस्पर सहायता लेनी तथा देनी चाहिए। तभी दोनों निर्भ्रान्त हो सकते हैं और परमोन्नति लाभ करके मनुष्य जाति के ऐहिक तथा पारलौकिक हित का साधन बन सकते हैं। अन्यथा संघर्ष अनिवार्य है, जिससे मानवशक्ति का अपव्यय तथा विनाश अवश्यम्भावी है। इससे पूर्व भी योग के प्रकरण में इसका कुछ निरूपण हुआ है। बुद्धि का कार्य तुलना करना, अन्य असाधारण कारणों से प्राप्त अनुभूतियों का मिलान करना, उन अनुभूतियों में सम्बन्ध का निश्चय करना तथा परस्पर विरोध की परीक्षा करना, अथवा उनमें दीख रही किसी अपूर्णता—अवकाश—को कल्पना द्वारा पूर्ण करना है। बुद्धि का क्षेत्र किसी नई अनुभूति के विषय में सम्भावना के स्थापन मात्र से अधिक नहीं है, अर्थात् बुद्धि केवल इतना संकेत कर सकती है कि ऐसी अनुभूति का हो सकना संभव है, इससे अधिक इसका कार्यक्षेत्र नहीं है।

श्रुति की सहायतापूर्वक किये गये योग अथवा दिव्यानुभूति का क्षेत्र सूक्ष्म जगत् अथवा सूक्ष्मतम, सर्वाधार, अद्वितीय आत्मतत्त्व है। अन्य सभी चक्षु, बुद्धि आदि असाधारण कारण इस क्षेत्र में कुण्ठित हो जाते हैं। उनकी पहुंच यहां पर नहीं होती, जैसे चक्षु की श्रवण क्षेत्र में। इस क्षेत्र में योगानुभूति का ही प्रवेश है। जैसे चक्षु तथा श्रवणादि इन्द्रियां अपने रूप तथा शब्दादि क्षेत्रों में असाधारण कारण हैं, वैसे ही योग इस सूक्ष्म जगत् के क्षेत्र में असाधारण कारण है। परन्तु असाधारण कारण होते हुए भी यह सर्वथा तथा सर्वदा निर्भ्रान्त नहीं है। जैसे चक्षु आदि इन्द्रियां अपने अपने क्षेत्रों में असाधारण कारण होती हुई भी कई अन्य कारणों से परिणामों में दोषयुक्त हो सकती हैं, इसी प्रकार योग की अनुभूति का भी अधीरता, अपूर्णता आदि दोषों के कारण भ्रान्त होना संभव हो सकता है। कहीं कहीं अन्य कारणों से प्राप्त होने वाली अनुभूतियों तथा योग से प्राप्त होने वाली अनुभूतियों में परस्पर विरोध भी हो सकता है, या कभी कभी योग द्वारा ही प्राप्त दो अनुभूतियों में परस्पर विरोध हो सकता है, जो उनमें से एक के मिथ्या होने का सूचक है। अथवा इस शक्ति के विकास में भी तारतम्य हो सकता है, जिसके कारण विशेष-विशेष अनुभूतियों को प्राप्त करने में सामर्थ्य का अभाव हो सकता है। अतः इस क्षेत्र में भी सतर्क होने की आवश्यकता है। किसी यौगिक अनुभव को केवल इसीलिए सत्य तथा निर्भ्रान्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह यौगिक है और इसमें तर्क या विचार को यत्किञ्चित् भी हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। चाहे यह तर्क तथा विचार स्वतन्त्रतया अद्वैत, आत्मतत्त्व अथवा सूक्ष्म जगत् के विषय में कुण्ठित हो जाता है परन्तु भिन्न-भिन्न यौगिक अनुभूतियों के उपस्थित होने पर उनके परस्पर विरोध आदि के तुलनात्मक विवेचन करने की सामर्थ्य तो इसमें रहती ही है। बुद्धि

योग की अनुभूतियों के तारतम्य आदि का निर्णय करने में सहायता कर सकती है। यद्यपि बुद्धि योग की अनुभूतियों के भ्रान्त या सत्य होने का अपने आप निर्णय करने में असमर्थ है, तो भी इसको इतना अधिकार तो है कि वह उन अनुभूतियों के वास्तविक होने में सन्देह कर सके। और यह सन्देह फिर उन योग की अनुभूतियों की पुनरावृत्ति करके उनके मार्जन करने का साधन बनता है।

इस प्रकार योगानुभूति को शुद्ध तथा निर्भ्रान्त बनाने में बुद्धि का (तर्क-युक्ति का) प्रशंसनीय तथा आदरणीय स्थान है। यह सहयोग तो योग को इसका लेना ही चाहिए। योगी को अपने योगाभिमान को त्याग कर अपने श्रेय के लिए अवश्य इस प्रकार के तर्क का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। नहीं तो इस वृथाभिमान का फल उसे अवश्य भोगना पड़ेगा। कई यौगिक अनुभूतियां ऐसी होती हैं, जिनमें योगी के अपने संस्कार, कल्पना तथा समय, देशादि के प्रभाव होते हैं। किसी सामान्य अनुभव के आधार पर इन प्रभावों को पृथक् कर सकने का कोई स्थिर नियम निश्चित नहीं किया जा सकता। कई बार एक ही अनुभव का चिरकाल तक अभ्यास करते रहने से यौगिक शक्ति का मार्जन तथा विकास होता है और उस अनुभव में ही कई प्रकार का परिवर्तन होता रहता है और संकेत तथा भाव पृथक् हो जाते हैं। किसी विशेष अनुभूति का सामान्य भाग ही चिर-काल तक प्रत्यक्ष होता रहता है। अथवा कुछ थोड़े एक प्रकार के अनुभव के पश्चात् कोई और ही चक्कर आरंभ हो जाता है, पुनः पुराने चक्कर की बारी आती है। इन सब को यथास्थान औचित्य तथा महत्त्व देने के लिए जहां बहुत धैर्यपूर्वक साधना को दीर्घ काल तक, बिना किसी विघ्न तथा प्रलोभन के जारी रखना जरूरी है, वहां गम्भीर विचार भी इनके याथातथ्य विश्लेषण के लिए आवश्यक है। इस वाङ्मनसागोचर तत्त्व के क्षेत्र में अपने अभिमान के वश हो कर अपनी अनुभूति को ही झट सर्वथा प्रामाणिक अथवा अन्तिम परम प्रमाण मान लेना ही सामान्यतया भूल है। अन्य अभ्यासियों के अनुभवों को यथासंभव उचित स्थान देने तथा विशाल विचार द्वारा इन सब अनुभूतियों का शास्त्र की सहायता से अन्तिम निर्णय करने से परम इष्ट की सिद्धि हो सकती है। अध्यात्म सूक्ष्म जगत् और उसका मार्ग स्थूल जगत से कम नहीं, अतः इस मार्ग के विषय में भी श्रुति, विचार तथा परस्पर परामर्श की अनिवार्य आवश्यकता है। जिस प्रकार श्रुति-सम्मत विचार शास्त्र के विषय में आवश्यक हैं, उसी प्रकार का विचार योग के विषय में भी अत्यन्त उपयोगी तथा अवर्जनीय है।

८. मनन में संवाद का महत्त्व

एक व्यक्ति के विचार तथा अनुभव में भ्रान्ति और दोष होने की बहुत सम्भावना है। इसलिए इनके परिमार्जन के लिए संवाद आदि उपादेय हैं:—

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः। न्याय ४,२,४७

तत्त्व ज्ञान की सिद्धि के लिए अध्यात्म विद्या शास्त्र—न्याय शास्त्र—का अध्ययन और धारणा रूप ग्रहण, तथा (वाक्य) अध्ययन, श्रवण (वाक्यार्थ अध्ययन) और चिन्तन (मनन) रूप अभ्यास करना चाहिए और संशय के नाश, अविज्ञात अर्थ के

बोध तथा सुनिश्चित आत्मा आदि के स्वरूप के विषय में दूसरों की सम्मति के लिए शास्त्र, पण्डितों तथा अपने सम विद्वानों के साथ मनन रूप संवाद करना चाहिए।

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात्। ४,२,४८

"पू सूत्र में वर्णित संवादरूप उपाय का ही यहां विशेष विशद निरूपण है। जिन विद्वानों के साथ उपर्युक्त सूत्र में संवाद करने के लिए कहा गया है, उनका विभाग करके दिखलाते हैं:—

असूयारहित तथा मोक्षाभिलाषी शिष्य, गुरु, सहपाठी तथा अपने से अधिक विद्वान् के साथ संवाद करे।

अतः अपूर्व श्रुति का मनन—तर्क—से कोई विरोध नहीं, प्रत्युत श्रुति के ग्राह्य और वास्तविक तात्पर्य के निर्धारण के लिए अथवा योगानुभूतियों के परिमार्जन तथा पूर्णता के लिए मनन-विचार का अनेक प्रकार से सहयोग अनिवार्य है।

६. ब्रह्मविद्या में मनन को श्रुति आदि की अपेक्षा

ऐसे ही इस बुद्धि-स्वातंत्र्य-युग में श्रुति तथा योग का निरादर करके मनन (तर्क-विचार-दर्शन) का सब क्षेत्रों में प्रभुत्व स्थापन करने की वर्तमान प्रवृत्ति न्याय-संगत नहीं है। पक्षपात-रहित विचार इसका समर्थन कभी नहीं कर सकता। तर्क तथा बुद्धि के कार्यक्षेत्र वा विवेचन ऊपर के भाग में तथा अन्य कई स्थलों में हो चुका है, अब फिर उसी को विस्तार से दोहराने की अपेक्षा नहीं है। साररूप से इतना ही कह देना पर्याप्त है कि बुद्धि का कार्यक्षेत्र अन्य साधनों द्वारा प्राप्त भिन्न २ घटनाओं और परिणामों में शृङ्खला की खोज करना, आपाततः प्रतीत होने वाली पृथक् २ घटनाओं में किसी उपयुक्त सम्बंध को स्थापित करना अथवा दो घटनाओं के विरोध को देखकर उन दोनों के प्रमाण होने में सन्देह करना है। अन्ततः बुद्धि के स्वाभाविक प्रयत्न इस संसार की पहेली के हल करने के लिए होते हैं। यह संसार-प्रवाह कहां से चला है? किधर जा रहा है? इस प्रवाह का आधार क्या है? लक्ष्य क्या है? ये सब प्रश्न तथा अनेक नित्य हो रही घटनाओं के परस्पर सम्बंध तथा नित्य नये आविष्कार इस बुद्धि को बाधित करते हैं कि वह इनका उचित समाधान ढूंढे। ये सब घटनाएं अकस्मात् विना कारण के हो रही हैं, यह उत्तर बुद्धि को स्थायी रूप से सन्तुष्ट करने में अपर्याप्त हैं। यह भी संभव है कि अनेक भूलों और भ्रमों के कारण चकरा कर कुछ काल के लिए यह बुद्धि इन प्रश्नों के समाधान की ओर से उदासीन हो जाए। परन्तु यह अपनी असमर्थता उसे हमेशा खटकती रहती है। ये प्रश्न त्यागे नहीं जा सकते, अतः पुनः बुद्धि को इस अदम्य जिज्ञासा को स्थान देना पड़ता है और इनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। संसार का धन, राज्यादि—वैभव तथा परिमित संसारक्षेत्र के भौतिक विज्ञानवाद के सिद्धान्त इसको सदा के लिए कदापि सन्तुष्ट नहीं कर सकते। इस अत्यन्त बहिर्मुखता प्रधान युग में भी कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन में यह जिज्ञासा बनी रहती है। जिज्ञासा तो जिज्ञासा ही है, इस पर किसी मर्यादा का अंकुश नहीं लगाया जा सकता। वह इन भौतिक आविष्कारों के पीछे मूल तत्त्व की झांकी निहारना

चाहती है । इसी जिज्ञासा का नाम विचार, दर्शन, संसार की पहेली और उसका हल है। परन्तु सामान्यतया बुद्धि का क्षेत्र अथवा सामर्थ्य भिन्न २ घटनाओं में शृङ्खला का अन्वेषण करना मात्र है। अतः संसार-चक्र को जड, आकस्मिक, निराधार, अव्यवस्थित, अस्त-व्यस्त न कह कर किसी सर्वाधार, सुव्यवस्थित, चेतन शक्ति को कल्पना करके ही यह शान्त हो सकती है । परन्तु इसका कार्यक्षेत्र यहीं तक सीमित है कि वह उस सत्ता को संभव मान ले। यह संभावना, कल्पना तथा अनुमान कर लेना ही उस का कार्य है। यह उस मूलतत्त्व के दर्शन वैसे नहीं कर सकती जैसे चक्षु से रूप का प्रत्यक्ष होता है । इसलिए इतना निश्चय कर लेने पर भी कि इस जगत् का मूल कारण और नियन्ता कोई चेतन सत्ता अवश्य है इसको पूर्णतया शान्ति नहीं होती । इस अदम्य जिज्ञासा की पूर्ति, जिस दिव्य शक्ति योग पर श्रुति से होती है, उसका निरादर करना मानों अपनी मौत आप खरीदना है । अथवा मृत्यु की अमोघ ओषधि अमृत को ठुकरा देना है । क्योंकि यही वे साधन हैं जो मानवीय बुद्धि की अन्तिम, सर्वोत्तम तथा अदम्य आकांक्षा के अपूर्ण उत्तर को पूर्ण कर सकते हैं । अर्थात् श्रुति तथा योग का सहयोग ही मनन रूपी बुद्धि शक्ति की अपूर्णता तथा दोष की निवृत्ति करता है। अतः इन में आपस में कोई विरोध नहीं है । ये दिव्य शक्तियां इसी बुद्धि का, परिमार्जित, विकसित दिव्य स्वरूप हैं । अपने स्वरूप से ही भीति तथा वृथा अभिमान का क्या लाभ है ? इस दिव्य ज्ञानचक्षु को अपनालेने में ही तर्क वितर्क रूपी बुद्धि की पूर्णता तथा मानव जाति का परमहित निहित है । इस लिए मनन, तर्क तथा मानवीय बुद्धि और श्रुति, योग तथा दिव्य बुद्धि को अभिमान, परस्पर के भय, विरोध तथा एक दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करने की मूढ चेष्टा को त्याग कर एक दूसरे को उचित सहयोग प्रदान कर परस्पर एक दूसरे को परिमार्जित तथा पूर्ण बनाना चाहिए । इस न्याय-युक्त सहयोग से ही मनुष्य का परमपुरुषार्थ सिद्ध हो सकता है ।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः ॥

तृतीय खण्ड समाप्त ।



सामान्यपदार्थ-सूची *

---

* निर्दिष्ट संख्या पृष्ठ की द्योतक है।



शुद्धिपत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
५	अविद्यामृत	अविद्याकृत
८	चतुर्परिमाण	चतुः परिमाण
१०	नियमानुभूत	निजानुभूत
१७	Thonght	Thought
१७	रूप	नहीं चाहिये
१७	अचिन्त्या खलु	अचिन्त्याःखलु
१८	सम्बध	सम्बन्ध
१९	में	नहीं चाहिये
२०	Psychlogy	Psychology
२२	के	की
२५	के	से
२७	स्वध्यायः	स्वाध्यायः
२७	वन	वन वन
३२	के	का
३४	दो	दूसरे
३४	लक्षणों	लक्षण
३५	अवश्यकता	आवश्यकता
४१	अथर्वण	आथर्वण
५५	आदि	आदि का
६३	चतुर्मास्य	चातुर्मास्य
६४	धन	घन
७७	को	के
८०	तुन्हारा	तुम्हारा
८३	भोग	योग
८४	देखो	नहीं चाहिए
९१	और परधर्म	नहीं चाहिये
९४	ज्ञानी	अज्ञानी
१०६	कर्मपरोपकार	कर्म तथा परोपकार
१०७	शुद्ध अवर	शुद्ध तथा अवर
१०९	उपर्युक्त	उपयुक्त
१०९	(गीता १०)	गीता(११,५३,५४)
११०	धर्म	कर्म
१२५	आत्मा में	नहीं चाहिए
१२५	कारणों	करणों
१२६	पूर्ण	पूर्व
१३६	में	से
१४२	अवेदहं	अवेदसहं
१४४, १५०	योग	भोग
१४९	काम दिया जावे	काम न दिया जावे
१५२	स्वीकार करना	स्वीकार न करना
१५३	योग-लालसा	भोग-लालसा
१५५	सी	सा
१५६	द्वारा	अनुसार
१७९	सुक्तिको०	मुक्तिको०
१८२	नार्हन्ति	नार्हतः
१८७	कमना	कामना
२१२	प्रश्वस	प्रश्वास
२३१	दुष्परिमाण	दुष्परिणाम



